

**DUE DATE SLIP**

**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

**KOTA (Raj.)**

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्री ॥

# हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

२८२

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

कविपरश्रोहस्तिमल्लविरचित

## विक्रान्तकौरवम्

‘प्रकाश’ हिन्दीअ्याख्योपेतम्

सम्पादकोऽनुवादकश्च

श्री पन्नालाल जैनः

साहित्याचार्य



चौरवम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी  
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी  
संस्करण : प्रथम, संवत् २०२५  
मूल्य : ६-००

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office  
Gopal Mandir Lane  
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,  
Varanasi-1 ( India )  
1969  
Phone : 3145

प्रधान शाखा  
चौखम्बा विद्याभवन  
चौक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१  
फोन : ३०७६

THE  
HARIDAS SANSKRIT SERIES

282

७२७७

# VIKRĀNTA-KAURAVA

OF

KAVIVARA HASTIMALLA

Edited with

*'Prakāśa' Hindi Commentary*

By

ŚRĪ PANNĀLĀL JAIN



THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1969

First Edition

1969

Price Rs. 6-00

*Also can be had of*

**THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN**

**Publishers and Oriental Book-Sellers**

**Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 ( India )**

**Phone : 3076**

## प्रस्तावना

अव्य और दृश्य के भेद से काव्य के दो भेद हैं। इनमें दृश्य काव्य शिचित्त अशिचित्त सभी के लिये आनन्ददायी होने से बहुत ही लोकप्रिय रहा है। दृश्य काव्य को अभिनय या रूपक कहते हैं। रूपक के शास्त्रकारों ने नाटक, प्रकरण, भाण्ड, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अड्ड, बीभी और प्रहसन इस प्रकार दश भेद निरूपित किये हैं। जनसाधारण में यह नाटक इसी एक नाम से व्यवहृत है। दृश्यकाव्य का विस्तृत वर्णन धनञ्जय के दशरूपक, तथा भारतीय नाट्यशास्त्र में मिलता है। पीछे चल कर विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में भी इसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। दृश्यकाव्य का समीचीन रूप से रसास्वाद करने के लिये नाट्यशास्त्रों का ज्ञान आन्श्यक है।

संस्कृतभाषा का नाटकसाहित्य विशाल है। महाकवि भास, कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण, मुरारि, विशालदत्त, शूद्रक आदि कवियों ने एक से एक बढ़ कर रचनाएँ प्रस्तुत कर संस्कृतसाहित्य के इस अङ्ग को सुविस्तृत किया है। दिगम्बर जैन परम्परा में हस्तिमल्ल ने भी 'विक्रान्तकौरव, मैथिली वर्याण, अञ्जनापवनञ्जय और सुभद्रा' इन चार नाटकों की रचना कर नाटकसाहित्य को श्रीवृद्धि की है। यहाँ इन चार नाटकों में से विक्रान्तकौरव पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हर्ष होता है विक्रान्त कौरव के अन्य नाम 'विक्रान्तकौरवीय' 'कौरवपौरवीय' और 'सुलोचना' नाम भी ग्रन्थकर्ता को इष्ट है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने प्रथम अङ्क के पुष्पिका वाक्य में 'विक्रान्तकौरवीय' द्वितीय अङ्क की पुष्पिका वाक्य में 'कौरव पौरवीय' और तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम अङ्क की पुष्पिका वाक्य में 'सुलोचना' नाम प्रकट किया है। षष्ठ अङ्क की पुष्पिका वाक्य में ग्रन्थ का नाम न देकर मात्र अङ्क का नाम दिया है।

### हस्तिमल्ल

दिगम्बरग्रन्थकारों में हस्तिमल्ल अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था। वे वत्सगोत्री ब्राह्मण थे। समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र के प्रभाव से प्रभावित हो उन्होंने सम्यग्दृष्टि होकर अनेकान्तमत को स्वीकृत किया था। ये दक्षिण भारत के निवासी थे। ब्रह्मसूत्र के 'प्रतिष्ठासारोद्धार' ग्रन्थ में किये हुए उल्लेख से सिद्ध होता है कि गोविन्द भट्ट पाण्ड्यदेश के गुडिपत्तन नामक नगर के रहने वाले थे। स्वर्णयन्त्री के प्रसाद से इनके छह पुत्र उत्पन्न हुए—१ श्री कुमार कवि २ सत्यवाक्य ३ देवरवल्लभ ४ उदयभूषण ५ हस्तिमल्ल और ६ वर्धमान। विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति से विदित होता है कि ये छहों पुत्र कवीश्वर थे।

विक्रान्तकौरव नाटक के कर्ता हस्तिमल्ल हैं। हस्तिमल्ल के सरस्वतीस्वयंवर वल्लभ, महाकवितल्लज और सूक्तिरत्नाकर ये विरुद्ध थे। राजावलीकथे के कर्ता ने उन्हें उभयभाषाचक्रवर्ती लिखा है। यहाँ उभयभाषा से कर्णाटक और संस्कृत भाषा समझना चाहिये। इन्हीं हस्तिमल्ल का कर्णाटक भाषा में लिखित एक आदिपुराण ग्रन्थ भी है उसकी पुष्पिका में उन्होंने स्वयं लिखा है—

‘हस्त्युभयभाषाकविचक्रवर्तिहस्तिमल्लावर्गचितपूर्वपुराणमहाकथायादशमपर्वः’ )।

पूर्वपुराण आदिपुराण का ही नामान्तर है।

हस्तिमल्ल न केवल कवि थे किन्तु हस्तियुद्ध में भी अत्यन्त निपुण थे। इन्होंने एक मत्त हाथी को वश करने के उपलक्ष्य में नाना कलाओं के सागर पाण्ड्यनरेश के द्वारा सभा में सत्कार प्राप्त किया था। इसका उल्लेख इसी विक्रान्तकौरव के प्रथम अंक के अन्त में स्वयं हस्तिमल्ल ने किया है यथा—

श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्ट-

प्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।

नानाकलाम्युनिधिपाण्ड्यमदेश्वरेण

श्लोकैः शतैः सदसि सङ्कृतवान् यभूव ॥ ४० ॥

श्रज्जना पवनज्जय के—

श्रीमत्पाण्ड्यमहीश्वरे निजमुजादण्डावलम्बोकृत  
कर्नाटावनिमण्डल पदनतानेकावनीशेऽपति ।  
तत्प्रीत्यानुसरन् स्वबन्धुनिवहेर्विद्वद्विराप्तैः सम  
जैनागारसमेतसततगमे श्रीहस्तिमल्लोऽवसत् ॥

इस उल्लेख से ऐसा मालूम होता है कि हस्तिमल्ल अपने बन्धुजनों के साथ जैनमन्दिरों से युक्त सततगम अथवा (पाठान्तर से) सततनम ग्राम में रहते थे और उस समय पाण्ड्यनरेश कर्नाटक देश की रक्षा करते थे। यह सततगम अथवा सततनम कौन स्थान है इसका निर्णय नहीं हो रहा है। संभव है कि यह गुडिपत्तन अथवा दीपगुडि का ही एक नाम हो।

हस्तिमुद्र की घटना सरयवापुर की है जैसा कि सुभद्रा में उल्लेख है—

सम्यक्त्वस्यपरीक्षार्थं मुक्तं मत्तमतज्जगम् ।

य सरयवापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तितः ॥

यह सरयवापुर कौन है इसका भी पता नहीं है। या तो यह सतत-गम का ही दूसरा नाम है या फिर पाण्ड्यनरेश किसी कारण से हस्तिमल्ल के साथ कहीं गये होंगे वहाँ की घटना होगी।

ब्रह्मसूरी ने अपने प्रतिष्ठासारोद्धार में हस्तिमल्ल के पिता गोविन्द भट्ट का निवासस्थान गुडिपत्तन बतलाया है। श्री प० के० मुजबर्ली शास्त्री के मतानुसार यह स्थान तञ्जौर का दीपगुडि नामक स्थान है जो पाण्ड्यदेश में है। इसी गुडिपत्तन का उल्लेख हस्तिमल्ल ने विक्रान्तकौरव की प्रशस्ति में दीपगुडि नाम से किया है। यथा—

श्रीमद्दीप गुडोशः कुशलवरचिन्तः स्थानपूज्यो वृपेश

स्याद्रादिन्यायचक्रेश्वरगजवशकुद्धस्तिमल्लाहुयेन ।

मद्यैः पञ्चैः प्रबन्धैर्नवरसमरितैराहतोऽयं जिनेश

पायात्र पादपीठस्थलविकटलमत्पाण्ड्यमौलिप्रमौषः ॥

कर्नाटकविचरित के कर्ता आर० नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १३४७ विक्रम संवत् निश्चित किया है जो कि ठीक मालूम होता है



क्योंकि अय्यपार्य नामक विद्वान् ने अपने जिनेन्द्रकल्याणभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ में लिखा है कि मैंने यह ग्रन्थ वसुनन्दि, इन्द्रनन्दि, आशाधर और हस्तिमल्ल आदि की रचनाओं का सार लेकर लिखा है और उक्त ग्रन्थ वि० सं० १३९६ में समाप्त हुआ है अतएव हस्तिमल्ल १३९६ वि० सं० से पूर्व हो चुके थे ।

अब तक हस्तिमल्ल के १ विक्रान्तकौरव, २ मैथिलीकल्याण, ३ अञ्जनापवनञ्जय और ४ सुभद्रा ये चार नाटक प्राप्त हुए हैं तथा चारों ही माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई से मूलरूप में प्रकाशित हो चुके हैं । इनके सिवाय १ उदयनराज २ भरतराज ३ अर्जुनराज और ४ मेघेश्वर इन चार नाटकों का उल्लेख और मिलता है । संभव है ये दक्षिण के भाण्डारों में विद्यमान हों ।

अय्यपार्य के उल्लेखानुसार हस्तिमल्ल का कोई प्रतिष्ठाग्रन्थ अवश्य होना चाहिये जिसका आधार अय्यपार्य ने अपने जिनेन्द्र कल्याणभ्युदय नामक प्रतिष्ठापाठ में लिया है । आगे के जैन सिद्धान्तभवन में एक प्रतिष्ठातिलक नामक ग्रन्थ है जिस पर कर्ता का नाम नहीं है । छानबीन करने से संभव हो सकता है कि वह हस्तिमल्ल की ही रचना हो । यह पहले लिख आये हैं कि हस्तिमल्ल संस्कृत के समान कर्नाटक भाषा के भी अद्वितीय विद्वान् थे । इसीलिये वे उभयभाषाचक्रवर्ती कहलाते थे । कर्नाटक में आदिपुगण ( पुरुचरित ) और श्रीपुराण ये दो ग्रन्थ हस्तिमल्ल के बनाये हुए उपलब्ध हैं ।

हस्तिमल्ल गृहस्थ थे उनके पुत्र पौत्रादि का वर्णन ब्रह्मसूत्रि ने अपने प्रतिष्ठासंगेद्वार में किया है । स्वयं ब्रह्मसूत्रि भी उनके वंश में हुए हैं । उन्होंने लिखा है कि पाण्ड्यदेश में गुडिपत्तन के शासक पाण्ड्यनरेन्द्र थे जो बड़े धर्मात्मा, वीर, कलाकुशल और पण्डितों का सम्मान करने वाले थे । वहाँ वृषभतीर्थकर का गत्त स्वर्णजटित सुन्दर मन्दिर था, जिसमें विशाख-नन्दि आदि विद्वान् मुनि रहते थे । गोविन्द भट्ट यहीं के रहने वाले थे । उनके श्री कुमार आदि छह पुत्र थे । हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्व-पण्डित था जो अपने पिता के ही समान यशस्वी, धर्मात्मा और शास्त्रज्ञ था । यह अपने वशिष्ठ काश्यपादि गोत्रज बान्धवों के साथ होटसल देश में जाकर

रहने लगा जिसकी राजधानी छत्रगुप्तपुरी थी। पार्श्वपण्डित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। इनमें चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल (होधूरु) में जा बसा और दो भाई अन्य स्थान को चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि, जिनके बनाये हुए त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठानिलक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ब्रह्मसूरि ने अपनी जो वंशपरम्परा दी है उसके अनुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। ब्रह्मसूरि विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं यदि चार पीढ़ियों में सौ वर्ष का भी अन्तर माना जाय तो हस्तिमल्ल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं।

### विक्रान्तकौरव की कथा-वस्तु

विक्रान्तकौरव में हस्तिनागपुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार और वाराणसी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर का वर्णन है। राजा सोमप्रभ और अकम्पन प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव के समय में हुए हैं। वह समय कर्मभूमि के प्रारम्भ का समय था। जैनकालगणना के अनुसार बीम कोड़ाकोड़ी(१) सागर का एक कल्पकाल होता है। इस कल्पकाल में दश कोड़ाकोड़ी सागर का एक उत्सर्पिणीकाल और दश कोड़ाकोड़ी सागर(२) का एक अवसर्पिणीकाल होता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के छह काल इस प्रकार हैं—१ दुःप्रमा दुःप्रमा २ दुःप्रमा ३ दुःप्रमा सुप्रमा ४ सुप्रमा दुःप्रमा ५ सुप्रमा और ६ सुप्रमा सुप्रमा। इनमें पहला काल इक्कीस हजार वर्ष का, दूसरा काल इक्कीस हजार वर्ष का, तीसरा काल बीयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का, चौथा काल दो कोड़ाकोड़ी सागर का, पञ्चम काल तीन कोड़ाकोड़ी सागर का और छठवा काल चार कोड़ाकोड़ी सागर का होता है—उत्सर्पिणी काल के उक्त छह भेदों में मनुष्यों की आयु बल, विद्या, बुद्धि आदि की उत्तरात्तर वृद्धि होती रहती है। उत्सर्पिणी के छह काल समाप्त होने पर अवसर्पिणी के निम्नलिखित छह

(१) एक कराड़ में एक करोड़ का गुणा करने पर जो गुणन फल हो उसे कोड़ाकोड़ी कहते हैं।

(२) अस्तरयात वर्षों का एक सागर होता है।

काल क्रम से प्रवृत्त होते हैं—१ सुपमा सुपमा २ सुपमा ३ सुपमा दुःपमा ४ दुःपमा सुपमा ५ दुःपमा और ६ दुःपमा--दुःपमा । ये छह काल भी क्रम से ४ कोड़ाकोड़ी सागर, तीन कोड़ाकोड़ी सागर, दो कोड़ाकोड़ी सागर, बियालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर, इक्कीस हजार वर्ष और इक्कीस हजार वर्ष के होते हैं । अवसर्पिणीकाल के छह भेदों में मनुष्यों की आयु बल, विद्या, बुद्धि आदि में उत्तरोत्तर हास होता रहता है । इस समय अवसर्पिणी का पांचवां काल चल रहा है जिसके इक्कीस हजार वर्षों में से अभी २४६८ वर्ष बीत चुके हैं । प्रथम तीर्थंकर वृषभदेव तीसरे काल के अन्त में हुए थे और तीसरे काल में जब तीन वर्ष साढ़े आठ माह बाकी थे तब मौजूद चले गये थे । इस तरह भगवान् वृषभदेव का समय आज ने अक्षय्य वर्ष पूर्व जा पहुँचता है । भगवान् वृषभदेव के पूर्व भरतक्षेत्र में भोगभूमि की रचना थी । कल्पवृक्षों से सबका काम चलता था । पर भगवान् वृषभदेव के समय भोगभूमि नष्ट हो कर कनभूमि का प्रारम्भ हुआ । भगवान् वृषभदेव ने अग्नि, मपी, कृपि, शिल्पि, वाणिज्य और विद्या इन छह कर्मों का उपदेश देकर सबको निर्वाह-आजीविका की शिक्षा दी । उन्होंने नगर, ग्राम आदि का विभाग कराया, वर्णव्यवस्था की तथा राजवंशों की स्थापना की । सर्व प्रथम भगवान् वृषभदेव ने भरतक्षेत्र में जिन चार राजाओं को राज्याभिषेक किया था उनमें वागण्सी के राजा अक्कमन और हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ भी थे । जब भगवान् वृषभदेव संसार से विरक्त हो अग्रहन्त अवस्था को प्राप्त हो चुके थे और उनके बड़े पुत्र भरत चक्रवर्ती अयोध्या के राज्यसिंहासन पर आरोढ़ थे । तब मुलोचना का स्वयंवर हुआ था । यह स्वयंवर इस अवसर्पिणी युग का सर्व प्रथम स्वयंवर था । प्रशान्तवाहिनी मन्दाकिनी के तीर पर बसी वाराणसी की सजावट अद्भुत थी । वागण्सी के बाहर आगन्तुक राजकुमारों का शिविर लगा हुआ था । प्रथम स्वयंवर होने के कारण उसे देखने की उत्सुकता सब में थी । इसलिये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर के अनेक राजकुमार उसमें सम्मिलित हुए थे । विजयार्धपर्वत के निवासी विद्याधर भी आये थे । नगरदेवता की यात्रा के लिये मुलोचना का जुलूस निकला हुआ था । मुलोचना पालकी पर सवार थी । उसी समय एक आम्र वृक्ष

के नीचे बैठे हस्तिनागपुर के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार पर उसकी दृष्टि पड़ी। यहीं से उसके हृदय में अनुराग शुरू होता है। कवि ने सुलोचना और जयकुमार के हृदय में अनुराग का बीजवपन बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। दर्पण में जयकुमार का प्रतिबिम्ब लेकर उसे सुलोचना ने बड़ी शालीनता के साथ देखा है। गङ्गातीर के उद्यान में दूसरे दिन प्रातःकाल कवि ने सुलोचना और जयकुमार का पुनः साक्षात्कार कराया है। दोनों के हृदय का अनुराग क्रमशः विस्तृत होता जाता है। स्वयंवरमण्डप में सुलोचना जयकुमार के गले में स्वयंवरमाला डालती है। निराश राजकुमार भरत-चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के नेतृत्व में युद्ध के लिये तैयार होते हैं। अर्ककीर्ति के साथ आया हुआ निरवध मन्त्री अर्ककीर्ति का बहुत समझाता है। इसी प्रकार अकम्पन अपने प्रधान प्रतीहान आर्य महेन्द्रदत्त को भेज कर बहुत ही विनय प्रदर्शित करते हैं तथा अपनी दूसरी पुत्री रत्नमाला देने का प्रस्ताव करते हैं पर अर्ककीर्ति का कोष शान्त नहीं होता है। फलस्वरूप अकम्पन तटस्थ रह जाते हैं और जयकुमार का प्रतिपक्षी राजकुमारों के साथ युद्ध होता है। उसमें जयकुमार अर्ककीर्ति को बाध लेता है। निरवध मन्त्री ने अर्ककीर्ति की इस उत्तेजना की सूचना चक्रवर्तीभरत के पास भेजी थी पर भरत महाराज ने जो गम्भीरता प्रकट की वह उनके ही अनुरूप थी। उनकी गम्भीरता देख तथा उनकी ओर से आया हुआ सदेश सुनकर अकम्पन महाराज गद्गद हो उठे। वातावरण शान्त हो गया। अकम्पन ने अपने प्रस्ताव के अनुसार पहले अर्ककीर्ति के साथ रत्नमाला का विवाह किया और पीछे जयकुमार के साथ सुलोचना का। इस तरह नाटक की कथावस्तु अत्यन्त सज्जित है। परन्तु कवि ने अपने कौशल से उसे इस तरह पल्लवित किया है कि पाठक का हृदय आनन्द से विभोर हो उठता है।

जयकुमार और सुलोचना का विस्तृत जीवनचरित जिनसेन के महापुराण में वर्णित है। उसी के आधार पर मात्र स्वयंवर की घटना को लेकर इस नाटक की रचना हुई है। जयकुमार दिग्विजय के समय भरतचक्रवर्ती के सेनापति रहे हैं और म्लेच्छों के युद्ध में उन्होंने अपनी अद्भुत वीरता दिखलाई है। स्वयंवर में सुलोचना को विवाह कर जयकुमार हाथी पर सवार हो जिस समय गङ्गा पार कर रहे थे उसी समय पूर्वभग के

बेरी-एक देव ने ग्राह का रूप रख कर हाथी का पैर पकड़ लिया । हाथी धीरे-धीरे डूबने लगा । सब और आर्त्तनाद छा गया पर सुलोचना ने एकाग्रमन से पञ्चनमस्कार मन्त्र का जाप किया उसके फलस्वरूप पूर्व जन्म में उपकृत एक देव ने उस ग्राहरूपधारी देव का दमन कर हाथी का उद्धार किया । जयकुमार विवाह के बाद सीधे हस्तिनागपुर न जाकर अयोध्या होते हुए गये । भरतचक्रवर्ती ने बड़े प्रेम से जयकुमार और सुलोचना का स्वागत किया । जयकुमार बहुत ही नीतिज्ञ राजा थे । अन्तिम अवस्था में संसार से विरक्त होकर उन्होंने मुनि-दीक्षा धारण की और भगवान् वृषभदेव के चौरासी गणधरों में से एक गणधर हुए ।

### चिक्रान्तकौरव की साहित्यिक सुपमा

हस्तिमल्ल की रचना अत्यन्त प्रौढ़ तथा व्याकरण के नियमों का पूर्ण पालन करने वाली है । माधुर्य गुण से श्रोत प्रीत है । नाटक के प्रारम्भ में सूत्रधार हस्तिमल्ल की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

‘सरस्वत्या देव्या श्रुतियुगवतंसत्वमयते

सुधासप्रीचीना त्रिजगति यदीया सुभगितिः ।

कवीन्द्राणां चेतःकुवलयसमुल्लासनविधौ

शरज्ज्योत्स्नालीला कलयति मनोहारि रचना’ ॥ ५ ॥

जिन हस्तिमल्ल की अमृतसदृश सूक्ति तीनों जगत् में साक्षात् सरस्वती देवी के कर्णयुगल की आभरणता को प्राप्त होती है और जिनको हृदय-हारी रचना बड़े-बड़े कवियों के चित्तरूपी नीलकमलों का विकसित करने में शारदी चन्द्रिका की लीला को धारण करती है ।

तथा—

‘कवीन्द्रोऽयं वाचा विजितनवमोच्चाफलरसः’

यह कवीन्द्र अपनी वाणी से नूतनकला के रस को जीतने वाला है ।

ग्रन्थ का विलोडन करने के बाद हम सूत्रधार की उक्ति को शतप्रतिशत सत्य प्राप्त करते हैं । कवि की भाषा में प्रवाह है, रस है, माधुर्य है और अलंकार की विच्छित्ति है । ऐसा जान पड़ता है कि कवि को रसानुकूल

शब्द योजना करने में किसी विशेष चिन्तन की आवश्यकता नहीं पड़ती । वे सिद्धसरस्वती के समान किसी भी वस्तु का वर्णन अनायास करने में सफल हुए हैं । प्रस्तावना के अन्त में वासन्तिक दिवसों का वर्णन देखिये । यहाँ कितनी अव्याहत गति से शब्दावली कवि के मुखारविन्द से प्रकट हो रही है ?—

पुष्पञ्जलताप्रवालकलनामाश्लेषिकोद्यत्स्वरा

वासन्तीलतिकालतान्तविचरद्भृङ्गारवाडम्बरा ।

कुल्लाशोकमुगन्धबन्धुरचरन्मन्दानिलस्थन्दना

यूनामुखयन्ति मानसमर्भी वासन्तिका वासरा. ॥ ७ ॥

कवि ने प्रथमाङ्क में नन्दावर्त के मुख से वाराणसी के जिन भीड़भाड़ से भरे हुए मार्गों का, हाथ जोड़ कर खड़े हुए हजारों भक्तजनों से व्याप्त मन्दिरों का, विकसित कुसुमों की मुगन्धि से मुगन्धित उद्यानों का, सुरबनिता सदृश सुन्दरियों से व्याप्त सौधों का, भीतर से आकने वाली ललनाओं के मुखों से सुशोभित झरोखों का, प्रियतमाओं के अनुनय में लीन भुवाओं से युक्त वेशवाटों का तथा वहाँ की अन्याम्य शोभा का प्राञ्जल गद्य द्वारा जो वर्णन किया है आज सात-आठ सौ वर्ष बीत जाने के बाद भी हम उसे उसी भाँति देखते हैं ।

द्वितीयाङ्क में प्रतीहार के मुख से गङ्गा का वर्णन करते हुए कवि कितना सुन्दर वर्णन करते हैं—

गङ्गा तरङ्गेण विधारयन्ती

सरीश्वरालं चलहसमालम् ।

उल्लासिहारम्बुविहारितोया

वाराणसीसीमविहारिपूरा ॥ १० ॥

मदकलसारसलीलाकल्हारविसरणमञ्जुलसमीरा ।

तामरससरसकैसरविसराकुलसलिलकल्लोला ॥ ११ ॥

इसी द्वितीयाङ्क में प्राकृतभाषा में विदूषक के द्वारा और संस्कृत भाषा में राजा के द्वारा गङ्गा तीरी स्नान का जो वर्णन कवि ने किया है वह

चहुत ही हृदयहारी है । देखिये—विविध पुष्पकलिकाओं का रस लेता हुआ भ्रमर किस प्रकार घूमता है ?—

चूपंश्चूताङ्कुराग्रं क्षणमथ कलिकाः पाटयन् पाटलीना-  
मास्कन्दन् कुन्दकोशं भटिति विघटयन् कुड्मलं कारहाटम् ।  
भिन्दन्मन्दारवद्धं मुकुलमविकचं चम्पकानां च चुम्बन्  
पुष्पादभ्येति पुष्पं मधुकरनिकरः प्राप्तहर्षप्रकर्षः ॥१५॥

उद्यान के उच्छ्रिलिङ्ग—अनार और मातुलिङ्ग—विजोरा के वृक्षों का वर्णन करते हुए कवि ने जो उपमालङ्कार की विच्छ्रित्ति तथा सुन्दर शब्दावली की योजना की है वह दर्शनीय है—

हृद्यामद्यानुधावत्यधरदलरुचा रञ्जितां दन्तपङ्क्ति  
गौडीनां प्रौढपाकक्रमपरिदलितैः स्वं फलैरुच्छ्रिलिङ्गः ।  
निष्टप्तस्वर्णवर्णच्छ्रविभिरवहितव्राणलेढव्यगन्धैः  
काश्मीरीगण्डशोभां कवलयति फलेनिर्मलैर्मातुलिङ्गः ॥१६॥

गद्यद्वारा गङ्गावर्णन की एक भाका देखिये—

राजा—( विलोक्य निर्वर्ण्य च ) इयं खलु मदोद्भरोद्दाममल्लिकार्ज-  
पक्षविक्षेपक्षोभणप्रक्षरदरविन्दमरन्दावस्कन्दसान्द्रसलिला, सलीलविलोटमान  
पाठीनपरिपाटीजटिलकल्लोला, कलक्वणितानुमीयमानेन्द्रिदिरवृन्दान्दोलित-  
विनिद्रेन्दीवरवना, विहारकेलीफलहायमानकोकनिनदमुखरितविक चकोकनद  
कुटीरकोटरा, सकौतुकवरटारटनानुसरणसंभ्रान्तकलहंसकुलसंकुलोत्फुल्ल पुण्ड-  
रीकपण्डा, चट्टलखञ्जरीटकुटिलपदपङ्क्तिचित्रितपर्यन्तसैकततला, प्रसादलुलि-  
तनिर्मलस्फाटिकतटा विघटितसौगन्धिकगन्धसम्बन्धवन्धुगितगन्धवाहा, नन्दयति  
नयनानि मन्दाकिनी ।

इसी द्वितीयाङ्क के गङ्गा तीरोद्यान में सुलोचना का प्राकृतभाषा द्वारा जो आत्मगत चिन्तन लिखा गया है वह भवभूति के मालतीमाधव में मालती के आत्मगतचिन्तन का स्मरण कराता है ।

कवि द्वारा नये नये शब्दों का प्रयोग देखिये—

अयमिह सहसानः संगरन् बर्हभारं

तवविटपनिपण्यस्तेवते स्वापसौख्यम् ।

भयति तपनतापादुत्त्रसन्नत्र चासौ

धननलिनपलाशाभ्यन्तरं मन्दसान ॥ ३५ ॥

यहा मयूर के लिये सहसान और हस के लिये मन्दसान शब्द का प्रयोग नूतन है ।

बाराणसी का वेशवाट बहुत पहले से प्रसिद्ध रहा है । कवि भी उसके वर्णन का लोभसवरण नहीं कर सके हैं । देखिये तृतीयांक के प्रारम्भ में विट द्वारा उसका कितना सुन्दर वर्णन है—

कथमसौ विलासबाह्यालिमंकरध्वजस्य, संगीतशाला रते, विक्रया पण्य-  
स्त्रीरत्नानाम्, उत्पत्तिभवन शृङ्गारस्य, नामिगृह लीलाया, निर्माणभूमिर्वि-  
भ्रमाशाम्, आकर्षणवद्विश तरुणजनमनोमीनानाम्, अवस्कन्दपरबलमि-  
न्द्रियप्रामस्य, विनयमुखगटाक्षेपणरत्नो विनीतजनधारणानाम्, स्वगुणविक-  
स्यनस्थान पाद्गानाम्, वैदग्ध्यविनिमयहृदयछेकानाम्, करालगोलव्यतिकर  
पितृवन वेश्याजनमातृजरतिशाचिकानाम्, पुराणा वामलूकगणिकादारिका  
भुजङ्गीनाम्, अपूर्यमद्वैतदर्शन मायाप्रपञ्चस्य, पारिपन्थिको निःश्रेयसपथ-  
पान्धानाम्, मनोरथमात्रास्वाद्यो दुर्गंतान्, द्रविणवता सदाप्यदत्तकवाटो  
वेशवाटः ।

विट महाशय बाराणसी के वेशवाट में प्रवेश कर इतने तल्लीन हो जाते हैं कि वहा से निकलने का नाम ही नहीं लेते । वे एक एक कर अनेक वेश्याओं का आनिध्य स्वीकृत करते हैं । अन्त में आप अशोकलतिका के घर रुक कर स्वयंवर में जाने वाले विविध राजकुमारों की साजसजा का अवलोकन करते हैं । यथार्थ में यह प्रकरण आवश्यकता से अधिक लम्बा हो गया है । पाठक का चित्त इसे पढ़ते-पढ़ते ऊब-सा जाता है ।

तृतीय अंक में स्वयंवर समा में आसोन राजाओं का वर्णन कविकुल-  
गुरु कालिदास के द्वारा रघुवंश में वर्णित इन्दुमती के स्वयंवर का स्मरण  
करा देता है । स्वयंवर समा में प्रवेश करती हुई मुलौचना का वर्णन देखिये  
कितनी मधुर माया में हुआ है—

राजा ( सोच्छ्वासमात्मगत ) कथं प्रविष्टैव ( निर्वर्ण्य ) इयं हि सा



काशिपतेस्तनूजा स्वयंवरस्थानसभामुपैति । सुलोचना दीर्घविलोचनाभिः  
पुराङ्गनाभिः सह निम्ननाभिः ॥ ३५ ॥

स्वयंवरविधि की श्लाघा करते हुए कवि प्रतिहार के मुख से कहलाते हैं—  
अहो महाराजस्य सर्वातिशायिनी प्रज्ञा यदुपशमियं प्रज्ञावतामगर्हणीया  
वधूवरसमाराधनलब्धस्तोत्रास्वयंवर यात्रा ।

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तादृगथवा

कुमारी तच्छन्दं निभृतमवगच्छेदिति तु यत् ।

तदप्येषा दत्तिर्लघयति यदस्या रमयितु—

गुणं वा दोष वा स्वरुचिमनुचक्षुर्विमृशति ॥ ३६ ॥

रस के अनुरूप रीति के निर्वाह और छन्दों के चयन में कवि ने असीम  
सफलता प्राप्त की है—तृतीय अंक के अन्त में जहां शृङ्गार की धारा वीर  
रस में परिवर्तित होती है वहां राजा तथा नन्द्यावर्त की उक्तियां देविये—

राजा ( सक्रोधं ) अरे रे दुर्वान्तक्षत्रियकीटाः शृणुतेमां प्रतिशाम्

वक्षःप्रस्थात् क्षुरप्रप्रहति विघटितग्रन्थिवन्धश्लथास्थन—

श्चोतन्मस्तिष्कशक्लस्थपुद्गलपिषितादुत्पन्नन्मानशङ्कुम् ।

त्रासातकाजिहासन् प्रथमतरमसन् मोघसंरम्भशोच्या

नाच्छेत्स्यत्येष रोपग्रहविद्वत्पुणः कौग्वो भैरवो वः ॥ ७६ ॥

नन्द्यावर्तः—रे रे अस्थानोत्थितक्रोधाभिभूतविदग्धितवीररसाः पश्यन्तु

विश्वेऽपि क्षुद्राः क्षत्रियकुलपांसुलाः ।

निर्मुञ्चन्वाणवृष्टीर्निविडनिपतनाकाण्डबद्धान्धकाराः

स्वैरावस्कन्दरुग्णप्रतिनृपतिशिरःस्कन्धसम्बन्धसन्धीः ।

कल्यान्तष्ट्यूतधाराकवलितगगनाभोगसीम्नस्समन्ता-

न्नन्द्यावर्तोऽद्य लीलां रजयति समरे पुष्कलावर्तकस्य ॥ ७७ ॥

चतुर्थ सर्ग के प्रारम्भ में क्रुद्ध अर्ककीर्ति के प्रति निरवश मंत्री की  
हितावह देशना देखिये और भाषा की रसानुसार सुकुमारता पर विचार  
कीजिये—

‘युवराज ! केयं पृथग्जनसुलभाऽप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रवृत्तिः ? किंचेदमात्म-  
वतामनमिमत्तं दुःशिक्षितजनदुरूपदेशेषु श्रोत्रदानव्यवसनम् ? कश्चायं

प्राकृतजनप्रवर्तित पुरुषान्तरगुणसमावर्जितचिन्तायामाग्रहो योयिति !  
 न्व चाय परिचित कलुषानुपपन्नेषु कलुषेतरमानसोन्मथनमन्याः पथाः !  
 कुतश्चामन्यधीतानि परिहृतविवेकयन्त्रणानि क्रोधोदतिस्त्वतन्त्राणि वच्चांसि !  
 सा खलु चक्षुष्मत्ता यदुत परपरिग्रहार्हितेषु अनुयान्धत्व कलत्रेषु । सैव च  
 श्रुतिमत्ता यत् किल दुर्दान्तजनदुःप्रलपितेषु पुरुषस्थोचैः श्रवस्त्वम् । स खलु  
 विक्रामति यस्य निसर्गादुर्मार्गप्रसङ्गमलीमसैरिन्द्रियमलम्लुचैर्न मुष्यते हृदयम् ।  
 अभिजातजनहास्पता च भ्रशयति मानिनो यशस्विताम् । विगीता रणचुम्बिता  
 च विवृणोति ऐशामच्चातुर्यम् ।'

युवराज ! महाराजस्त्वामाह—

विनीतो बाह्येऽपि त्वमसि पितुरेव प्रतिनिधि.

पर प्रेक्षानिध्न. प्रकृतिमनर्षा मास्म विसृज ।

परेषां पैशुन्यान्नहि च वचनीयान्मलिनता

कियद्वा मित्र मे भरत इति हेमाङ्गद इति ॥ १५ ॥

“दूराह्वान वधो युद्ध राज्यदेशादिविप्लव” आदि सिद्धान्त के अनुसार  
 नाटक में युद्ध का साक्षात् वर्णन निषिद्ध है। इसलिये रत्नमाली विद्याधर,  
 उसकी स्त्री रत्नमाला, मित्र मदर और अनुचर मन्थरक के वार्तालाप के द्वारा  
 उसका परोक्ष वर्णन किया गया है। यह वर्णन इतना उदात्त और रसपूर्ण  
 है कि इसे पढ़कर पाठक की आत्मा के सामने युद्ध का साक्षात् दृश्य झूलने  
 लगता है। युद्ध के समय धूलि उड़कर आकाश में छा जाती है इसका  
 वर्णन देखिये कवि ने कितने मनोहर उत्प्रेक्षालकार से किया है।

रयात् पूर्वं जगति समरो मत्सृते भूपतीना

काचित्कन्या प्रति रणमिद वचसा मे प्रमाष्टि ।

इत्युद्धूतात् प्रकृतिमुलभात् स्त्रीषु सापत्नवैरात्

क्वापि क्षोणी घनतमरजश्छद्मना मन्छतीव ॥ ३२ ॥

अर्थात् पृथिवी सोचती है कि आज तक राजाओं के जितने युद्ध हुए  
 वे सब हमारे लिये हुए पर यह युद्ध एक कन्या के लिए हो रहा है। इस तरह  
 उत्पन्न हुए स्त्रीविषयक सौतियाडाह के कारण ही मानो पृथिवी सान्द्रधूलि  
 के झूल से कहीं मागी जा रही है।

२ वि० की० मू०

इस युद्ध के प्रसङ्ग को लेकर कवि ने वीररस का प्रवाह खूब ही प्रवाहित किया है। प्रत्येक वर्णन में हम देखते हैं कि कवि की काव्यकला अपने आप में पूर्णता को प्राप्त है। एक श्लोक देखिये जिसमें कवि ने युद्ध के समय उभय पक्ष की उक्ति प्रत्युक्तियों का सिर्फ लोट् लकार मध्यम पुरुष के एक वचन में कितना सुन्दर संग्रह किया है।

लुन्ध्याधर्ण्य कुट्टय क्षिप दह व्यान्ध सधानय  
भिन्धिच्छिन्धि मथान ताडय जहि व्यावर्तयापातय ।  
विद्वयास्फालय भञ्ज रुन्धि विंकिर व्याकर्ष घर्षोद्धरे—  
त्येवं प्रायमिहोच्चरद्वच इदं व्याजायते व्योमनि ॥४३॥

भूमिगोचरी राजाश्री के साधारण युद्ध का वर्णन कर कवि ने विद्याधरो के छलबहुल युद्ध का भी अच्छा वर्णन किया है। उत्तररामचरित में भव-भूति ने लव-कुश और चन्द्रकेतु के वाच इस छलबहुल युद्ध का थोड़ा सा सूत्रपात किया है परन्तु यहां उसका बड़ी सुन्दरता के साथ पल्लवन किया गया है। इस छलबहुल युद्ध को लेकर आंधी, वर्षा तथा अग्नि आदि का भी प्रसंगोपात्त अच्छा वर्णन इसमें आ गया है। युद्ध के प्राङ्गण में डटे हुए जयकुमार और अर्ककीर्ति के बीच जो उत्तर प्रत्युत्तर होता है वह भी पाठक के हृदय में जोश उत्पन्न करने वाला है। अन्त में जयकुमार अर्क-कीर्ति के रथ पर चढ़ उसे पाश से बाँध कर निम्न गर्जना करता है।

अयमयमिह युद्धाद्यद्वगर्षोद्धतानां मुजबलमदभारं स्वैरमद्यावरोप्य  
नियमयति भुजौ द्वौ भारतस्यार्ककीर्तेर्युधि कुरुपतिसूनुर्मोचयन्त्वेतदीयाः ॥६६॥

देखिये युद्ध के परिणाम का उद्घोष करते हुए कवि ने अपने श्लेषचातुर्य का कैसा सुन्दर परिचय दिया है ?

पर जयमसी प्राप्ता कौस्वस्य पताकिनी ।

पराजयमसी प्राप्ता पीर वस्य पताकिनी ॥१००॥

पञ्चम अंक के प्रारम्भ में भरतचक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति को युद्ध में बद्ध सुन कर सुलोचना के पिता अकम्पन को बहुत दुःख होता है। यद्यपि जिनसेन के महापुराण में वर्णन है कि अकम्पन जयकुमार का पक्ष लेकर

युद्ध में शामिल हुए थे । पर इस नाटक में कवि ने उन्हें मध्यस्थ ही प्रकट किया है । वे युद्ध के समय वाराणसी की रक्षा करते हुए अपने दुर्दैव को ही दोष देते रहे हैं । युद्ध के बाद जयकुमार को कितनी फटकार देते हैं अकम्पन महाराज, यह निम्नश्लोको में देखिये—

यद्गु मवानात्मन एव बन्धु नाहं त्यशङ्क भरतस्य सूनुम् ।  
विमुच्यतामेप तदाशु बन्वात् स मुच्यता मुग्ध तवापि मोह ॥ ७ ॥  
मुतोऽयमाद्यो ननु चक्रवर्तिनस्तुतावमानेऽवमतस्त एव हि ।  
हाव त्वया द्विम्भ न हन्त चिन्तित गिनु कुरोर्नानुक्रोपि चेष्टितै ॥ ८ ॥

महाराज अकम्पन की इस मध्यस्थता ने अपने आपको चक्रवर्ती के कोप से बचा लिया । अर्ककीर्ति के साथ आगत निसदृश मन्त्री ने चक्रवर्ती के पास जो समाचार भेजा था उसके उत्तर में चक्रवर्ती, जयकुमार के पास कितना शान्तिपूर्णनिर्याय भेजते हैं—यह देखिये—

ययार्ककीर्तिर्विनयात्प्रमाद्यन्निरस्ततन्द्र मम शासनीयः ।  
तथोत्पयप्रस्थित एष मोहात् त्वयापि पच्ये पथि वर्तनीयः ॥ १० ॥

महाराज अकम्पन के लिये भी चक्रवर्तीभरत ने जो लेख भेजा था उसका आदर्श देखिये—

यद्युष्माकमसौ वचासि शिरस्ताम्यर्प्यानि शेषास्थया  
व्यामोहादतिलङ्घ्यतेस्म तदय पुत्रोऽर्ककीर्तिर्ननु ।  
अर्प्यास्मन् भवता न कर्तुमुचितोपेक्षा समोद्धावता  
मन्दाज्ञो भवति प्रमादधति जने को वा विनेये मुषी ॥ ११ ॥

ततश्च—

न द्वेष्टि मेघेश्वरमर्ककीर्तिर्मेघेश्वरो द्वेष्टि न चार्ककीर्तिम् ।  
यया मुहूर्त्नय विवान्तवैरो तथा भवद्भिः प्रतिबोधनीयो ॥ १२ ॥

चक्रवर्ती की इस लोकोत्तर शान्ति और न्यायप्रियता को देख कर महाराज अकम्पन गद्गद होकर कहते हैं—

शमं दधातो योगिदुर्लभं

गुरौः कियद्वा(१) पितुरेप हीयते ।

तदस्य संचिन्त्य चरन्तु साधव—

स्सुदुःस्तवं वृत्तमदुष्टवृत्तयः ॥ १४ ॥

त्वय्येप नः(२) सार्वजनीनसूनौ

यशस्वती हात्र न माति हर्षः ।

किमन्यदेते पितर यथा ते

त्वामात्मशीचाय तथा स्मरामः ॥ १५ ॥

पञ्चम अंक में कवि ने राजा, नन्द्यावर्त तथा विदूषक के मुख से प्रमद वन, चन्द्र और चादनी का जो मनोहर वर्णन किया है वह कवि कल्पनाओं का सुन्दर उदाहरण है । वह समग्र प्रकरण उद्धरणीय है पर लेख विस्तार के भय से उद्धरण न देकर पाठकों से यही अनुरोध करूँगा कि उस प्रकरण को निकाल कर स्वयं रसास्वादन करे । युद्ध के बाद सुलोचना अक्षतशरीर जयकुमार को देखने के लिये उत्काण्ठित है । दोनों एक दूसरे को देख कर परम सुख का अनुभव करते हैं । वत्सा रत्नमाला के विवाह संस्कार के लिये माता को बुलावा आने से सुलोचना वापिस चली गई । राजा बड़ी आतुरता के साथ वह रात्रि प्रमदवन में व्यतीत करते हैं । प्रभात होते होते चन्द्रमा की चांदनी समाप्त हो गई, कहा गई ! इसका उत्तर कवि की कलम से सुनिये—

चकोरैर्ज्योत्स्नाम्भः कियदपि निपीतं परिपतत्

पुटेष्वाभोजानां कियदपि निरुद्धं निमिषदाम् ।

वियोगार्त्तः कोकैः कियदपि गतं पक्ष विधुतं

विशुष्कं संतप्तास्वथ तनुषु शिष्टं विरहिणाम् ॥ ८२ ॥

पष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में सुलोचना के भाई हेमाङ्गद और प्रतिहार के द्वारा विवाहोत्सव में आगन स्त्रियों का जो हाव-भाव का वर्णन हुआ है वह एकदम निराला है । देखिये—

सस्तोत्तरीयसिचयोन्मिषितस्तनत्रा.

पश्य स्तनांशुकधिया परिमुनपद्मा ।

मूर्द्ध्नप्रस्ताशुचयसवलिता करेण

हारप्रभाप्रसकृदाक्षिप्तोह मुग्धा ॥ १३ ॥

एक स्त्री का उत्तरीयवस्त्र जिसककर नीचे गिर गया और उसके स्तनों की शोभा प्रकट हो गई । उसी समय नन्वों की किरणों के समूह से मिली हुई हार की प्रभा आकाश में फैल गई । वह स्त्री उस हार की प्रभा को ही वस्त्र समझ कर बार बार खींच रही है ।

विलोक्य नीलाश्रमतले विलोचने

विनम्रगात्रा प्रतिबिम्बिते पुरः ।

विवर्तगार्ढानुगामिशङ्कया

निवर्तत्ययन्यत आकुल पदम् ॥ १५ ॥

एक स्त्री कुछ नम्र होकर नीलमणि के फर्स पर चल रही है उसके नेत्र उस फर्स में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । उन प्रतिबिम्बित नेत्रों को मछलियों का मुगल समझ कर वह स्त्री बड़ी घबड़ाहट के साथ अपना पैर दूसरी ओर सौटा रही है ।

मुनिर्मलस्फटिकभिचिलग्ना

छाया निजा वीक्ष्य सखीति बुध्वा ।

मुग्धा परिपश्य मुदा विलक्ष-

स्मितेन सिञ्चत्यधरोष्ठमेका ॥ १७ ॥

कोई एक स्त्री स्फटिक की निर्मल शीवाञ्ज पर बैठते हुए अपने प्रतिबिम्ब को सखी समझ उसका रूप से आलिंगन करती है और पीछे लज्जा से उत्पन्न मन्द हास से अपने अधरोष्ठ को सौंच रही है ।

अन्त में महाराज अकम्पन जलधारापूर्वक सुलोचना को जयकुमार के लिये समर्पित करते हैं । उस समय महाराज के जो आशासना वाक्य हैं वे अत्यन्त हितावह हैं ।

इस नाटक में प्रधानरूप से शृङ्गार रस है और अङ्ग रूप से वीर रस है । उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, समासोक्ति, स्वभावोक्ति तथा अनुप्रास आदि अलंकारों का यथा स्थान प्रयोग हुआ है । छन्दों में हरिणी, शिखरिणी, मन्दाक्रान्ता, सन्धरा, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, वंशस्थ और इन्द्रवज्रा आदि प्रसिद्ध प्रसिद्ध छन्दों का प्रयोग हुआ है । सिर्फ पञ्चम अङ्क के ६७ वें श्लोक में नर्कुटक नामक अप्रचलित छन्द प्रयुक्त हुआ है । नाटकीय सिद्धान्त के अनुसार संस्कृत और प्राकृत इन दो भाषाओं का इसमें प्रयोग हुआ है । जिस प्रकार संस्कृत उच्च कोटि की है उसी प्रकार प्राकृत भी उच्च कोटि की है । भाषा की प्रौढ़ता के विषय में कवि ने महाकवि भवभूति की शैली को अपनाया है ऐसा जान पड़ता है । वस्तुतः नाटकों में महाकवि कालिदास के समान सरल भाषा का प्रयोग अधिक रुचिकर होता है । सरल भाषा में लिखे नाटक सरलता से मञ्च पर खेले जा सकते हैं पर क्लिष्ट भाषा में लिखे नाटक मात्र पाठ्य नाटक रह जाते हैं ।

संस्कृत जैन साहित्य नाटक, चम्पू, काव्य तथा गद्यकाव्य के रूप में जितना भी उपलब्ध है वह साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का है । उसमें साहित्य के समस्त अङ्ग विद्यमान हैं । आधुनिक शैली से उनका सम्पादन और प्रकाशन भी हुआ है । हम आशा करते हैं कि हमारे संस्कृतज्ञ विद्वान् इस साहित्य को भी पठन—पाठन के द्वारा प्रचार में लाने की कृपा करेंगे ।

चौलम्बा संस्कृत पुस्तकालय के अधिपतियों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने उदारता के साथ इस नाटक का प्रकाशन कर इसे विद्वानों के समक्ष रखा है । प्रस्तावना के ऐतिहासिक अंश में स्व० धीमान् नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई के 'जैन साहित्य का इतिहास' नामक पुस्तक से सामग्री ली गई है इसलिये उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ ।

इस संस्करण में मूल के साथ मात्र हिन्दी अनुवाद दिया गया है । हिन्दी अनुवाद में नाटकीय सिद्धान्तों का प्रकाशन तथा अलंकार आदि की विशेषताएं बताना दुर्गर होता है । इन सबके लिये संस्कृत टीका की आवश्यकता रहती है । यदि अवसर मिला तो आगामी संस्करण में संस्कृत

दोका भी देने का प्रयास करूँगा । बुद्धिपूर्वक तो मैंने बहुत सावधानी रखी है फिर भी त्रुटियों का रह जाना सब तरह संभव है । मैं उनके लिये बड़ी नम्रता के साथ विद्वज्जनों से क्षमाप्रार्थी हूँ ।

विद्वज्जनवधवद

पद्मलाल साहित्याचार्य



## लक्षणसंग्रहः

नाटकलक्षणम्—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।  
विलासद्वयादिगुणवद्भूतं नानाविभूतिभिः ॥  
सुखदुःखसमुद्भूतिनानारसनिरन्तरम् ।  
एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ॥  
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ।

नान्दीलक्षणम्—

नन्दति काव्यानि कवीन्द्र वर्गाः  
कुशीलवाः पारिपदाश्च सन्ति ।  
यस्मादलं सजनसिन्धुहंसी  
तस्मादियं सा कथितेह नान्दी ॥

यद्वा—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।  
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

सूत्रधारलक्षणम्—

नाट्यप्रकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।  
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ॥

प्रथमाङ्कस्य पञ्चमपष्ठयोः श्लोकयोः प्ररोचना नाम अङ्गं तस्य लक्षणम्  
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसानः प्ररोचना ।

प्रस्तावनालक्षणम्—

नटी विदूषको वापि पारिपाश्विक एव वा ।  
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥  
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताच्चेपिभिर्मियः ।  
ग्रामुखं तत्तुविज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥

अत्र नाटके प्रवर्तको नाम प्रस्तावनाभेदः तल्लक्षणम्—

काल प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृम् यत्र वर्णयेत् ।

तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥

नायकलक्षणम्—

स्यागी कृता कुलीन सुश्रोको रूपयौवनोत्साही ।

दक्षोऽनुरसलाकस्तेजा वैदग्ध्यशालवाग्मेता ॥

नायकभेदाः—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।

धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥

इह नाटके जयकुमारो धीरललितस्तस्य लक्षणम्—

निश्चिन्तो मृदुरनिश कलापरो धीरललितः स्यात् ।

यिदूपकस्य लक्षणम्—

कुमुदवसन्ताद्यभिषि कर्मवपुर्वेषभाषाये ।

हास्यकरः कलहरतिर्विदूपकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥

विष्कम्भलक्षणम्—

वृत्तवर्तिष्यमाशानां कथाशाना निदर्शकः ।

सदिप्तार्यस्तु विष्कम्भ आदावहुस्य दर्शितः ॥

मध्येन मध्यमांशा वा पात्राभ्याः सप्रयोजितः ।

शुद्ध स्यात्स तु सकीर्णो नीचमध्यमकलितः ॥

प्रवेशकलक्षणम्—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।

श्रद्धद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं निष्कम्भके यथा ॥

विटलक्षणम्—

संभोगदोनसम्पद्विदस्तु घूर्तं कलौकदेशतः ।

वेशोपचारकुशलो वाग्वी मधुरोऽय बहुमतो गोष्ठयाम् ॥

### आकाशभापितलक्षणम्—

किं ब्रवीपीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।  
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभापितम् ॥

### कञ्चुकीलक्षणम्—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।  
जरसा संश्लिष्टदेहः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

### पताकास्थानलक्षणम्—

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते ।  
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥

### सात्त्विकभावलक्षणम्—

विकाराः सत्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।  
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।  
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥

### कामस्य दश दशाः—

अभिलापश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।  
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडतामृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥

### अथवा—

नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।  
निद्राछेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ।  
उन्मादो मूर्च्छा मृतिगित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ॥

### नाटके निषिद्धवस्तूनि—

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।  
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥  
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्ब्रीह्याकरञ्च यत् ।

शयनाधरपानादिनगराद्यवरोधनम् ।

स्नानानुश्लेषने चैभिर्वाजितो न्यदिविस्तरः ॥

नि सृष्टार्थस्य लक्षणम्—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।

सुशिलप्लव कुस्ते कार्यं निःसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥



( प्रविश्य )

पारिपार्श्वकः—भाव अयमस्मि आज्ञापयत्वार्थं इति ।

सूत्रधारः—शृणु तावत् । नानादिगन्तवास्तव्यपण्डिताखण्डमण्डल-  
मण्डितामिमां परिपदं प्रार्थितवानस्मि ।

मारिपः—किमिति ।

सूत्रधारः—चिराभ्यासपल्लविता मदीयनाट्यशास्त्रविद्या सादरावलोक-  
नेन सफलीक्रियतामिति ।

मारिपः—भाव किमर्थमियं प्रार्थना ।

अधीतैषा विद्या क्रमत इह पारं च गमिता

प्रदत्ता पात्रेषु प्रथितमनसा तत्र भवता ।

यशोमल्लीवल्लीकुसुमसुभगं चाजनि फलं

ततः सैषा याच्चा सपदि त्व दैन्याय भवति ॥ २ ॥

सूत्रधारः—मारिप सत्यमेतत् । तथापीदं श्रूयताम्—

( प्रवेश कर )

पारिपार्श्वक—विद्वन् ! यह हूँ, आप आज्ञा दीजिये ।

सूत्रधार—अच्छा सुनो, मैंने नाना दिशाओं में रहनेवाले श्रेष्ठ विद्वानों  
से सुशोभित इस सभा से प्रार्थना की थी ।

मारिप—क्या प्रार्थना की थी ?

सूत्रधार—चिरकाल के अभ्यास से वृद्धि को प्राप्त हुई मेरी नाट्यशास्त्र  
की विद्या, सम्मानपूर्वक देखने के द्वारा सफल की जाय ।

मारिप—विद्वन् ! आपने यह प्रार्थना किसलिये की ?

अधीतैषा—आपने इस विद्या को पढ़ा तथा इसे नाट्यशास्त्र में चरम-  
सीमा को प्राप्त करायी । उदारचित्त हो कर आपने यह विद्या पात्रों के लिये  
प्रदान की और उससे मालती लता के फूल के समान सुन्दर यश रूप  
फल उत्पन्न हुआ । इन सब कारणों से आपकी यह याचना शीघ्र ही आपकी  
दीनता प्रकट करती है ॥ २ ॥

सूत्रधार—नट ! यद्यपि यह सत्य है तथापि यह सुनिये—

एतद्देहानुभाव्ये प्रचुरघतचये नास्ति कस्यापि तृप्ति-  
कान्तायर्गेपि तद्वत्तरुणिमवयसा केवलेतानुभाव्ये ।  
तस्मात्सज्जम्भमाणे प्रसरति च विना देशकालव्यवस्थां  
कीर्तिस्तोमेऽभिरामे जगति कृतमतेः कस्य वा स्वाद्विरक्ति ॥ ३ ॥

किञ्च । अस्मदीया नाट्यविद्यावैशद्योल्लसिता कीर्तिमपहर्तुमुपाध्यायभर-  
ताचार्यपुत्रस्ततस्ततन्यमानासुयानिवासपदै, नटापसदै प्रतिबोधित' स्वर्घा-  
माटीकते, ता निर्मूलयितु च अनितरदुस्साध्यरूपकाभिनयारभसरम इति ।  
मारिप.—तर्हि युस्तैषा प्रार्थना परिपदा च किमाश्रयमिति ।

सूत्रधार —

शृङ्गारवीरसारस्य गमोरचरिताद्भुवम् ।  
महाकविसमायद्ध रूपक रूप्यतामिति ॥ ४ ॥

एतद्देहानुभाव्ये—मात्र इसी शरीर से भोगने योग्य प्रचुर घन-राशि में  
किसी की तृप्ति नहीं है । इसी तरह मान तरुण अवस्था के द्वारा भोगने योग्य -  
स्त्री-समूह में भी किसी की तृप्ति नहीं देखी जाती । अतः उत्पन्न हुए एष  
देश और काल की व्यवस्था के बिना फैलते हुए मनोहर यश के समूह में  
ससार के मध्य किञ्च बुद्धिमान् को विरक्ति हो सकती है ! अर्थात् किसी की  
नहीं ॥ ३ ॥

किञ्च—इसके सिवाय दूसरी बात यह है कि निरन्तर बढ़ती हुई ईर्ष्या  
के निवासस्थान स्वरूप नीच नदों के द्वारा बहकाया हुआ उपाध्याय भरता-  
चार्य का पुत्र, नाट्यविद्या के स्पष्ट प्रयोगों से पढ़ी हुई हमारी कीर्ति को हरने  
के लिये उद्यत हो कर ईर्ष्या करता है । उस ईर्ष्या को निर्मूल करने के लिये  
अन्य मनुष्यों के द्वारा अशक्य इस नाटक के अभिनय का प्रारम्भ किया जा  
रहा है ।

मारिप—तो यह प्रार्थना ठीक है । समा ने क्या आज्ञा दी !

सूत्रधार—समा ने आज्ञा दी है कि—

शृङ्गार—शृङ्गार और वीररस से श्रेष्ठ किसी नायक के गम्भीर चरित्र से  
आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला महाकविके द्वारा रचित नाटक दिखाया जाय ॥४॥

मारिषः—दुर्लभं त्वत्वीदृशं पारिपदश्रवणलोचनासेचनकं रूपकमिति ।

सूत्रधारः—( स्मरणमभिनीय ) आः स्मृतम् । अस्ति किल सरस्वतीस्व-  
यंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दस्वामिसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना महाकवितल्लजेन  
विरचितं विक्रान्तकौरवं नाम रूपकमिति ।

मारिषः—अपि तादृशो हस्तिमल्लः ।

सूत्रधारः—

सरस्वत्या देव्या श्रुतियुगवतंसत्वमथते  
सुधासध्रोचीना त्रिजगति यदीया सुफणितिः ।  
कवीन्द्राणां चेतःकुवलयसमुल्लासनविधौ  
शरज्ज्योत्स्नालीलां कलयति मनोहारिरचना ॥ ५ ॥

किंच ।

कवीन्द्रोऽयं वाचा विजितनवमोचाफलरसः  
सभासारज्ञाढ्या वयमपि तथा नाट्यचतुराः ।

मारिष—यथार्थ में ऐसा नाटक तो दुर्लभ है जो सभासदों के कान  
तथा नेत्रों को अतृप्तिकर हो अर्थात् उनकी आकांक्षा को बढ़ाये रखने  
वाला हो ।

सूत्रधार—( स्मरण की मुद्रा बनाकर ) अरे स्मरण आ गया । सरस्वती  
के स्वयं स्वीकृत पति, भट्टार गोविन्दस्वामी के पुत्र हस्तिमल्ल नामक श्रेष्ठ  
महाकवि के द्वारा निर्मित विक्रान्त-कौरव नाम का नाटक है ।

मारिष—हस्तिमल्ल भी वैसे ही हैं ।

सूत्रधार—

सरस्वत्या—तीनों लोकों में अमृत के समान जिनकी वाणी सरस्वती  
देवी के कर्ण-युगल में आभूषण की शोभा धारण करती है तथा जिनकी  
मनोहारी रचना बड़े-बड़े कवियों के चित्तरूपी नील कमलों को विकसित  
करने के लिये शरद् ऋतु-सम्बन्धी चांदनी की शोभा को धारण करती है ॥५॥

और भी—

कवीन्द्रोऽयं—यह कवीन्द्र अपनी वाणी से नवीन कदलीफल के रस  
को जीतने वाले हैं, सभासार के ज्ञाता-गुणी मनुष्यों से युक्त हैं, हम लोग

कथाप्येषा लोकोत्तरनवचमत्कारमधुरा

तदेतत्सर्वं न प्रकटतरभाग्येन धटितम् ॥ ६ ॥

मारिष.—वसन्तसमयोऽयं मावस्योपकुरुते प्रचुरग्निकसितकुसुमशरमय ।

सूत्रधार.—युक्तमेतत् । अहो रमणीयता कोमलकिसलयकुलविरु-  
सितवसन्तस्य ।

पुष्पचूतलताप्रवालकलनामाद्यत्पिकोद्यत्स्वरा

वासन्तीलतिकालतातविचरद्भृङ्गारवाडयरा ।

फुल्लाशोकसुगन्धधुरचरन्मदानिलरवना

यूनाभुत्सुकथति मानसममी वासतिका वासरा ॥ ७ ॥

अलमतिप्रसंगेन तद्यावदिदानीमारम्भता मगीतकम् ।

मारिषः—तेन हि किमिति विलम्ब्यते ( नैपण्यामिमुखमवलोक्य )

अहो सुलोचनास्वयवरयात्रामहोत्सवसदर्शनाय चतुरगवलेन सह वाराणसी

माटक में कुशल हैं और यह कथा भी सर्वश्रेष्ठ नये नये चमत्कारों से मधुर है । यह सब हमलोगों के तीव्र भाग्य से एकत्रित हुआ है ॥ ६ ॥

मारिष—जिसमें पुष्परूपी वाण अत्यधिक मात्रा में विकसित हो रहे हैं ऐसा यह वसन्त का समय भी आपका उपकार कर रहा है ।

सूत्रधार—यह ठीक है । अहा ! कोमल कोपलों के समूह से विकसित वसन्त की सुन्दरता आश्चर्यकारी है ।

पुष्पचूत—जिनमें खिलती हुई आल लताओं की कोपलों के खाने से उन्मत्त कीयलों का स्वर उठ रहा है, जिनमें वासन्ती लताओं के फूलों पर घूमते हुए भ्रमरों के शब्दों का आडम्बर फैल रहा है और जिनमें पुष्पित अशोक की सुगन्ध से सुन्दर मन्द-मन्द वायु के झोंके चल रहे हैं ऐसे वे वसन्त के दिन तदृश पुरुषों के मन को उत्कण्ठित कर रहे हैं ॥ ७ ॥

अधिक विस्तार करना व्यर्थ है । अब इस समय संगीत प्रारम्भ किया जाय ।

मारिष—तब क्यों देर की जा रही है ? ( परदे की ओर देख कर ) अहा, सुलोचना की स्वयवर-यात्रा का महोत्सव देखने के लिये चतुरग सेना के साथ वाराणसी की ओर प्रस्थान करनेवाले कौरवेश्वर-जयकुमार के साथ



प्रस्थितेन कौरवेश्वरेण समानीतस्य तंघ्नियसुहृदो विशारदस्य भूमिकामादाय  
रंगत्तरंग इत एवाभिवर्तते । तदावामप्यनंतरकरणीयाय सजीभवावः ।

( इति निष्क्रांती )

प्रस्तावना

( ततः प्रविशति विशारदः )

विशारदः—( परितो विलोक्य ) अहो वसंतसमयमीदमानतरुखण्ड-  
मण्डितेषु नदीतटेषु मध्याह्नपर्यंतसंचारश्रातसैनिकजनप्रचुरा निवेशिता एव  
स्कंधावाराः ।

अद्य हि ।

कच्छान् केप्यधिशेरते तरुतलं प्रच्छायमध्यासते

केचित्केचन सारणीपरिसरे संस्त्यायमातन्वते ।

वध्नंत्यावसथान् परेथ सरसां रोधस्तु रुद्धोष्मसु

ग्रामानेति पुरोपकण्ठसुलभानन्यस्तु भूयान् जनः ॥ ८ ॥

आये हुए उनके प्रियमित्र विशारद का वेप रख कर रङ्गत्तरङ्ग इसी ओर आ  
रहा है इसलिये हम दोनों भी इसके बाद करने योग्य कार्य के लिये तैयार  
हो जावें ।

( दोनों बाहर निकल गये )

प्रस्तावना समाप्त ।

( इसके बाद विशारद प्रवेश करता है )

विशारद—( सब ओर देख कर ) अहा, वसन्त के समय खिलते हुए  
वृक्षों के समूह से सुशोभित नदी के तटों पर मध्याह्न तक गमन करने से  
थके सैनिकजनों से व्याप्त डेरे खड़े कर ही दिये गये ।

इस समय

कच्छान्—कितने ही लोग सजल प्रदेशों में शयन कर रहे हैं, कोई  
सघन छायावाले वृक्षके नीचे बैठे हुए हैं, कोई नहर के किनारे डेरे लगा  
रहे हैं, कोई गर्मी से रहित सरोवरों के तटों पर पाल बाँध रहे हैं और बहुत  
से लोग नगर के समीप सुलभ गाँवों की ओर जा रहे हैं ॥ ८ ॥

( अन्यतोऽवलोक्य ) अहो नैकविध सैनिकानां मनसां श्रेयाःहरणाय ।  
तथाहि ।

शीतापान्निस्त्रनन्ति केप्यधिनदं तापार्तिता कूपकान्  
श्रातैर्भूरिजलावगाहनरसात्पूरं परैर्वार्यते ।  
द्वौकृतेऽद्य फलापचायचपला केचित्फलाद्यान् दुमान्  
कूपोपातमुचो बहत्पुपगतानन्यानुदन्यावतः ॥ ८ ॥

( अन्यतो दृष्ट्वा )

कुल्यायामुपशल्यभूमिषु पुरः प्रोद्यद्विहारवौ  
श्योत्स्नास्रोतसि शीतपाप्यसिलतासत्राघरुद्वोप्मणि ।  
एते याति कृतापगूढमधुना काताभिरश्वश्रम-  
क्लाताभिः सह कर्तुमत्र कतिचित् स्वैरावगाहोत्सयम् ॥ १० ॥

( दूसरी ओर देखकर ) अहा ! सैनिकों के यकायक दूर करने के उपाय  
अनेक प्रकार के हैं ।

जैसे—

शीतापान्—कोई घास से ढुकी होकर नदियों के बीच ठण्डे जल-  
धाला कुइया खोद रहे हैं, कितने हो उनके लोग गहरे पानी में धुस कर स्नान  
का आनन्द लेने के अभिप्राय से पूर को रोक रहे हैं, फल तोड़ने में चपल  
कितने ही लोग फलों से लदे वृक्षों की ओर झपट रहे हैं और प्यास से  
युक्त होने से समीप में आये हुए कितने ही अन्य लोगों को कुओं की समीप-  
धर्ता भूमियों धारण कर रही हैं—कितने ही प्यासे लोग कुओं के समीप भीड़  
लगा रहे हैं ॥ ८ ॥

( दूसरी ओर देख कर )

कुल्याया—इधर नगर की समीपवर्ती भूमियों में कितने ही लोगें मार्ग  
के धम से थकी मादी स्त्रियों के साथ स्वतन्त्रतापूर्वक स्नान का उत्सव करने  
के लिये—स्नान का आनन्द प्राप्त करने के लिये उनसे सट कर उस नहर  
की ओर जा रहे हैं जिससे पक्षियों का शब्द उठ रहा है, जिसका प्रवाह चाँदनी  
के समान निर्मल है और ठण्डी-ठण्डी हरी-भरी लताओं की सघनता से  
जहाँ गर्मी रुक गई है ॥ १० ॥

( पार्श्वालोकितेन निर्दिश्य ) इदं तु पुनरस्मत्स्वामिनः कौरवेश्वरस्य शिविरं नातिदूरे वाराणस्या विविक्त एव प्रदेशे निवेशितम् (आत्मानं निर्वर्ण्य) मार्गश्रमलघूकरणोल्लासं च नः शरीरम् । यावदिदानीं कौरवेश्वरभवनं गत्वा प्रियवयस्यं नन्द्यावर्तं पश्यामि । ( परिक्रम्यावलोक्य च ) अहो प्रत्यग्रसं- निविष्टस्य कौरवेश्वरशिविरस्य महती वृत्तांतता ।

तथाहि ।

ऋजुपु तरुपु लग्ना स्थूलदीघपु गंध-

द्विरदपरिपदेपा रुध्यते वध्यते च ।

इह च विटपिखंडे वाजिनां कल्पयन्ति

स्थगिततरणितापे मंदुरामंदिराणि ॥ ११ ॥

( पुरोऽवलोक्य ) कथमसावग्रतः समुचितस्थानकग्रहणचापलसुलभसैन्य-  
क्षोभचलितचेताः किमपि कुप्यन्नायासयति हस्तिपकानां घातुको गंधगजः ।

( बगल की ओर देख कर इशारा करता हुआ ) यह तो हमारे स्वामी कुरुराज—जयकुमार का डेरा वाराणसी के पास एकान्त और स्वच्छ स्थान में खड़ा किया गया है । ( अपनी ओर देख कर ) मार्ग की थकावट दूर करने से हमारा शरीर स्वस्थ है इसलिये इस समय कुरुराज के डेरे पर चल कर प्रिय मित्र नन्द्यावर्त से मिलता हूँ । ( घूम कर देखता हुआ ) अहा, अभी अभी खड़े किये गये कुरुराज के डेरे का बड़ा हाल है ।

जैसे—

ऋजुपु—इधर यह मदसावी हाथियों की पंक्ति सीधे तथा बड़े मोटे तने वाले वृक्षों से रोकी तथा बाँधी जा रही है और इधर सूर्य के घाम से रहित वृक्ष-समूह के नीचे घोंड़ों की अस्तवर्त्से बनाई जा रही हैं ॥ ११ ॥

( सामने देख कर ) क्या यह आगे योग्य स्थान प्राप्त करने की चपलता से सुलभ सैनिकजनों के कोलाहल से चञ्चल—चित्तवाला मदसावी हाथी कुछ कुछ क्रोध प्रकट करता एवं मारने के लिये उद्यत होता हुआ महावर्त्तों को खेदयुक्त कर रहा है ?

तथाहि ।

तिर्यक् पश्यति पृष्ठतोऽपसरति स्तब्धे करोति श्रुती.

शिखा न क्षमते शिरो विधुनुते घटास्वनायेर्यते ।

सदेग्वि प्रतिहस्तिनं प्रकुपितो दानांबुगध निज

क्षमामाहति करेण याति न वशां क्रोधाद्गुर. सिधुर. ॥ १२ ॥

( पदातरे स्थित्वा ) कथमसौ स्वरैचारिपतिपथिपथा । तदितो वय

( अन्यतो गतरा अवलोक्य च ) कथमिहाप्यनारवास ( पुनर्निरीक्ष्य )

कथ प्रतिव्यूढ प्रत्यूह । तथाहि—

परिभ्रष्ट स्थानात्कथमपि समतात्प्रचलितै-

र्यलोचदो धावन्नयमनुसृतो वाहयितुमि ।

मुखप्रोते पाशे विलुठति कथंचित् तदवधौ

सुरप्रान्तालग्ने सपदि निपतन् गृह्यत इह ॥ १३ ॥

जैसे—

तिर्यक्—क्रोध से प्रचण्ड यह हाथी कमी तिरछा देखता है, कभी पीछे हटता है, कभी दोनों कान खड़े करता है, शिखा को सहन नहीं कर रहा है, शिग हिलाता है, बगटा के शब्द से ईर्ष्या करता है, अपने ही मद-जल के गन्ध से कुपित होकर विरोधी हाथी की शङ्का करता है, सूँठ से पृथिवी को ताकित कर रहा है और ठथिनी के पास नहीं जा रहा है ॥ १२ ॥

( दूसरी ओर खड़ा होकर ) क्या यह मार्ग स्वतन्त्रतापूर्वक चलने वाले लोगों का विरोधी है इस लिये हम इस ओर हुए जाते हैं । ( दूसरी ओर जाकर तथा देखकर ) क्या यहाँ भी चैन नहीं है ? ( फिर देख कर ) क्या विघ्न एक दम छूट पड़ा है ? जैसे—

परिभ्रष्ट—यह बैल किसी तरह अपने स्थान से छूट कर दौड़ रहा है और चलाने वाले लोग सब ओर से दौड़ते हुए उसका पीछा कर रहे हैं, बैल के मुह में लगी रस्सी पृथिवी पर घिसटती जा रही है । इसी बीच वह रस्सी बैल के खुर में उलझ जाती है जिससे बैल शीघ्र ही गिर पड़ता है और चलानेवाले लोग उसे लपक कर पकड़ लेते हैं ॥ १३ ॥

( परिक्रम्य क्षणं स्थित्वा ) अहो अयं पौनरुक्त्यविमुखो जनस्यालयः ।  
अत्र हि ।

तुच्छच्छायः स देशः स तु विरलजलः सापि पाथःप्रहीणः  
सा भूमिः चारतोया परुषदृषदसौ शर्कराकर्करा सा ।  
तत् क्षेत्रं कंटकाढ्यं तृणावकलमदस्तत्तु धूलीकरालं  
छायास्वेवं तरुणामभिदधाति मिथः शैविरा मार्गदुःखम् ॥ १४ ॥  
( परिक्रम्यावलोक्य च ) अहो स्पृहणीय खल्वेतत् ।  
अत्र हि ।

प्रच्छायाशीतलमहोरुहपादमूला-  
न्यध्यासते प्रियतमांकसमर्पिताङ्गाः ।  
अध्वश्रमार्तनयनं वदनं दधत्यः  
कांता वनांतचलिताय समीरणाय ॥ १५ ॥

( परिक्रम्यावलोक्य च ) कथमितो वारस्त्रीणां सद्धानि । अहो असा-  
धारणः खलु वारवनितानां मंडनप्रकारः ।

( घूम कर तथा थोड़ी देर रुक कर ) अहा, मनुष्यों का यह स्थान  
पुनरुक्ति से रहित है—यहाँ सब नये नये दृश्य दिखाई दे रहे हैं ।

इस समय—

तुच्छच्छायः--वह देश अल्प छायावाला था, वहाँ पानी बहुत कम  
था, वह विलकुल ही पानी से रहित था, वह भूमि खारे पानी से युक्त थी,  
वह कठोर पत्थरों से युक्त थी, वह कंकड़ों से कठोर थी, वह स्थान काँटों के  
सहित था, वह घास से रहित था, और वह धूलि से भयंकर था....इस प्रकार  
वृक्षों की छाया में बैठे हुए सैनिक परस्पर मार्ग के दुःख कह रहे हैं ॥ १४ ॥

( घूमकर और देख कर ) अहा, यह तो बड़ा सुन्दर दृश्य है ।  
यहाँ—

प्रच्छाया—मार्ग के श्रम से दुखी नेत्रों से युक्त मुख को धारण करती  
हुई स्त्रियां पतियों की गोद में शरीर को समर्पित कर वन के उस छोर से  
चली हुई वायु के लिये सघन छाया से शीतल वृक्षों के नीचे बैठी हुई हैं ॥ १५ ॥

( घूमकर तथा देख कर ) क्या इस और वेश्याओं के डेरे हैं ? अहा,  
सचमुच वेश्याओं की संजावट की विधि अनुपम है ।

कुत. ?

कदा पटकटी कृता प्रशमितः कदाध्वश्रम  
कदा व्यजनं मञ्जनं विरचितं कदा मडनम् ।  
गृहेष्विव पुरं स्थितं परिचितेषु सज्जस्त्वसौ  
कं जेष्यति विलासिनीजनममुं जनं कौशलात् ॥ १६ ॥

( विचित्र ) इयं खलु कार्यान्तरव्यापृतानां पथ्या रथ्या तदितो ययम् ।  
( परिक्रम्यावलोक्य च ) इदं कौरवेश्वरमवनम् । ( पार्श्वालोकितेन )  
अये अयमुत्तरेण राजगृहवाह्यालिङ्गं विस्तीर्णप्रसारितदूष्यपटकायमाननि-  
पण्य कामपि दर्शनीयतामुद्ब्रह्मति राजवाहनप्रधानगणधरा ।

तथाहि ।

हरितकलमपूलप्रयिनासौ सक्षोला  
व्यजनि वदनभागानम्रहस्तोद्धृतेन ।

कैसे ?

कदा—इन्होंने कब डेरा लगा लिया ? कब मार्ग को बकावट दूर कर  
ली ? कब स्नान कर लिया ? और कब सजावट कर ली ? ये तो ऐसी तैयार  
हो गई हैं मानो नगर के परिचित घरों में ही रह रही हों । अन्य मनुष्य  
अपनी कुशलता से इन वेश्याओं को कहा जीत सकेगा ? ॥ १६ ॥

( विचार कर ) यह मार्ग अन्य कार्यों में लगे हुए मनुष्यों के लिये  
हितकारी है इसलिये हम इस ओर हुए जाते हैं । ( धूमकर और देखकर )  
यह कुहराज—जयकुमार का डेरा है ( बगल में देख कर ) अहा, यह राज-  
मवन से उत्तर की ओर लम्बी-चौड़ी चौदनी के समान दीखनेवाला बैठा  
हुआ कुहराज की सवारी का प्रधान गजराज किसी अनिर्वचनीय सुन्दरता  
को धारण कर रहा है ।

जैसे—

हरित—यह गजराज हरी धान के पूला से उत्सुकतावश चञ्चल हो रहा  
है फिर सूड़ के अग्रभाग से उस पूला को उठा कर मुँह को चलाता है पुनः

ध्वनि नितांतकथितसरस्सलिलतापभयपलायमानजलपतत्रिनिपेवितपत्रलतीर-  
कच्छांतरे निदाघोष्मदुर्निरीक्षान्तरिक्षे दुष्यमाणदुःस्पर्शमर्मरवर्ममानतपरि-  
संदे क्रमादतिक्रांते मव्यंदिनसमये मध्याह्नापसंततनभःस्थलावस्थिति-  
मसहमान इव अपरकाष्ठाभिमुखे लंघमाने भगवत्पंजरमणौ जातायां च  
किंचिचरणसंचरणक्षमायां क्षमायां प्रोज्झंतीषु च पथिकैः समं तरुमूलानि  
छायासु प्रशांतप्राये दिवसोष्मणि प्रहतायां च तृतीयप्रहरावसानशंसिन्यां  
भेयां प्रवर्तमाननगरदेवतायात्रामुपश्रुत्य वाराणसीदर्शनकुतूहली सार्धम-  
स्माभिरुत्थितो हस्तिनाधिपतिः ।

विशारदः—वतस्ततः ।

नन्दावर्तः—ततश्च निर्वर्तिताशेषपरिजनः परिमितात्मयमुखविलम्बजन-

के पर्यटन का अभाव होने से मार्ग सुनसान हो रहे थे, जब अत्यन्त खौलते हुए सरोवर के जल के संताप के भय से भागते हुए जल-पक्षी किनारे के पतीले वनों के भीतर जा बैठे थे, जब घाम की गर्मी से आकाश की ओर देखना कठिन हो रहा था, और जब विकार उत्पन्न करनेवाली असहनीय लू की लहरें चल रही थीं ऐसे मध्याह्न का समय क्रम-क्रम से व्यतीत हो जाने पर जब भगवान् सूर्य मध्याह्न के संताप से संतप्त आकाश के मध्य स्थिति को न सहन कर सकने के कारण ही मानो पश्चिम दिशा की ओर नीचे चले गये थे, जब पृथिवी पैरों के कुछ कुछ संचार के योग्य हो गई थी, जब वृक्षों की छायाएँ पथिकों के साथ-साथ वृक्षों के मूलभाग को छोड़ रही थीं, जब दिन की गर्मी प्रायः शान्त हो चुकी थी और जब तीसरे पहर की समाप्ति को सूचित करनेवाली मेरी वज्र उठी थी, 'तब' नगरदेवता की यात्रा प्रारम्भ हो गई है' यह सुन कर वाराणसी को देखने-सम्बन्धी कौतूहल से युक्त कुरुराज—जयकुमार हम लोगों के साथ उठ खड़े हुए ।

विशारदः—फिर क्या हुआ ?

नन्दावर्तः—फिर समस्त परिजनों को जिन्होंने लौटा दिया था ऐसे कुरुराज—जयकुमार, मुझको लेकर विश्वासपात्र कुछ लोगों के समूह

परिवारपरिवृत सुदरतममणिमण्डितवदनमालालकृतमुकरतीरणा वाराण-  
सीमभिप्रचलित ।

विशारद—ततस्तत ।

नद्यावर्तः—ततश्च ।

अभोरुहोदरपरिभ्रमलब्धगधैः

सभोगखिन्नयुवतीश्रमवारिचोरैः ।

गगात्तरंगपरिमर्शमनोह्रशीतैः

स्निग्धामसौ सपदि तामगमत्समोरै ॥ १६ ॥

विशारद—ततस्तत ।

नद्यावर्तः—प्रविश्य च वाराणसीं कचिद्वीणां त्रानप्रदेशे तुरगमकरा-  
दवहृत् तत्रैव छत्रधारिणा अश्ववारेण तुरगमकर चावस्थाप्य केवल सार्धं  
मया धनुर्माहिणा चासिधेनुकेन कौरवेश्वर प्रवर्तमाननगरदेवतायात्रा  
काशीराजपुरीमुपसृत्य कचिद्वचुरत्तररथतुरगगणपदातिवचास्दुर्गमान् मार्गान्,

से परिवृत होते हुए अत्यन्त सुन्दर मणिमय वन्दनमालाओं से जिसके तीरण-  
द्वार अलंकृत हो रहे थे ऐसी वाराणसी की ओर चल पड़े ।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—अभोरुहोदर फिर वे कमलों के भीतर घूमने से मुग्नियत,  
सभोग से खिन्न स्त्रियों के स्वेद को हरण करनेवाले एव गङ्गा की लहरों के  
संसर्ग से मनोहर और शीतल वायु से सुन्दर वाराणसी की ओर चल  
पड़े ॥ १६ ॥

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—फिर वाराणसी में प्रवेश कर किसी जीर्ण उद्यान के एक  
स्थान में घोड़े से उतरे और छत्र लगानेवाले अश्ववार के द्वारा घोड़ा बँधवा  
कर मात्र मुझे और धनुष धारण करनेवाले आसिधेनुक को साथ ले जहाँ  
नगरदेवता का यात्रा चालू थी उस वाराणसी में जा पहुँचे । वे वहाँ कहीं  
तो अत्यधिक रथ, घोड़े, हाथी और पैदल सैनिकों के आवागमन से जिनमें



कचित्कमलकुड्मलकोमलांजलिपुंजमंजुलभक्तजनसहस्रसंकुलानि, देवकुलानि  
 कचिदुन्निद्रकुमुमकरंदामोदमेदुरपवनान्युपवनानि, कचित्प्रचलवीचिनिचय-  
 विलुप्यमानविकचसरसिजरजांसि सरासि, कचित्सुरवनितासदृजयुवतीजनविहार-  
 रम्याणि हर्म्याणि, कचिदतद्दृश्यमानकामिनीवदनकातिवितीर्णकामिजननय-  
 नोपायनानि वातायनानि, कचित्कृततपनतापनिग्रहाणि, धारागृहाणि कचिदुल्लोल-  
 कल्लोललोलं वनिकुरुम्बकरश्चित्प्रांतविराजितमनोज्ञनिष्कुटान्, शृङ्गाण्टककूटान्  
 कचित्पणपरिणमनकुपिताक्षिकरुक्कण्ठत्रोपजितराजसभाः द्यूतसभाः, कचिदर्धा-  
 सनोपविष्टप्रियतमानुवर्तनप्रियान् युवनिकरान् कचिदुन्मिपन्मकरतोरणनिवद्ध-  
 रत्नच्छविशिखाविशिखाः पश्यन् क्रमेण राजभवनगामिनी मार्गात्त्रातिसंनिक्-  
 ष्टस्य परिपुष्टपरपुष्टचटुलचंचुविघटितमुकुलितपुटविकीर्यमाणमकरंदं विदुधारा-  
 जितालवालपरिसरस्य मधुमदमत्तमधुकरमनाहारिभंकारस्य सहकारस्य तले  
 विविकितौत्सुक्यान् मुहूर्तमासिष्ट ।

चलना भी कठिन था ऐसे मागों को, कहीं कमल की बोंडियों से युक्त कामल  
 अञ्जलियों के समूह से सुन्दर हजारों भक्तजनों से व्याप्त मन्दिरों को, कहीं  
 खिले हुए फूलों की मकरन्द-सम्बन्धी सुगन्ध से व्याप्त वायु से युक्त उपवनो  
 को, कहीं चञ्चल लहरों के समूह से जिनमें खिले हुए कमलों की पराग छीनी  
 जा रही थी ऐसे तालावों को कहीं देवाङ्गनाथों के समान तरुण स्त्रियों के  
 मुखों की कान्ति के द्वारा कामी मनुष्यों के नेत्रों के लिये उपहार वितरण  
 करनेवाले भरोखों को कहीं सूर्य के संताप का निग्रह करनेवाले फव्वारों  
 को, कहीं लहराते हुए—एक के बाद एक आनेवाले भ्रमरों के समूह से  
 व्याप्त प्रदेशों से सुन्दर गृहोद्यानों से युक्त चौराहों को, कहीं पांसों के प्रतिकूल  
 पड़ने से कुपित जुवाड़ियों की रूखी गल-गर्जना से राजसभाओं को जीतने  
 वाली द्यूतसभाओं-जुए के स्थानों को, कहीं अर्धासन पर बैठी प्रियतमाओं के  
 अनुनय करने में निपुण तरुणों के समूह को, और कहीं मकरतोरणों में  
 खचित रत्नों की किरणों के अग्रभाग से युक्त गलियों को देखते हुए क्रम से  
 एकान्त स्थान की उत्सुकता के कारण उस आश्रयस्थ के नीचे थोड़ी देर के  
 लिये बैठ गये जो राजभवन की ओर जानेवाले मार्ग से कुछ दूरी पर स्थित  
 था, जिसकी क्यारी का घेरा दृष्ट-पुष्ट कोयलों की चञ्चल चोंचों से खोली हुई  
 बोंडियों से बिखरते मकरन्द-सम्बन्धी बूंदों की धारा से सुशोभित था और  
 जिसपर मधु के नशा से उन्मत्त भ्रमरों की मनोहर भंकार हो रही थी ।

विशारद.—ततस्ततः ।

नद्यावर्त—अत्रातरे नगरदेवतायात्रात प्रतिनिवर्तमानस्तेनैव वर्तमाना प्रावर्तिष्ठन्तु महान् पौरलोकः ।

विशारद—वचित एवास्मि यात्रादर्शनकौतुकात् ।

नद्यावर्त.—सखे मा खेदं करिष्यामि । सुलोचनास्वयं यत्रात्रात प्राक् पश्चाच्च दिनत्रयं नगरदेवतानामकम्पनेन यात्रा प्रवर्त्यते इति किंवदन्ती । न खल्वद्यैव यात्रापुरणम् । तद्दर्शयिष्यते एव ।

विशारद—कदा नु खलु सुलोचना स्वयं वरिष्यति ।

नद्यावर्त.—इतरन्तृतीयेह्येति वदति ।

विशारद—भवतु कथाशेष एव कथ्यताम् ।

नद्यावर्त—ततश्च दूरितोत्सारिताशेषजनसमूहैः समापतन्नि प्रतिहारैः परिवारितं मनुष्यजानमभीरेण मदप्रवृत्तितमेखलागुण्येन सलीलमुजलता-

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नद्यावर्त—इसी के बीच, नगरदेवता की यात्रा से लौटनेवाले नागरिक जनों का एक बड़ा समूह उसी मार्ग से जाने लगा ।

विशारद—मैं यात्रा देखने के कौतुक से वञ्चित ही रह गया ।

नद्यावर्त—मित्र ! खेद नहीं कीजिये । 'सुलोचना की स्वयंवर यात्रा के पहले और पीछे तान दिन तक महाराज अकम्पन के द्वारा नगरदेवता की यात्रा जारी रखी जावेगी' ऐसी अफवाह है, आज ही यात्रा पूर्ण नहीं हुई है । इसलिये आप बाराणसी देख लेंगे ।

विशारद—सुलोचना स्वयंवर कब करेगी ?

नद्यावर्त—'आज से तीसरे दिन' ऐसा लोग कहते हैं ।

विशारद—खैर, कथा का शेष भाग ही कहा जाय ।

नद्यावर्त—तदनन्तर धीरे धीरे चलनेवाले चार पुरुषों के द्वारा ले जाई जानेवाली एक ऐसी पालकी पर बैठी अत्यन्त मुन्दर स्त्री दिखाई दी जो समस्त मनुष्यों की भीड़ की दूर से ही अलग करनेवाले तथा घेर कर चारों ओर चलनेवाले सेवकों से घिरी हुई थी, जिसे ऐसी स्त्रियाँ घेरे हुई थीं

विक्षेपरणितमणिवलयेन पवनैर्ग्यालिङ्गनकुतूहलादिव स्तनांशुकांतप्रवेशिभिः  
 सेव्यमानेन स्तनभरोद्ग्रहनश्रमनिश्वासैरपि रसास्वादलोभादिव निपीयमानाधरेण  
 मणिकर्णिकारत्नकिरणमजरीकलापेन वंचनरसादिव स्पृष्टकपोलतलेन मुग्ध-  
 हरिणमसृणस्निग्धविप्रेक्षितेन हासोत्तरमधुरभाषितेन शिरापकुमुममुकुमारशरी-  
 रेण तांस्तांश्च परिच्छदान् गृह्णता वागृह्णता च पादचारिणा स्त्रीलोकेन  
 परिष्कृतं संमुखासीनतामूलदायिनीसनाथं मंदमंदसंचारिणापि पुरुषचतुष्टयेनो-  
 ह्यमानं चतुरंतयानमध्यासोना दर्शनीयानामपूर्वं धाम दर्शनपथमागता कापि  
 स्त्रीसृष्टिः ।

विशारदः—ततस्ततः ।

नन्दावर्तः—अवर्तिष्ट च ततः काशीराजदुहिता सुलोचनेयमिति महान्  
 जनवादः ।

विशारदः—ततस्ततः ।

जिनके नूपुर मनोहर रुनझुन कर रहे थे, जिनकी मेखलाएँ मन्द-मन्द शब्द  
 कर रही थीं, जिनकी मणिमयी चूड़ियां लीला-सहित भुजलताश्रों के संचा-  
 लेन में खनक रही थीं, वायु भी मानों आलिङ्गन के कुतूहल में जिनके स्तनों  
 के भीतर घुसकर जिनका उपभोग कर रहा था, स्तनों का भार धारण करने  
 की थकावट से उत्पन्न श्वासोच्छ्वास भी रस के आस्वाद के लोभ से मानो  
 जिनके अधर का पान कर रहा था, मणिमय कर्णभरण में ग्वचित रत्नों की  
 किरण रूप मञ्जरी का समूह वचनों का रसास्वाद लेने के लिये ही मानो  
 जिनके गालों का स्पर्श कर रहा था, जिनकी चितवनें नीले हरिण की चितवनों  
 के समान चिकनी तथा स्नेहपूर्ण थीं, जो हँसती-हँसती मधुर भाषण करती  
 थीं, जिनका शरीर शिरीष के फूल के समान मुकुमार था, जो आवश्यक  
 उपकरणों को लिये हुई थीं, कोई बिना लिये हुई थीं तथा पैदल चल रही  
 थीं । वह पालकी सामने बैठी हुई पान देनेवाली स्त्री के सहित थी ।

विशारदः—फिर क्या हुआ ?

नन्दावर्तः—तदनन्तर 'यह काशीराज की पुत्री सुलोचना है' इस प्रकार  
 लोगों का बहुत भारी हल्ला शुरू हुआ ।

विशारदः—फिर क्या हुआ ?

नद्यावर्त—ततश्च कौरवेश्वरस्तामपश्यत् ।

निष्पन्दस्तिमितेक्षण क्षणमसौ सजातकौतूहलं ।

प्रादुर्भूतनितातविस्मयरसप्रस्मेरगण्डम्यलं ।

व्यापारातरशून्यमूढकरणग्रामस्त्वैवान्वभूत्

कामप्याहितमोहरुद्धदयामतवर्जया मादनीम् ॥ २० ॥

विशारदः—ततस्ततः ।

नद्यावर्त—ततश्च ।

किमकृत किमवादीत् कोदश कीदृशोऽभूत्

कुरुपतिरिति चक्षु व्यक्तमेतन्न विद्मः ।

व्यधित विधुरसत्त्वः कौतुकस्तद्व्यपद्मा

निगलितमिष तस्या केवल नेत्रयुग्मम् ॥ २१ ॥

विशारदः—अहो तथाविधानामप्यतिविषेय धैर्यस्वलनमिति यत् सत्यम-  
शरण सत्त्वम् । सखे ततः ।

नन्दावर्त—नदनन्तर कौरवेश्वर—जयकुमार ने उमे देखा ।

निष्पन्द—नदनन्तर क्षणभर के लिये चिनके नेत्र निश्चल होकर रुक गये हैं, जिन्हें कुतूहल उत्पन्न हो रहा है, प्रकट हुए आश्चर्य रस से चिनके गाल मन्द मुस्कान से भर रहे हैं, और चिनकी इन्द्रियों का समूह अन्य कार्यों से शून्य हो किंकृतव्यविमूढ हो रही हैं ऐसे कौरवेश्वर ने उसी समय समुत्पन्न मोह ने हृदय को रोकनेवाली कामसम्बन्धी किसी मानसिक व्यथा का अनुभव किया ॥ २० ॥

विशारद—फिर क्या हुआ ।

नन्दावर्त—फिर

किमकृत—कुरुराज ने क्या किया, क्या कहा, और दैमे-कैमे वे हुए, यह स्पष्ट कहना हम नहीं जानते । हम तो इतना ही कहना जानते हैं कि उन्होंने धैर्यरहित हो कर तथा पलकों को कौतुक से रोक कर अपने दोनों नेत्र मानो उसमें गड़ा दिये थे ॥ २१ ॥

विशारद—आश्चर्य है कि ऐसे लोगों का मोह इस प्रकार धैर्य छूट जाता है । तब तो यही कहना चाहिये कि धैर्य सचनुच हो रक्षक से रहित है—धैर्य का कोई रक्षक नहीं रहा । भिन ! फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्तः—तथा व्रजंती काशीराजपुत्री ।

अथ सपदि यदृच्छावद्धलक्ष्यां वलक्ष-

द्युतिशवलितपातां कौरवे गौरवेण ।

न्यधित दृशमपांगासंगिनीं स्निग्धमुग्धां

कुवलयदलदामश्यामलां कोमलाङ्गी ॥ २२ ॥

विशारदः—तदेतदुन्मिषितोन्मादनं यदुत कामयमानस्य पुंसः प्रेयस्या सह नयनसंभेदः । ततः ।

नन्द्यावर्तः—अथ तस्यां प्रथमतः अनुभूयमानमन्मथरसमन्थरितविभ्रमायां तिरोहितायां क्रमेण काशीराजसुतायां कौरवेश्वरस्तन्मार्गदत्तदृष्टिरित्यमभूत् । मूढ इव विलिखित इव उत्कीर्ण इव विशीर्ण इव मुषित इव आविष्ट इव द्रुत इव दीन इव ।

नन्द्यावर्तः—

फिर उस तरह जाती हुई कोमलाङ्गी सुलोचना ने बड़े गौरव के साथ कुरुराज पर शीघ्र ही अपनी वह दृष्टि डाली जिसका लक्ष्य अनायास ही बद्ध हुआ था, जिसकी चितवन सफेद कान्ति से चित्रित थी, जो कटाक्षों से युक्त थी, स्नेहपूर्ण तथा मनोहर थी, और नीलकमलदल की माला के समान श्याम वर्ण थी ॥ २२ ॥

विशारद—जो चाहने वाले पुरुष का प्रेयसी के साथ नेत्रों का मिलना है वह तो बड़े हुए अनुराग की और भी अधिक बढ़ानेवाला है । फिर क्या हुआ ?

नन्द्यावर्त—तदनन्तर सर्वप्रथम अनुभव में आनेवाले कामरस से जिसके हावभाव अल्पमात्रा में प्रकट हो रहे थे ऐसी सुलोचना के क्रम-क्रम से अन्तरित हो जाने पर कुरुराज उसी के मार्ग में दृष्टि लगाकर ऐसे हो गये मानो मूढ—विचारशक्ति से रहित हो गये हों, मानो चित्र में अद्विक्त हों, मानो उकेरे गये हों, मानो गल गये हों, मानो छुट गये हों, मानो पिशाच से आक्रान्त हो गये हों, मानो पिघल गये हों, अथवा मानों दीन हो गये हों ।

विशारद—अहो अतिप्रसन्नम् । अथवा एतदपि समाव्यत एव, न स्वल्पतर एवावस्थान निपतत प्रस्तरस्य । तत ।

नद्यावर्तः—ततश्च मग हस्ते गृहीत्वा देव दृष्टेव सर्वतो वाराणसीति, बलाच्चिराध्यमान प्राग् गृहीतामपि ताम्बूलवीटिकांमनिच्छाशिथिलेन हस्तेन मम हस्ते विसृज्य शून्यात करण एवापरीक्षितपदव्यास विसृज्युलया गत्या तदेव जीर्णोद्यानमासाद्य आरूढतुरगम सार्धमस्माभि पुनरिहागत ।

विशारदः—तत ।

नद्यावर्तः—आदिशन् गोपायितु निषिद्धाशेषपरिजन प्रविष्टोऽन्यतरम् । अतः च मार्गायासदानेव स्वपत्नार्यसौधातकिस्तदागमनं ज्ञात्वा सत्वरमुपस्थित । विशारदः—तत ।

नद्यावर्तः—ततश्च सौधातकिं हस्ते गृहीत्वा किमपि वस्तुकाम इव शयन-मङ्गिका प्रविश्य पर्यंकिकामलकृतवान् ।

विशारद—आश्चर्य है कि बात बहुत बढ़ गई । अथवा यह भी संभव ही है क्योंकि गिरते हुए पत्थर का बीच में ही रुकना नहीं होता । फिर क्या हुआ ?

नन्यावर्त—नदनन्तर हाथ पकड़ कर मैंने उससे बलपूर्वक आग्रह किया कि देर ! वाराणसी तो सत्र ओर से देख ही ली है । यह धुनकर उन्होंने जो पान का बीड़ा पहले ले रखा था उसे अनिच्छा से शिथिल हाथ से मेरे हाथ में वापिस छोड़ दिया और शून्य-हृदय हो बिना देखे पैर रखते हुए अटपटी चाल से उसी जीर्ण उद्यान में आ गये तथा घोड़े पर सवार हो हमलोगों के साथ वहां आ गये ।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्यावर्त—रक्षा करने की आज्ञा देते हुए समस्त परिजनों का रोककर भीतर चले गये । भीतर मार्ग को यकायक के कारण आर्य सौधातकि ( विदूषक ) यहीं सा रहा था साथ में नहीं गया था । वह कुरुराज का आगमन जान कर शीघ्र ही आ पहुँचा ।

विशारद—फिर क्या हुआ ?

नन्यावर्त—फिर सौधातकि का हाथ पकड़ कर मानो कुछ कहने की इच्छा रखते हुए शयनकक्ष में प्रवेश कर पलंग को मुहोभित करने लगे ।

विशारदः—प्रायेण तद्दर्शनवृत्तान्तमेव आत्मनि सोढुमक्षमस्तस्मै विवक्षति ।

नन्द्यावर्तः—वाटं तथैव ।

विशारदः—युक्तमेव प्रियसुहृदे स्वानुभूतं निवेदयितुम् । सखे गच्छत्वै-  
तत् । एहीदानीं गृहं गत्वा काञ्चिद्वेलां विश्रमिष्यावः ।

नन्द्यावर्तः—यदाह वयस्यः ।

( परिक्रम्य निष्क्रान्तौ )

( शुद्धविष्कम्भः )

( ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च )

राजा—(दृष्ट्वा च तामद्भुतदशनां किमप्यन्तर्विस्मयमानो मनस्यकार्पात्)

इयं चेत् सृष्टा स्यादमृतनिधिनैवेन्दुवदना

कथं क्लाम्यत्क्रान्तिः सृजतु स इमामस्थिरकलः ।

विशारद—अधिकतर उसी के देखने का वृत्तान्त अपने आप में सहन करने के लिये असमर्थ होते हुए सौधातकि के लिये कहना चाहते हैं ।

नन्द्यावर्त—हां, ऐसा ही है ।

विशारद—प्रिय मित्र के लिये अपनी अनुभूत बात का बताना उचित ही है । मित्र ! यह रहने दो, आओ अब घर जाकर कुछ समय तक विश्राम करेंगे ।

नन्द्यावर्त—जो मित्र कहें ।

( धूमकर दोनों निकल गये )

[ शुद्ध विष्कम्भ ]

( इसके अवन्तर राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं )

राजा—( उस आश्चर्यकारक दर्शनवाली सुन्दरी को देख कर भीतर-भीतर कुछ आश्चर्य करता हुआ राजा मन में विचारता है ) ।

इयं—यदि यह चन्द्रमुखी चन्द्रमा के द्वारा रची गई है तो क्षीण कान्ति से युक्त तथा अस्थिर कला वाला वह चन्द्रमा इसे कैसे रच सकता है ? यदि

अथैनां कामश्चेत् प्रकृतिललित स्रष्टुमुचित.

स्वसत्तायां कोन्य. प्रथममवलबोस्य भवतु ॥ २३ ॥

विदूषकः—मो वञ्चस्व किं शुं खुं सा जह सुणिजइ स्वसीहग्गेण तह एव्य परमत्यदोवि । ( मो वयस्य किं नु खलु सा यया श्रूयते रूपसीमाग्देन तथैव परामार्थतापि )

राजा—वयस्य यथाश्रुतमित्यहमिदमुच्यते । सा खलु ।

शृंगारस्य गरीयसी परिणतिर्धिरवस्य समोहिनी

विद्या काप्यपरा परा च पदवी सौन्दर्यसारश्रियाम् ।

उहामो मदनस्य यौवनमद् कुल्या रतिस्रोतसां

केलिबिभ्रमसपदामविकलो लावण्यपुण्यापणः ॥ २४ ॥

विदूषकः—तेण हि लुत्त एव्व मन्ममलोअस्स अलकरणि सुलोअणि वण्णोत्ति लोओ । ( तेन हि युक्तमेव मध्यमलोकस्यालकरणा सुलोचना वर्णयति लोक )

यह कहा जाय कि स्वभाव से सुन्दर कामदेव इसे रचने के लिये उचित हो सकता है तो पहले इस काम की निजसत्ता का आधार दूसरा कौन है ? काम स्वयं अशरीर है अशरीर व्यक्ति दूसरे को कैसे रच सकता है ? ॥ २३ ॥

विदूषक—हे मित्र ! वह रूप और सौभाग्य से जैसी सुनी जाती है क्या यथार्थ में वैसी ही है ?

राजा—जैसी सुनी जाती है यह बात तो बहुत छोटी कही जाती है । वह यथार्थ में—

शृङ्गारस्य—शृङ्गार रस की श्रेष्ठ परिणति है, समस्त ससार की कोई मोहिनी विद्या है, सौन्दर्यरूप श्रेष्ठ लक्ष्मी की उत्कृष्ट पदवी है, काम की जवानों का मारी मद है, रति के प्रवाहों की नदी है, हाव भाव रूप सपदाओं की क्रीड़ा है और सौन्दर्य का अखण्ड पवित्र बाजार है ॥ २४ ॥

विदूषक—तब लोग सुलोचना को मध्यमलोक का अलंकार कहते हैं । यह ठीक ही है ।



राजा—वयस्य अपश्यन् कः प्रत्येति । सा हि ।

शीतांशोरविनिस्सृता नयनयोराह्लादिनी चंद्रिका  
द्रागंतर्दधती मदं च मदिरातंत्रैरनिर्वर्तिता ॥  
पुष्पैरग्रथिता निसर्गललिता माला मनोहारिणी  
जीमूतादकृतोद्गतिः स्थितिमती विद्युत्समुद्योतिनी ॥ २५ ॥

विदूषकः—अहो अच्चेअरं । ( अहो आश्चर्यम् )

राजा—अपि च । समग्रेन्द्रियग्रामसमाह्लादिनी पुनरित्थमुत्प्रेक्ष्यते ।

गात्रे चंदनचर्चा मुखे सुधा वकुलपरिमलो घ्राणे ।  
परिवादिनी श्रवणयोरीक्षणयोः शारदी ज्योत्स्ना ॥ २६ ॥

विदूषकः—एसा सीमा पसंसाओ । ( एसा सीमा प्रशंसायाः )

राजा—तामेव पुनस्सकौतुकं च बहुमानं च सानुरागं च निर्वर्णयतः

राजा—मित्र ! बिना देखे कौन विश्वास करेगा ? वास्तव में वह—

शीतांशोः—नेत्रों को आनन्दित करने वाली चन्द्रमा से नहीं निकली चांदनी है, साधक कारणों से नहीं बनी हुई भीतर शीघ्र हा मद उत्पन्न करने वाली मदिरा है, फूलों से अगुम्फित मन को हरण करने वाली स्वभाव सुन्दर माला है, और मेघ से अनिःसृत स्थिर रहने वाली प्रकाशमान बिजली है ॥ २५ ॥

विदूषक—अरे ! बड़े आश्चर्य की बात है ।

राजा—अथवा, समस्त इन्द्रियों के समूह को आनन्दित करने वाली उसकी इस प्रकार उत्प्रेक्षा की जा सकती है ।

गात्रे—वह शरीर पर चन्दन का लेप है, मुख में अमृत है, नासिका में मौलश्री की सुगन्धि है, कानों में वीणा है और नेत्रों के लिये शरद् ऋतु की चाँदनी है ॥ २६ ॥

विदूषक—यह तो प्रशंसा की सीमा है ।

राजा—उसी को जब मैंने पुनः कौतुक, बहुत सन्मान और अनुराग के साथ देखा तो मेरा श्रेष्ठ धैर्य काम के बाणों के समूह से खण्डित हो गया,

स्मरशरानिकरनिकृत्तसत्त्वसारस्य प्रविक्ष्यमतर्विशौर्यमाश्रयैर्यानिष्टमपारिप्लवह-  
दयस्य विवर्तमानदुर्वारमनोरथसहस्रद्रुयमानस्य ममाभूच्चेतसि ।

आघ्राणव्यवधायिना स्तनतटे किं चन्दनेनामुना  
किं गाढ परिरममन्तरयता स्थूलेन हारेण वा ।

रुधानेन किमुत्तरीयसिचयेनेच्छाविहारं दृशो-

यद्वा यत्स्पृहणीयमस्ति सुलभास्तस्यान्तराया अपि ॥ २७ ॥

विदूषकः—तदो तदो । ( ततस्ततः )

राजा—ततश्च सद्यपिनि जने कुताप्यस्मदधिष्ठितायां दिशि व्यापारि-  
तदृशि स्वयमपि चलराफरीचारलोचना तत्रैव यदृच्छया प्रचलमधुकरमाला-  
सदृशी दृश्यमदात् ।

विदूषक —एसो एस्य समस्तासो जट्वञ्जस्तोवि ताए दिट्ठोत्ति । ( एयोत्र-  
समाश्वास. यद्वयस्योपि तया दृष्ट इति )

क्षण-क्षण में भीतर ही भीतर नष्ट होते हुए धैर्य के आलम्बन से मेरा हृदय  
चञ्चल हो उठा और उठते हुए हजारों दुर्निवार मनोरथों से मैं दुखी हो  
गया । उस समय मेरे मन में विचार उत्पन्न हुआ कि—

आघ्राण—सूधने में व्यवधान उत्पन्न करने वाले, स्तनतट पर लगे हुए  
इस चन्दन से क्या प्रयोजन है ? गाढ़ आलिङ्गन को रोकने वाले स्थूल हार  
से क्या मतलब है ? और नेत्रों के इच्छापूर्ण विहार को रोकने वाले उत्तरीय  
बन्ध की क्या आवश्यकता है ? अथवा जो वस्तु चाहने के योग्य—मुन्दर  
होती है उसके बाधक भी सुलभ होते हैं ॥ २७ ॥

विदूषक—फिर क्या हुआ ?

राजा—तदनन्तर उसके साथ चलने वाले लोग जब किसी कारण मुझसे  
युक्त दिशा की ओर देखने लगे तब चञ्चल-मछली के समान मुन्दर नेत्रों  
वाली उस सुलोचना ने भी उसी ओर स्वेच्छा से चञ्चल भ्रमर पक्षि के समान  
दृष्टि दी ।

विदूषक—यहाँ यह सतोष की बात है कि मित्र को भी उसने देख  
लिया ।

राजा—ततश्च सखे

लज्जाश्रुं खलया मनाग् नियमितैस्मेरोल्लसत्तारकैः

किंचित्कुंचितलोचनांतचलितैर्लीलोद्यतभ्रूलतैः ।

तस्याः प्रस्फुरदार्द्रकौतुकरसस्निग्धैरहं प्रेक्षिते-

रापीतश्चलितः क्षतो निगलितस्संतर्जितो निर्जितः ॥ २८ ॥

चिदूपकः—अहो महारंभो मयणसंरंभो । वयस्स तदो तदो । ( अहो-  
महारंभो मदनसंरंभः । वयस्य ततस्ततः )

राजा—ततश्च सा यांत्येव तथा ममालिकात् प्रत्याहृत्य सत्रपं नेत्रमग्रहस्तेन  
पार्श्वसन्निहितमुद्धृत्य दर्पणं तमेव पुनस्संक्रामदस्मत्प्रतिच्छंदकसनाथं व्यधात् ।

चिदूपकः—अभिजादं दंसणोवाअविण्णाणम् । तदो तदो । (अभिजातं-  
दर्शनोपायविज्ञानं ततस्ततः )

राजा—स तु पुनस्तथा दर्पणः ।

राजा—फिर मित्र !

लज्जा—जो लजारूपी सांकल से कुछ-कुछ बघे हुए थे जिनकी पुत-  
लियाँ हर्ष से विकसित हो रही थीं, जो कुछ कुछ निर्मीलित नेत्र के अन्त  
भाग से चल रहे थे, जिनमें भौंहरूपी लताएँ ऊपर की ओर उठ रही थीं,  
तथा जो उठते हुए नवीन कौतुक रस से स्निग्ध थे ऐसे उसके अवलोकनों से  
मैं पिया गया, विचलित हुआ, घायल हुआ, बेड़ी से बद्ध हुआ, डराया गया  
और पराजित किया गया ॥ २७ ॥

चिदूपक—आश्चर्य है कि काम का कोप इतना भारी हांता है । मित्र !  
फिर क्या हुआ ?

राजा—पश्चात् जाते जाते उसने मेरे समीप से अपने लजोले नेत्र हटा  
कर हाथ के अग्रभाग से पास में रखा दर्पण उठाया और उसे अपने पड़ते  
हुए प्रतिविम्ब से युक्त किया ।

चिदूपक—देखने के उपाय का ज्ञान यो बहुत सुन्दर है । फिर आगे  
क्या हुआ ?

राजा—और फिर सुन्दर दाँतों वाली सुलोचना ने उस दर्पण को—

निर्वर्णिनस्सस्पृहमोक्षणाभ्या

कपोलयोस्सादरमर्पितश्च ।

न्यस्तश्च भूयः स्तनयोः सुदत्या

मुखेन काम परिचुम्बितश्च ॥ २६ ॥

विदूषक.—अहो पडिच्छदएनि तुह कासीराजउत्तिण गहुमाणो । (अही-  
प्रतिच्छदकेपि तव काशीराजपुन्या बहुमान )

राजा—वयस्य ।

शैत्येन वा रुचिरतो बहुमानतो वा

मन्येत वा किमपि कारणमन्यदेव ।

सक्रान्तमत्प्रतिम इत्यथवास्तु तस्या-

स्ततर्पणोय हृदयस्य स दर्पणोऽभूत् ॥ ३० ॥

विदूषक —होदु जाणीअदि एव्व एत्थ कागण । तदो तदो । ( भवतु-  
जायते एव अत्र कारणम् । ततस्ततः )

राजा—किंच सखे ।

निर्वर्णिन —बड़ी लगन के साथ नेत्रों से देखा, गालों पर आदर के  
साथ रक्खा, स्तनों पर रक्खा और मुख से अच्छी तरह चूमा ॥ २६ ॥

विदूषक—अहा, तुम्हारे प्रतिविम्ब में भी काशीराज की पुनी का बहुत  
सम्मान है ।

राजा—मित्र !

शैत्येन—शीतलता से, मुन्दरता से, बहुत सन्मान से, अथवा और भी  
कुछ कारण माना जा सकता है अथवा उसमें हमारा प्रतिविम्ब पड़ रहा था  
इस कारण से वह दर्पण उसके हृदय को समुष्ट करने वाला हुआ था ॥ ३० ॥

विदूषक—गैर, यहाँ जो कारण है वह तो जान ही लिया । फिर आगे  
क्या हुआ ?

राजा—और मित्र !

प्रचलवलयमंदोन्नादिना दंतपत्रं

सुरचितमपि सख्याः सज्जयंती करेण ।

अकृत च सविलासं चारुहासोत्तराणि

प्रविकसितकपोला जल्पितान्युत्क्षिपंती ॥ ३१ ॥

विदूषकः—अवतीर्णो विप्र तिस्सा वअस्से भावा । ( अवतीर्ण इव-  
तस्याः वयस्ये भावः )

राजा—असंहार्यं खलु मन्मथान्त्रमभिमतामनुरज्यतः पुंसः प्रत्यनुराग-  
दानम् । येनेदानीं ।

स्निग्धेर्वीलितयंत्रणाविचलितैस्तस्याः कटाक्षैर्हितै-

रोपत्प्रस्फुरिताधरोष्ठरुचकैस्सख्या समं जल्पितैः ।

मध्ये चोच्छ्वसितस्तनैर्विहसितैर्दंतांशुनीराजितैः

कामः कामपि मे करोति मनसः कामं परामुत्कताम् ॥ ३२ ॥

विदूषक—तदो अ किं वुत्तं । ( ततश्च किं वृत्तम् । )

प्रचल—सामने बैठी सखी का कर्णाभरण यद्यपि ठीक था तो भी चञ्चल  
चूड़ियों से मन्द-मन्द शब्द करने वाले हाथ से वह उसे ठीक करने लगी तथा  
मन्द मुसकान से कपोलों का विकसित कर पुलकती हुई उसने हावभावपूर्वक  
सखी के साथ सुन्दर हास्य से युक्त बातचीत की ॥ ३१ ॥

विदूषक—ऐसा लगता है जैसे उसका भाव मित्र में आ उतरा हो ।

राजा—इष्ट स्त्री से अनुराग प्रकट करने वाले पुरुष को बदले में अनुराग  
प्रदान करना वास्तव में कामदेव का अचूक शस्त्र है । जिससे इस समय-

स्निग्धै—लजा की यन्त्रणा से विचलित उसके स्नेहपूर्ण कटानों से,  
जिनमें नीचे का ओठरूपी विम्बीफल कुछ-कुछ हिल हिल रहा है ऐसे सखी  
के साथ होने वाले निरर्थक वचनों से और बीच-बीच में स्तनों को ऊपर उठा  
देने वाले दाँतों की किरणों से सुशोभित हास्य से कामदेव इच्छानुसार मेरे  
मन को अद्भुत तथा अत्यधिक उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है ॥ ३२ ॥

विदूषक—फिर क्या हाल हुआ ?

राजा—ततश्च नातिदूरमिव गते चतुरतयाने चतुरतयानविन्यस्तैकहस्ता-  
रिणोमपरा सखीममिभाषितुकामा किल तिर्यंग्वलमानवलिकं विवलनवशनि-  
विहितकुचनटाभोगसनुचितोरस्कमनतिच्युतशिविलस्तनाशुक असमागावष्टब्ध-  
कपोलपालिक सलीलनिकविवर्तनविश्लयकपरीमारालकृताग्रसमागमपागोत्स-  
गपर्यस्तचिकुरलोचन अर्धविस्त्रस्तकण्ठोत्पलचुम्ब्यमानभ्रूलतातमसौ द्विगुणितो-  
पधानाषष्ठमनिहितैकहस्ता सविभ्रमदर्शितपूर्वकाथकतिकमनीया किमपि किम-  
प्याभापमाणा च तामतरान्तरा च चोदयती च मदविक तरलतरतारसारोदरा  
दृश दृश्यमानैव ससक्तमनतिचिरेण तिरोहिता काशीराजदुहिता ।

विदूषक — तदो तदो । ( ततस्तत । )

राजा—तदनन्तर जब पालकी कुछ दूर निकल गई तब उस पालकी में  
अपनी थगल में बैठी हुई दूसरी सखी से वार्तालाप करने की इच्छा से वह  
उसकी ओर मुड़ रही थी । मुड़ने समय उसकी नाभि के नीचे की रेखाएँ  
कुछ तिरछी मुड़ गई थीं, मुड़ने के कारण स्तनों का समीपवर्ती प्रदेश सान्द्र  
होने के कारण उसका वक्ष स्थल संकुचित हो गया था, स्तनवत्त ढीला होकर  
कुछ नीचे की ओर लटक गया था, जिस ओर सखी बैठी थी उस ओर के  
कन्धे में उसका कपोल सटा हुआ था, लीलापूर्वक पीठ की हड्डी के धुमाने  
से उसकी चौटी ढीली हो गई थी तथा उसके बालों का समूह दूसरे कन्धे की  
अलङ्कृत कर रहा था, कुछ-कुछ सुन्दर केश कटानों के मध्य में बिखर गये  
थे, और कानों का उराल आधा लटक कर मौंहूरी लता के अन्त की  
सुशीलित कर रहा था । उस समय वह तकिया की दूना कर उसके सहारे एक  
हाथ रखे हुई थी, हावभावपूर्वक दिखलाये हुए पूर्व शरीर की कान्ति से  
वह अत्यन्त सुन्दर दीख रही थी, सखी से कुछ कुछ वार्तालाप करती और  
बीच-बीच में मेरी ओर अत्यन्त चञ्चल पुतली से श्रेष्ठ मध्यभाग वाली दृष्टि  
को चलाती जाती थी । इस तरह वह काशीराज की पुत्री मुलोचना दिखती-  
दिखती कुछ ही समय में तिरोहित हो गई ।

विदूषक—फिर क्या हुआ ?

राजा—ततश्च न जाने किमभूवं किमकार्षं किंवृत्तमिति केवलं पुनस्त-  
न्मार्गनिहितनिश्चललोचनः किंकर्तव्यतामूढः क्षणमन्याम् ।

विदूषकः—वयस्स तुहारिसाणंपि तारिसो घेरभंगोत्ति अचाहितं । (वयस्य-  
त्वादृशानामपि तादृशो धैर्यभंग इति अत्याहितम् । )

राजा—वयस्य धैर्यभंग इति नैतावतापसरति । तदा खलु ।

सत्त्वं विलुप्तमिव तप्तमिवांगमंगं  
धैर्यं विशीर्णमिव दीर्णं इवांतरात्मा ।

चेतः प्रलीनमिव लीन इव प्रबोधो

मानः प्रमृष्ट इव कृष्ट इवास्मि चाहम् ॥ ३३ ॥

विदूषकः—तदो तदो ( ततस्ततः )

राजा—ततश्चाहं नन्द्यावर्तनारुध्यमानः शून्येन चेतसा यथागतमन्त्राया-  
सिपम् ।

राजा—फिर नहीं जानता हूं कि मैं क्या हुआ और मैंने क्या किया ?  
मैं तो मात्र उसी के मार्ग की ओर एक टक निहारता हुआ किंकर्तव्य-विमूढ़  
हो क्षणभर खड़ा रहा ।

विदूषक—मित्र ! तुम्हारे जैसे लोगों का भी वैसा धैर्य भङ्ग हो गया यह  
तो एक बड़ी अनर्थ की बात हुई ।

राजा—मित्र ! धैर्य भङ्ग हो गया इतने से ही बात नहीं चुकती है ।  
उस समय यथार्थ मैं—

सत्त्वं—ऐसा जान पड़ता था मानो सत्त्व बिलकुल ही लुप्त हो गया हो,  
प्रत्येक अङ्ग संतत हो गया हो, धैर्य गल गया हो, अन्तरात्मा फट गई हो,  
चित्त पिघल गया हो, चेतना लुप्त गई हो, मन साफ हो गया हो और मैं खिच  
गया होऊँ ॥ ३३ ॥

विदूषक—फिर क्या हुआ ?

राजा—फिर मैं नन्द्यावर्त के अनुगंध से शून्य हृदय से जैसा गया था  
वैसा ही यहां आ गया ।

विदूषक —अदो वर जाणीअदि एव्व । ( अतः पर जायते एव । )

राजा—( मदनावस्थामभिनीय ) सखे तद्दर्शनात्प्रमृति च ।

विस्मयस्य वचोपि नावतरति व्यामूढयोः श्रोत्रयो  
सस्कारार्पिततन्मुखेक्षणमुखेनान्यद् दृशौ पर्यतम् ।  
बाह्यापृतिनिर्व्यपेक्षमधुना प्रत्यङ्मुख सकुच-  
च्चेतस्तद्गुणचितनानियमित मुह्यत्यकाण्डे मुहुः ॥ ३४ ॥

विदूषक —भो वयस्स एण शुच पुण तुम्हे एव्व णाम उज्झितु अण-  
डितप्रसर धीरत्तण । ( भो वयस्य न युक्त पुनः तव एव नाम उज्झितु अव-  
डितप्रसर धीरत्वम् । )

राजा—( सतस्ताप ) वयस्य सौघातके किं प्रवीणि ।

सकल्पशतविधुरितो धैर्यपरिस्त्रलनजातवैलक्ष्यः ।

लक्ष्यीकृतः शराणां निसर्गकठिनेन मदनेन ॥ ३५ ॥

विदूषक—इसके आगे तो जात है ही ।

राजा—( काम की अवस्था को प्रकट कर ) मित्र ! उसके देखने के समय मे हो—

विस्मयस्य—विश्वासघात मनुष्य के भी बचन इन मोही कानों में नहीं उतरते हैं, जिन्हें सस्कार के कारण उसी का मुख देखने का मुक्त प्राप्त हो रहा है ऐसे ये नेत्र उसके मुख के सिवाय और कुछ नहीं देखते हैं, और इस समय वित्त बाह्य व्यापार से निःस्पृह हो प्रत्येक कार्य से विमुख होता हुआ सकुचित होकर मात्र उसी के गुणों के चिन्तन में लग रहा है तथा असमय में बार-बार मूर्च्छित हो उठता है ॥ ३४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हें इस तरह अलखद धैर्य छोड़ देना उचित नहीं है ।

राजा—( मानसिक सताप को प्रकट कर ) मित्र सौघातके क्या कहूँ ?

सकल्प—सैकड़ों सकल्पों से मैं दुखी हो रहा हूँ, धैर्य के छूट जाने से मैं स्वयं लज्जित हो रहा हूँ, तथा स्वभाव से कठोर काम ने मुझे अपने बाणों का निशाना बना रक्खा है ॥ ३५ ॥



विदूषकः—भो वयस्स सुणाहि दाव जइ तारिसो वयस्से कासीराअ-  
उत्तीए दंसिदो भावे तदो अस्सासिदुं वेअ अत्तहोदोवि जत्त जुत्तं ण एव्वसंत-  
प्पिदुं । जदो देव्वसंपादिदो समासणो एव्व तिस्सा अप्पच्छदवसाणुवत्तणेण  
समाराहइत्तओ मणोरहाणं सअंवरुसवो । ( भो वयस्य शृणु तावत् यदि  
तादृशः वयस्ये काशीराजपुत्र्या दर्शितः भावः ततः आश्वासितुमेव अत्र भ-  
वतोपि यत्र युक्तं नैव संतपितुं यतो देवसंपादितः समासन्न एव तस्याः  
आत्मच्छदवशानुवर्तनेन समागधयिता मनोरथाना स्वयंवरोत्सवः । )

राजा—भवतु वा तथा भवतो यथा प्रतिभाति । तथापि न तावता संप्रति  
समाश्वासः । मम हि ।

तैस्तैर्मनोरथैस्तस्यामापतद्भिः कदर्थितम् ।

अतिवाहयितुं चेतो नालं कालकलामपि ॥ ३६ ॥

( नेपथ्ये चैतालिकौ )

चैतालिकौ—विजयतां कौरवेश्वरः, सुखाय सायंतनसमयो भवतु देवस्य ।  
प्रथमः ।

उन्मीलन्नवमल्लिकांतरगलत्सौरभ्यसंवासिताः

श्रांताया दिवसश्रियो हिमकर्णैर्घर्माम्बुकल्पैर्जडाः ।

विदूषक—हे मित्र ! सुनो, जब काशीराज की पुत्री ने मित्र के विषय में  
वैसा भाव दिखाया है तब आपको भी धैर्य रखना हो उचित है इस तरह  
संतोष करना उचित नहीं । एक कारण यह भी है कि अपनी इच्छानुसार  
उसके मनोरथों को पूर्ण करने वाला स्वयंवरोत्सव भी भाग्यवश निकट ही है ।

राजा—वैसा हा जैसा कि आपको जान पड़ता है, फिर भी इस समय  
उतने से संतोष नहीं होता । सचमुच—

तैस्तैः—मेरा चित्त तो उसके विषय में आने वाले उन उन मनोरथों से  
पीड़ित होता हुआ काल की एक कला को भी बिताने में समर्थ नहीं है ॥ ३६ ॥

( परदे के भीतर दो चैतालिक आते हैं )

चैतालिक—कौरवेश्वर की जय हो, यह संध्या का समय आपके लिये  
सुखकर हो ।

प्रथमः—

उन्मीलन्—जो लिखती हुई नवीन मालती के भीतर से निकलने वाली  
सुगन्धि से सुगन्धित है, जो थकी हुई दिवसलक्ष्मी के स्वेद जल के समान वर्ष के

पेया घ्राणपुटै सुखेन सुतरामालिङ्गनाया मुजै-

निश्वासा इव वाति मदमधुना वाता वसतश्चिय ॥ ३७ ॥

द्वितीय —

साय मज्जनशीतला मृगमदव्यालितकठा. खिय

काश्चिन्नूतनमल्लिकामुकुलकैर्हार दधत्यस्तनैः ।

प्रत्यप्रागुन्मूषवाससुरभी कुर्वन्ति जातिस्रज.

केशाते रतिलास्यसपद इष प्रस्तावपुष्पांजलिम् ॥ ३८ ॥

चिदूपक — ( आकर्णितकेन ) भो वद्यत्स उठ्टेकु दाव समासण्या खु  
साग्रतणसभा । ( भो वयस्य उत्तिष्ठ तावत् समासजा खलु सायतनसध्या । )

( उत्तिष्ठ )

राजा—कथमवष्टब्धा सरन्वमकरध्वजसमरोद्रेला । इय हि—

क्या से ठण्डी है, जो नाकके मधुनों से सुलपूर्वक पीने के योग्य हैं तथा  
मुजाओं के द्वारा अच्छी तरह आलिङ्गन करने के योग्य हैं ऐसी बायु इस  
समय वसन्त लक्ष्मी के श्वासोच्छ्वास के समान धीरे धीरे बह रही है ॥ ३६ ॥

द्वितीय —

माय—जो सायकालिक स्नान से शीतल हैं, जिनके कण्ठ कस्तूरी में  
लित हैं, और जो अपने स्तनों से नगीन मालती की बोटियों से निर्मित हार  
को धारण कर रही हैं ऐसी कुछ स्त्रिया नवीन अगुरु चन्दन की धूपसध्वन्धी  
सुगन्धि से सुवासित अपने केशों के अन्त में चमेली की मालाओं को  
इस तरह धारण कर रही हैं मानो रति के नृत्यरूपी सपदा के प्रारम्भ में  
पुष्पाञ्जलि ही बिखेर रही हों ॥ ३८ ॥

निदूपक—( मुन कर ) हे मित्र ! उठो, सायकाल की सध्या निकट है ।

( दोनों उठकर खड़े होते हैं )

राजा—क्या कुपित कामदेव के युद्ध का समय आगया ?

३ वि० ना०

मनोरथशतार्तानां प्रोपितानां प्रमाथिनी ।

निशीथिनी जगज्जिष्णोर्मन्मथस्य वरुथिनी ॥ ३९ ॥

विदूषकः—इदो इदो । ( इतः इतः । )

( परिक्रामतः )

राजा—( सोत्कण्ठम् । )

अपांगव्यासंगस्खलदलसविभ्रातनयनं

दरप्रोद्यद्दंतद्युतिदलितरागाधरदलम् ।

अविस्पष्टस्वेदं पुलकितकपोलं मृगदृश-

स्तदद्यापि स्पष्टं मुखमभिमुखं दृश्यत इव ॥ ४० ॥

( इति निष्क्रांतौ )

श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्ट-

प्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।

वास्तव में यह—

मनोरथ—यह रात्रि सैकड़ों मनोरथों से पीड़ित प्रवासी मनुष्यों की नष्ट करनेवाली, जगद्विजयी कामदेव की सेना है ॥ ३९ ॥

विदूषक—यहां यहां से

( घूमते हैं )

राजा—( उत्कण्ठा के साथ )

अपाङ्ग—जिसमें अलसाये तथा विभ्रमपूर्ण नेत्र-कटाक्षों के संसर्ग से खलित हो रहे हैं, जिसमें अधरदल की लाल-लाल कान्ति कुछ-कुछ प्रकट हुई दांतों की कान्ति से खण्डित हो रही है, जिसमें अस्पष्टसा पसीना निकल रहा है तथा जिसके कपोल रोमाञ्चित हो रहे हैं ऐसा मृगनयनी का मुख अब भी सामने स्पष्टसा दिखाई दे रहा है ॥ ४० ॥

( इस तरह राजा और विदूषक दोनों बाहर जाते हैं )

श्रीवत्स—श्रीवत्सगोत्र के मनुष्यों के आभूषण गोपभट्ट के प्रीतिपात्र

नानाकलाम्बुनिधिपाण्ड्यमहेश्वरेण ।

श्लोकै शतैस्सदसि मत्कृतवान् वम्ब ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दस्वामिन मुनुना हस्तिमल्लेन विरचिते

चित्रान्तकौरवीयनाटके वाराणसीदर्शनो नाम

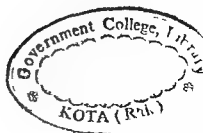
प्रथमोऽङ्कः समाप्त ॥ १ ॥

पुत्र हस्तिमल्ल कवि, पृथिवी में हस्तिमुद्रक कारण नाना कलाओं के सागर पाण्ड्य नरेश के द्वारा समा में सौ श्लोकों से सङ्कृत हुए थे ॥४१॥

इस प्रकार श्री गोविन्दस्वामी के पुत्र हस्तिमल्ल के द्वारा विरचित

चित्रान्तकौरव नाटक में 'वाराणसी-दर्शन' नाम

का प्रथम अङ्क समाप्त हुआ ॥ १ ॥



## द्वितीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति प्रतीहारः )

प्रतीहारः—( शयनादुत्थाय ) कथमस्माभिः समुचित एवावसरे प्रति-  
बुद्धं । प्रातस्तत्रानेव गंगातीर्थाभिरक्षणेन मया गंतव्यं । यतः पूर्वद्युरेव  
स्वयंवरदिवसाद्भर्तृदारिकया गंगातीर्थ एव सौभाग्यवृद्धये स्नातव्यमिति  
कुलवृद्धाभिरादिष्टम् । शौवस्तिकी च तस्याः स्वयंवरयात्रा नैदीयसी च संप्रति  
प्रगेतनी संध्या ।

तथाहि ।

अनतिगलितनिद्राजाड्यदीव्यद्गलानां  
प्रसरति कृतहिकं कूजितं कुक्कटानाम् ।  
विदधति च विहंगास्तत्क्षणोद्भूतबोधाः  
कलकलमधिनीडं ग्रामचैत्यद्रुमेषु ॥ १ ॥

( इसके बाद प्रतीहार प्रवेश करता है )

प्रतीहार—( शय्या से उठकर ) क्या हम ठीक अवसर पर जाग गये ?  
मुझे बड़े सवेरे गङ्गा के घाट की रक्षा करने के लिये जाना है । क्योंकि स्वयं-  
वर-दिवस के पहले राजपुत्री को सौभाग्य-वृद्धि के लिये गङ्गा के घाट  
पर ही स्नान करना चाहिये... ऐसा कुल की वृद्ध स्त्रियों ने आदेश दिया है ।  
राजपुत्री की स्वयंवर-यात्रा कल होनेवाली है और प्रातःकाल की संध्या,  
इस समय अत्यन्त निकट है ।

क्योंकि—

अनति—निद्रा के पूर्ण नष्ट न होने के कारण जिनके कण्ठ जड़ता के  
साथ क्रीडा कर रहे हैं ऐसे मुर्गों का शब्द हिचकी भरता हुआ फैल रहा है  
तथा ग्रामसम्बन्धी मार्ग के वृक्षों पर घोंसलों में अभी हाल जागे हुए पक्षी  
कलकल कर रहे हैं ॥ १ ॥

तदिदानीं गमातीरमेव गच्छामि ( उत्थाय परिक्रामन् ) इयं खलु अष्ट-  
मावशिष्टा किमप्युत्क्रयति कामुकाननतिचिरमिनश्चरो विभावरो । सर्पाति हि ।

चुवतोऽधरपल्लवं नियमितश्वास शनैः सुभ्रुवां  
सुप्राना समय सशुष्करुदित मत्तन्मिषञ्चक्षुषाम् ।  
आश्लेष च ससाध्वस विरचित द्वागुम्भतीनां रुपा  
कुर्वन्ति प्रतिबोधना प्रणयिन प्रत्यूषरत्युत्सुकाः ॥ २ ॥

इयमेव च निरर्गलप्रणयरसलीलाकामिनामभिमततमा बेला ।

तथाहि ।

तत्कालप्रतिबोधिताभिरलसोन्मिद्रेक्षणाभिः प्रियाः  
सीदतीभिरर प्रदोषसुरतश्रातिरलधैरंगकैः ।

इसलिये अब गङ्गा के तीर हो जाता हूँ ( उठ कर घूमता हुआ ) अष्टम  
प्रहर से अबशिष्ट तथा शीघ्र हो नष्ट हो जानेवाली यह रात्रि सचमुच ही कामी  
युवपों को अत्यधिक उत्सुक कर रही है । इस समय—

चुम्बन्तो—जो सोई स्त्रियों के अधर पल्लव का जाग जाने के भय  
से श्वास रोक कर धीरे धीरे चुम्बन कर रहे हैं ऐसे प्रातःकालीन समोग के  
लिये उत्सुक मनुष्य अपनी उन स्त्रियों को जगा रहे हैं जो सूखे रोदन के  
साथ शीघ्र ही आँतें खोल रही हैं तथा डरते डरते किये हुए आलिङ्गन को  
शीघ्रतापूर्वक क्रोध से छाड़ रही हैं ॥ २ ॥

स्वच्छन्द प्रेम रस की लीला से युक्त यह समय ही कामी मनुष्यों के  
लिये अत्यन्त इष्ट है ।

क्योकि—

तत्काल—जो अभी ढाल जगाई गई हैं, चिनके नेत्र आलस्य से उनींदे  
हो रहे हैं तथा रात्रि के प्रारम्भ में होनेवाले समोग की थकावट से ढीले-  
ढीले ब्रह्मों से जो अत्यधिक पीड़ित हो रही हैं ऐसी युवतियों के साथ ये रति

निर्मर्यादविमर्दनिर्दयममी विस्त्रंभरुद्धत्रपं  
सेवन्ते रतिलंपटा युवतिभिः प्रत्यूपरत्युत्सवम् ॥ ३ ॥

( स्पर्श रूपयित्वा ) अहो सौकुमार्यं निशावसानपवनस्य । संप्रति हि ।

दूरादारुं परिमलमसावाहरन्मालतीनां  
व्यावृद्धोऽन्तः प्रतिवनदलत्पाटलीसौरभेण ।

निर्निश्वासोन्नमितवदनं द्राणरन्ध्रेण पेयो  
वायुः श्रान्तिं रतिविततिजां लुम्पते दंपतीनाम् ॥ ४ ॥

संप्रति च रजनोदिरामविसर्जनजनितोत्कंठाय स्वादीयानेव स्वदते कोपि  
रसो मिथुनाय ।

तथाहि—

निर्गतुं प्रथमोत्थितस्य शयनात्तल्पस्थिता कामिनी  
व्यत्यासानमिताननस्य सुमुखी प्रोत्तानयन्ती मुखं ।

के लोभी प्रेमी, अत्यधिक मर्दन से निर्दय तथा विश्वास से कारण लजा से  
रहित प्रातःकालीन संभोगोत्सव का सेवन कर रहे हैं ॥ ३ ॥

( स्पर्श का अभिनय कर ) अहा, रात्रि के अन्तिम समय में चलनेवाली  
वायु की बड़ी सुकुमारता है । सचमुच ही इस समय—

दूरादारु—जो दूर दूर से मालती के फूलों की ताजी सुगन्धि को ला  
रही है, जो प्रत्येक वनमें खिलते हुए गुलाब की सुगन्धि से भीतर ही भीतर  
अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त है तथा जो सांस रोक मुख को ऊँचा उठा कर नासिका  
के छिद्रों से पान करने योग्य है ऐसी यह वायु स्त्री-पुरुषों को संभोगसम्बन्धी  
अधिकता से उत्पन्न थकावट को लुप्त कर रही है ॥ ४ ॥

और इस समय रात्रि की समाप्ति के कारण होने वाली विदाई से परस्पर  
उत्कण्ठित स्त्री-पुरुषों के लिये कोई अद्भुत अतिशय स्वादिष्ट रस अचञ्चा  
लग रहा है ।

जैसे—

निगन्तुं—कोई पुरुष शय्यागृह से बाहर जाने के लिये शय्या से पहले  
उठ कर खड़ा हुआ है परन्तु उसकी स्त्री अभी शय्या पर ही बैठी है । रात्रि में  
स्त्री की पुरुषायित क्रिया से पुरुष का मुख लजा से नीचे की ओर झुका है ।

कठासक्तकरा विपर्ययकृतारलेपस्य भयोधरं  
चुम्बन्ती परिचुम्बिताधरदल ज्ञानात्यपूर्वं रसम् ॥ ५ ॥

( नमो विलोक्य निर्वर्ण्य च )

विशुष्यतः सप्रति कौमुदीजल-  
प्लवस्य तिग्माशुभयान्नम स्थले ।  
प्रणष्टशिष्टा इव बुद्बुदा इमा  
विभाति तारा विशारारोचिषः ॥ ६ ॥

( पुनर्निर्वर्ण्य ) कथं विमानप्रायमेव । अद्य हि ।

लघु बिघटयितारं कुङ्कुमान्यब्जिनीना  
ऋदिति घटयितारं कोककांताः स्वरुतिः ।  
जहति निपद्यशैलाधित्यकोरसगसग  
क्षपिततिमिरलेखास्तिम्भभानोर्मयूराः ॥ ७ ॥

स्त्री उसकी लज्जा दूर करने के लिये उसके मुल को ऊपर उठा रही है तथा गले में बाह शाल आलिङ्गन करती हुई उसके अधरोष्ठ का चुम्बन कर रही है पश्चान् पुरुष भी स्त्री के अधरोष्ठ का चुम्बन करता है इस तरह वह स्त्री किसी अपूर्व रस का अनुभव कर रही है ॥ ५ ॥

( आकाश की ओर देख कर तथा वर्णन कर )

विशुष्यत — इस समय आकाश में नश्वर कान्ति से युक्त ये तारे ऐसे जान पड़ते हैं मानो सूर्य के भय से सूखते हुए चाँदनीरूपी जल के नष्ट होने से बाकी बचे बुद्बुदे ही हों ॥ ६ ॥

( फिर देख कर ) क्या सबेरा हो ही गया । इस समय—

लघु—इस समय कमलिनियों की बोंड़ियों को शीघ्र ही विकसित करने-वाली, चकवियों को अपने पतियों से शीघ्र ही मिलानेवाली, तथा अन्धकार की रेखा को नष्ट करनेवाली सूर्य की किरणें निपचाचल के ऊपरी मैदानरूपी गोद के सम्बन्ध को छोड़ रही हैं ॥ ७ ॥



निर्गताः स्मो वाराणस्याः ( पुरोवलोच्य ) कस्य खल्वसौ सौविदल्लो  
जाह्नवीगामिनमेवाध्वानमुपसरति ।

( प्रविश्य सौविदल्लः )

सौविदल्लः—कहं अज तरुणदिगुअरकरणिअरगिचडगफुडफुडंतपुडइ-  
णीसंदमअरंदणिसंदसमुद्धूणणादिसामुहेण पच्चगविअसंतसरसकेसगपगूण-  
परिमलुगारमंसलेण कुहकुहंतजलसउंतकेलीकलहकलअलाअदुगपेसलेण  
उप्पेलणकुल्लाविअहल्लअफुल्लासवेल्लिअमल्लिआअकलतल्लएण उग्वाटिअ-  
णालिणवरपरिपादितिआसरीअल्लपअरिअंलिभंकारमहुरेण गांसगसमीरणे-  
ण आलिज्जंतणहअलो पसरन्तमसिणवालाअवअसिणकद्धमसमालिदगअणधंतो  
वट्टेइ दंसिदुहामणिसीहरइ इद्धविअलकलतरुणकामिणीपाअइअलडहविग्ग-  
मओ समओ । ( नभो विलोक्य ) एत्थ हि । अत्थाअं पि व कालिआमइलिउज्जओअं  
अप्पमुट्ठअं एअं रेहइ खंडिअमुपसरं सीअंसिणा मंडलं एत्थय पल्लच्छेइ घणं-  
घअरणिअरं वित्थारअन्तो दिसाचक्कं कुक्कुडचूडापाडलसिहो अक्कमुपग्गमा-  
रओ । इअं चेअ पुणरुत्तरत्तिसम्भोअसम्मदमलिणिअपसाहणस्स प्रसाहणंतं-  
हणवेला विलासिणीजगुस्स । तहहि । ( कथमय तरुणदिनकरकरनिकरनिपत-  
नत्कुट्ठत्कुट्ठपुटकिनीसांद्रमकरंदनिअयंदसमुद्धूननार्द्रितदिशामुखेन प्रत्यग्रविकस-  
त्सरसकेशरप्रसूनपरिमलोद्गारमांसलेन कुहकुहायमानजलशकुंतकेलिकलहकल-

हम वाराणसी से बाहर निकल आये हैं ( आगे देख कर ) यह किसका  
कञ्चुकी गङ्गा की ओर जानेवाले मार्ग को प्राप्त हो रहा है ?

( कञ्चुकी प्रवेश करता है )

सौविदल्ल—क्या इस समय तरुण सूर्यसम्बन्धी किरण-समूह के पड़ने के  
कारण अत्यन्त खिली हुई कमलिनियों के सान्द्र मकरन्द रस के उड़ाने से  
दशों दिशाओं को आर्द्र करनेवाली, नवीन विकसित मौलश्री के ताजे फूलों  
की मुगन्धि के उद्गार से पुष्ट, चहकते हुए जलपत्तियों के क्रीड़ासम्बन्धी  
कलकल शब्द के आकर्षण से मनोहर, चोंच की प्रेरणा से खिलाये हुए  
कमलपुष्पों के आसन्न से श्रेष्ठ हंसविशेषों को सींचनेवाली, और खिले हुए

कलाकर्षणपेशलेन उत्प्रेरणफुल्लापितहल्लकफुल्लनासवासिक्तमल्लिकान्नतल्लजेन  
उद्घाटितनलिनगृहपरिपात्यसगृहप्रसृतपटपदरिङ्खोलिभ्रकारमधुरेण गोसर्गसमी-  
रणेन आलितनभस्तल प्रसरन्मसृणवालातपसुसृणकर्दमसमानित्तगगनाध्वातो  
वतते दर्शितोद्दामनिशायरतिनिहविलक्ष्मणकामिनीप्रकटसौंदर्यभिन्नमस्स-  
मय । अत्र हि । आदर्शमिव कालिकामलिनितोद्योत अग्रमृष्टनेतत् प्रतिभाति  
रहितोशुप्रसर शीताशोमंडल अत्र च पयस्तयति घनाधकारनिकर विस्तारयन्  
दिशाचक्र बुक्कुटचूडापाटलशिलोऽर्काशुप्राग्भार । इयमेव पुनश्चरान्तिसो-  
गसमर्दमलिनितप्रसाधनम्यप्रसाधनासरग्रहणधेना विलासिनीजनस्य ।  
तथाहि ।)

यहइ चिहुरभारो मालदीपाडलाण

बुसुमयइहरेण गुफिअ मग्गमाल ।

कमलरूपी घरों पर चारों ओर से झगटने वाले भ्रमर-समूह की अत्यंत  
मधुर भ्रकार से मनोहर प्रातःकाल की वायु से आकाश की लित करने-  
वाला समय आ पहुँचा है । इस समय फैलती हुई स्निग्ध सुनहली धूप रूपी  
केशर के पङ्क्त से आकाशरूपी मार्ग का छोर सब ओर से लित हो रहा है  
तथा रात्रिसम्बन्धी समाग क चिह्नों के दिख जाने से लजित तरुण स्त्रियों  
के सौन्दर्यपूर्ण हाव-भाव प्रकट हो रहे हैं । ( आकाश की ओर देख कर )  
इधर जिसकी किरणों का प्रसार परिदृष्ट हो गया है ऐसा यह चन्द्रमा  
का दिग्भ्र, कालिमा से जिसका प्रकाश मलिन हो गया है ऐसे बिना पोंछे  
हुए दपण के समान जान पड़ता है और इधर दिशाओं के समूह को विक-  
सित करता हुआ सूर्य की कलगी के समान लाल-लाल कान्ति से युक्त सूर्य  
की किरणों का समूह सपन अन्धकार के समूह को नष्ट कर रहा है । धान-शार  
हीनेवाले रात्रि-सम्बन्धी समाग क समर्द से जिनको बेप-मूया मलिन हो  
गई है ऐसी स्त्रियों का दूसरा यश-मूया का ग्रहण करने का यही समय है ।  
क्योंकि

यहइ—स्त्रियों के केशों का समूह मालती और गुलाम के फूलों के  
समिश्रण से गूथी हुई मध्यमाला को घाटण कर रहा है तथा स्त्रियों के

वज्रकुसुमगुच्छं माधवीकुलविद्धं

फुरद् अथणपठ्ठे दामत्रं कामिणीणां ॥ ८ ॥

( वहति चिकुरभागी मालती पाटलानां

कुसुमव्यतिकरेण गुंफितां मध्यमालां ।

वज्रकुसुमगुच्छं माधवीकुलविद्धं,

स्फुरति च स्तनपृष्ठे दामकं कामिनीनाम् ॥ )

सुदं ख मये गदो अज मंदाश्रणीं अवेक्खिदु सामिकोरवेसरत्ति । जाव एहि गंगातीरं गच्छामि । ( परिक्रामति ) । ( श्रुतं खलु मया गतोऽयं मंदा-  
किनीमवेक्षितुं स्वामी कौरवेश्वरः इति । यावदिदानीं गंगातीरं गच्छामि )

प्रतीहारः—यावदेनं पृच्छामि ( उपसृत्य । ) कुतो भवान् किमत्रागतोस्ति ।

सौविदल्लः—इदो कौरवेश्वरस्स खंदावागदो आश्रच्छेमि तस्स चेअ हि परिश्रणो ( इतः कौरवेश्वरस्य स्कंधावारादागच्छामि तस्यैव हि परिजनः । )

प्रतीहारः—कच्चिदिदानीं मेघेश्वरोपि विस्मारयति गुणान् महाराज-  
सोमप्रभस्य ।

सौविदल्लः—अथअ कि एत्थ बहु वणिअदि । पडिच्छंदअं खु सो पिदुणा । ( आर्य किमत्र बहु वण्यते प्रतिच्छंदकं खलु सः पितुः । )

स्तनपृष्ठ पर मालश्री के फूलों के गुच्छों से युक्त एवं माधवीलता के फूलों से गुंफित माला सुशोभित हो रही है ॥ ८ ॥

मैंने सुना है कि आज स्वामी कौरवेश्वर—जयकुमार, गङ्गा देखने के लिये गये हैं । इसलिये मैं भी गङ्गा के तट की ओर जाता हूँ । ( घूमता है )

प्रतीहार—जब तक इससे पूछता हूँ । ( पास जाकर ) आप कहाँ से आ रहे हैं ? यहाँ किसलिये आये हैं ?

सौविदल्ल—इधर कौरवेश्वर के पड़ाव से आ रहा हूँ और उनका परिजन—सेवक हूँ ।

प्रतीहार—क्या इस समय मेघेश्वर—जयकुमार भी महाराज सोमप्रभ के गुणों का विस्मरण करा रहे हैं ?

सौविदल्ल—आर्य ! इस विषय में बहुत क्या कहा जाय ? सचमुच ही वे पिता का प्रतिविम्ब हैं ।

प्रतिहारः—तेन हि राजन्दानेव दिष्टया भुरवो जनपद । तयापि तद्गुणकयाकणनकौतुक तरलयति नश्चेत । कथय कीदृश इदानीं कौरवेश्वरो मेवेश्वर ।

सौविदल्ल—तेन हि मुनिजड एमिह खु सो ( तेन हि भूयतामिदानीं खलु सः । )

चित्ते धरेइ करुण घरणि मुअम्मि  
सौसम्मि पाअजुअल परमेसरस्स ।  
शिल्लुत्तदुक्खविअण सअलपि लाअं—  
अत्ताणअपि विअ रक्खइ अप्पमत्तो ॥ ६ ॥

( चित्तो धरति करुणा घरणीं मुजया,  
शार्पे पादयुगल परमेश्वरस्य ।  
निष्ठुप्तदुःखवेदन सकलमपि लोक  
आत्मानमशीव रक्षत्यप्रमत्त ॥ )

प्रतीहार—तेन हि पुत्रवतामप्यप्रणीर्महाराजसोमप्रम । ( पुरो विलो-

प्रतीहार—तो कहना चाहिये भाग्य से कुछ देश उत्तम राणा से युक्त है । यद्यपि यह है ता भी उनके गुणी का वर्णन सुनने का कौतुक हमारे चित्त को चञ्चल कर रहा है । कहिये इस समय कौरवेश्वर मेवेश्वर—जयकुमार कैसे ह ?

सौविदल्ल—तो मुनिये, इस समय वे सचमुच—

चित्ते—वे हृदय में करुणा की, भुजा पर पृथिवी की और शिर पर परमेश्वर के चरणयुगल की धारण करते हैं तथा जिसके समस्त दुःखों की वेदना नष्ट कर दी गई है ऐसे समस्त लोक का वे अपने आत्मे समान सभी सावधानी से संरक्षण करते हैं ॥ ६ ॥

प्रतीहार—तब तो महाराज सोमप्रम पुत्रवानो में भी अग्रसर हैं । ( सामने देख कर ) हिचकते हुए अलप्राप्तियों के मन्द-मन्द शब्द को

क्य ) । इयं खलु समुच्चरज्जलशकुंतमंथरारावहारिणा समीरणेन लक्ष्यते समासी-  
दंती सुरलवन्ती ।

सौविदल्लः—कहं समासण्या जाह्णवी । ( कथं समासन्ना जाह्वी । )

( उभौ परिक्रम्य दृष्ट्वा च )

प्रतीहारः—इयं हि सा

गंगातरंगेण विधारयन्ती

सरोजजालं चलहंसमालम् ।

उल्लासिहारच्छविहारितोया

वाराणसीसोमविहारिपूरा ॥ १० ॥

किं च—

मदकलसारसलीला काल्हारविसरणमंजुलसमीरा ।

तामरससरसकेसर-विसराकुलसलिलकल्लोला ॥ ११ ॥

हरण करनेवाली वायु से जान पड़ता है कि गङ्गा सचमुच ही निकट आ  
गई है ।

सौविदल्ल—क्या गङ्गा पास ही है ?

( दोनों घूमकर तथा देख कर )

प्रतीहार—यह है वह ।

गङ्गा—यह है वह गङ्गा जो चञ्चल हंसों के समूह से युक्त कमलों  
के समूह को लहरों से धारण कर रही है, जिसका पानी सुशोभित हार की  
कान्ति को हरण कर रहा है और जिसका पूर वाराणसी की सीमा पर बह  
रहा है ॥ १० ॥

आर भी—

मदकल—जिसमें मद के कारण सारस पक्षियों की मधुर लीला हो  
रही है, जिसमें सफेद कमलों में संचार करने से मनोहर वायु बह  
रही है, और जिसमें कमलों की सरस केसर को समूह से जल के तरङ्गों भर  
रही हैं ऐसी वह गङ्गा है ॥ ११ ॥

इतो मया गगातीर्याभिरक्षाय गतं यम् ।

सौविदल्ल —कुदो खु सबलोअसाधारण गगातित्यवि अभिरक्षिज्जइ ।  
( कुत. खलु सबलोअसाधारण गगातीर्यंमपि अभिरक्षते । )

प्रतीहार.—अन खलु काशीराजदुशिता मुलोचना सौभाग्यमञ्जनार्थं  
आगमिष्यति ।

सौविदल्ल —तेण हि जुजइ । ( तेन हि युज्यते । )

प्रतीहारः—एव पुनमंद्रमुखेन चलितव्यम् ।

सौविदल्ल —गदो खु अगदो मदाइयाँ अवेक्खिदुं सामी मे कौरवे-  
सरो । ( पुरो निर्दिश्य ) एद च दोरिदरअतुरिलनुरअण्डिणवखुरघादणिरत-  
रखडिद नूआवेदि तस्स गमणमग्ग घरणिवट्ठ ( गत खल्वप्रतो मदाकिनी-  
मवेक्षितु स्वामी मे कौरवेश्वर\* । एतच्च धोरितरयत्वरितनुरगप्रतिनवखुरघात-  
निरतरण्डित सूचयति तस्य गमनमार्गं घरणोपृष्ठम् । )

प्रतीहार —तेन हि सुप्पाभिरपि परिहर्तव्यो गगातीर्यप्रदेश ।

यहाँ मे मुझे गङ्गाघाट की रक्षा के लिये जाना चाहिये ।

सौविदल्ल—गङ्गाघाट तो सब लोगों के लिये साधारण है उसकी रक्षा  
क्यों की जा रही है ।

प्रतीहार—यहाँ काशीराज की पुत्री मुलोचना सौभाग्य-स्नान के  
लिये आवेगी ।

सौविदल्ल—तब तो ठीक है ।

प्रतीहार—और आप कहाँ चल रहे हैं ?

सौविदल्ल—गङ्गा को देखने के लिये मेरे स्वामी कौरवेश्वर आगे  
गये हैं । ( सामने दिखाकर ) धोरितनामक गति से शीघ्र चलने वाले घोड़े  
के नवीन खुरों के घात से निरन्तर स्रसिद्ध हुआ यह पृथिवीतल उनके  
गमन के मार्ग को सूचित कर रहा है ।

प्रतीहार—तो आम्की भी गङ्गातीर का प्रदेश छोड़ना होगा ।

सौविदलः—अग्रतः तह । ( आर्यं तथा । )

( निष्क्रान्तौ )

मिश्रविष्कम्भः

( ततः प्रविशति सोत्कण्टो राजा विदूषकश्च )

राजा—

प्रागावयोरुपनतस्य समागमस्य

संकेतवासभवनं तदनुस्मरामि ।

यत्रैव दर्पणतले क्षणसन्निविष्टा

संक्रामितौ सममहं च सुलोचना च ॥ १२ ॥

इदं तु पुनरलब्धविश्रामं परिभ्राम्यत्कथं नु नाम धार्येत धैर्यावसादतरलं  
चेतः । यतो हि मे ।

येनैव सा प्रथममिदुमुखी प्रयाता

मार्गेण मां विकिरती स्मरमार्गणानाम् ।

तामेव संप्रति च मार्गगतोऽस्य भूयः

पर्याकुलस्य मनसोपि स एव मार्गः ॥ १३ ॥

सौविदलः—आर्य ! ऐसी ही बात है ।

( दोनों निकल जाते हैं )

मिश्रविष्कम्भ

( इसके बाद उत्कण्ठा से युक्त राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं )

राजा—प्रागावयो—सबसे पहले मैं हम दोनों के उपस्थित समागम के संकेतभवन—मिलनगृह स्वरूप उस दर्पण-तल का स्मरण करता हूँ जिसमें क्षण भर के लिये बैठी हुई वह सुलोचना और हम दोनों ही साथ-साथ प्रतिबिम्बित हुए थे ॥ १२ ॥

बिना किसी विश्राम के निरन्तर घूमता तथा धैर्य के नाश से चञ्चलता को प्राप्त यह चित्त कैसे रोका जा सकता है ? क्योंकि

येनैव—सर्व प्रथम मेरी ओर काम के वाणों को बिखेरती हुई वह चन्द्रमुखी जिस मार्ग से गई थी इस समय उसी को खोजनेवाले मेरे व्यग्र मन का भी वही मार्ग है ॥ १३ ॥

निपीतो नेत्राभ्यामधररुचकः कौतुकरस—

प्रसगस्मेराभ्यां प्रथममभवत् पद्मलटशः ।

कथं पातुं बाह्या पुनरपरथैवेयमपरा

पर धैर्यध्वस समवदधती नोपरमति ॥ १४ ॥

विदूषक—मो वञ्चस्व रमणिञ्ज खु एञ्च गगातीरजाण आज दक्खिमो ।  
( मो यस्य रमणीय खल्वेतत् गगातीरोजान वावत्तय्याम । )

राजा—यद्भवते रोचते ।

विदूषकः—इदो इदो ( पणिकामत ) मो वञ्चस्व दस्स दाव गगातीर-  
जाणस्स रामणिञ्जञ्च । एत्थं ह । मञ्जुखिरतरणिबद्धमहाणीलमणिविडितर-  
तिविसेसा जम्भुअमणिगलवा विअ दुम्मति अल्लोभमरखट्ठुरा आरेवदविड-  
धेहिं कुल्लमजरीओ । निअसति शिम्मलरूपच्छविधवल्लुजलदलाइतवणिज्जुण-  
सारिच्छुअणकेसरकराइ विदुमरखट्ठिलोहिअवट्ठुलकयिअआइ पुण्याइपु-  
ष्पाइ । दीसति थोरमुत्पाहलफलहधवल्लाइ शिम्महिअवहलमइरगधज्जाइ  
तक्खणचोडुविअलिअइ महअकुसुमाइ । सोहति रअडिअजणहिअउक्खण-  
सकतवहलरहिरकदमसरजिअइ उदाममअरदअसदलणहरकराइ विअ बाहि-  
रकुटगठिविअअणसोणिमाइ किमुअकुसमाइ । अह हि । ओत्ताणपुडइणीग-  
आइ बहुमनरिल्लसहआरआइ, मुसुमभरमरिअमेहानिअइ, भूरिविअसतरा-  
मालिअइ, यवअसअणिविडकवेलिअइ, निअलतासवविसरोल्लिअइ, मड-

निपीतो—उस सघन बरीनावाले नेत्रों से युक्त मुलाचना का अधर-  
निम्ब कौतुकरस के प्रसङ्ग से निकसित नेत्रों के द्वारा पहले पिया गया है—  
देखा गया है अब उसे अन्य प्रकार से पान करने की यह दूसरी इच्छा—  
सुम्भन करने की अमिलापा धेय का भारी विषात करती हुई क्यों शान्त नहीं  
हो रही है ? ॥ १४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! यह गङ्गातट का उद्यान सचमुच ही सुन्दर है,  
इसे देखें ।

राजा—जो आपके लिये अच्छा लगे ।

विदूषक—यहाँ, यहाँ से आइये (दोनों घूमते हैं) हे मित्र ! गङ्गातीर के



त्लगममणोहरमल्लिआइ, उफुल्लसुरहिवहुवल्लि आइ, गिवडंतकुसुमरअधू-  
सराइ, मलआणिलचंचेल्लिअकेसराइ, सव्वंगसुरहियवमरुवआइ, गुवगुच्छ-  
गुठिअकुरवआइ, भंकारमुहुरिदिराइ, सुहसीअलमाहइमंदिराइ, महुसीअरिल्ल-  
सिसिरवउलाइ, दंसिदवसंतरणवविभमाइ, सम्माणिअवणपरिब्भमाइ, एण्हि  
हरंति जुवजणमणाइ गंगाअडपेरंतवणाइ । पच्छ पच्छ इह अ सुहविणादए  
किअमअणोदए सुरणईतीरवणोअए णं सहअरिसहिओ सुरअण नुहिओ डुडुइ-  
रइरत्तआअरे । ( इत इतः । ) भो वयस्य पश्य तावत् गगातीरोद्यानस्य राम-  
णीयक, अत्र हि मध्यनिरंतरनिबद्धमहानीलमणिविगलत्कांतिविशेषाः जावून-  
दमणिप्रालंबा इव उद्यंते आलीनभ्रमरकर्बुरा आरेवतविटपैः फुल्लमंजयः ।  
विकसंति निर्मलरूप्यच्छविधवलोज्ज्वलदलानि तपनीयचूर्णसदृक्षारण्यकेसरोत्क-  
राणि विद्रुमखंडविलोहितवर्तुलकर्णिकानि पुन्नागपुष्पाणि । दृश्यन्ते स्थून्ननुक्ता-  
फलस्फटिकधवलानि निर्मथितवहलमदिरोद्गंधंधुराणि तत्क्षणावृत्तविगलितानि  
मधूककुसुमानि । शोभन्ते खंडितजनहृदयोत्खांडनत्क्रांतवहलरधिरकर्दमरसरंजि-  
तानि उद्दाममकरध्वजशार्दूलनखांकुराणोव बहिस्फुटग्रंथिविवटनघनशोणमानि

उद्यान की सुन्दरता तो देखो । यहाँ आरेवत—वृक्ष की शाखाओं के द्वारा  
सब ओर से बैठे हुए भ्रमरों से चित्रित फूलों की जो मञ्जरियाँ धारण की  
जा रही हैं वे बीच-बीच में निरन्तर जड़े हुए महानीलमणियों की निक-  
लती हुई कान्ति विशेष से युक्त श्रेष्ठ सुवर्ण के फन्सों के समान जान पड़ते  
हैं । जिनके सफेद उज्ज्वल दल निर्मल चांदी के समान कान्ति से युक्त हैं,  
जिनमें सुवर्णचूर्ण के समान लाल-लाल केसर का समूह भरा हुआ है तथा  
जिनकी कर्णिकाएँ मूंगे के खण्ड के समान लाल तथा गोल हैं ऐसे नागकेशर  
के पुष्प खिल रहे हैं । जो बड़े बड़े मोतियों तथा स्फटिक के समान सफेद हैं,  
जो मथी हुई मदिरा की बहुत भारी गन्ध से युक्त है, तथा अभी हाल बोटियों  
से टूट कर नीचे पड़े हैं ऐसे महुए के फूल दिखाई दे रहे हैं । बाहरी गांठ के  
खिल जाने से जिनकी लालिमा अधिक बढ़ रही है ऐसे पलाश के फूल काम-  
देवरूपी उत्कट सिंह के उन नखाङ्गुरों के समान सुशोभित हो रहे हैं जो विरही  
मनुष्यों के हृदय के खण्डन करने से निकले बहुत भारी खूनरूपी कीचड़ के  
रङ्ग से रंगे हुए हैं । साथ ही जो खिली हुई कमलिनियों से सुशोभित हैं,

किञ्चुकमुसुमानि । अथ च । उत्तानपुटकिनीराजितानि बहुमजरीवत्सहकार-  
काणि कुसुममरमरितशेफालिकानि भूरिविकसन्नमालिकानि स्तवकशतनिविड-  
कंकलिकानि विगलदासवविसरार्द्रितानि मुकुलोद्गममनोदग्मल्लिकानि उत्पु-  
ल्लमुरभिवहुवल्लिकानि निपतत्तुमुमरजोधूसराणि मलयानिलचाचल्यमानवेष-  
राणि सर्वांगमुरमिनव्यमरुवकाणि नवगुच्छगुफितकुरवकाणि भ्रकारमुखरैदि-  
राणि सुखशीतलमाघवीमदिराणि मधुशीकरवत् शिशिरवकुलानि मधुरनिनद-  
त्परमृतकुलानि दर्शितवसतनवविभ्रमाणि समानितयवनपरिभ्रमाणि, इदानीं  
हरति सुवजनमनासि गङ्गातटपर्यंतवनानि । पश्य पश्य । इह च सुवनिनोदे  
कृतमदनोदये सुरनदीतोरोवनोदरे ननु सहचरीसहित सुरजनः सुलितः मज्जति  
रतिसागरे । )

राजा—( निर्वर्ण्य ) वयस्य सम्यगुपलक्षितम् । अत्र हि ।

“जिनमें सुगन्धित आम के वृक्ष अनेक मञ्जरियों से युक्त हैं, जहाँ हरशृङ्गार  
की लताएँ फूलों के समूह से मरी हुई हैं, जिनमें नवमालिकाएँ अत्यधिक  
विकसित हो रही हैं, जहाँ अशोक के वृक्ष सैकड़ों गुच्छों से व्याप्त हैं, जो  
गिरते हुए, पुष्परस के समूह से गीले हो रहे हैं, जहाँ मालती की लताएँ  
बोड़ियों के निकलने से मनीहर दिखाई देती हैं, जिनमें अनेक लताएँ उत्कृष्ट  
फूलों से सुगन्धित हैं, जो फूलों की पड़ती हुई पराग से धूसर हैं—धूलियुक्त  
हैं, जहाँ मौलिभी के वृक्ष मलय वायु से अत्यन्त चञ्चल हो रहे हैं, जहाँ  
सर्वाङ्ग से सुगन्धित नये नये मरुए लग रहे हैं, जिनमें कुरुवक के वृक्ष नये-  
नये गुच्छों से व्याप्त हैं, जहाँ भीरे भ्रकार से मुखर हो रहे हैं, जहाँ माघवी  
लताओं के निकुञ्ज सुखदायक तथा शीतल हैं, जहाँ मौलिभी के शीतल वृक्ष  
मधु के कणों से युक्त हैं, जिनमें कोयलों के समूह मधुर शब्द कर रहे हैं, जो  
वसन्त की नई-नई शोभा दिखला रहे हैं और जिनमें मुन्दर वायु का संचार  
हो रहा है ऐसे ये गङ्गातट के निकटवर्ती वन इस समय तरुण जनों के मनको  
हर रहे हैं । देखो देखो, यहाँ सुखदायक विनोद से युक्त तथा काम के उदय  
को करने वाले गङ्गातट के वन के मध्य में अपनी वल्लमाओं से सहित देव  
लोग सुखी होते हुए रतिरूप सागर में निमग्न हो रहे हैं ।

राजा—( देखकर ) मित्र ! ठीक देखा । यहाँ—

४ वि० कौ०

चूपंश्चूतांकुराग्रं क्षणमथ कलिकाः पाटयन् पाटलीना-  
 मास्कंदन् कुन्दकोशं भटिति विघटयन् कुड्मलं कारहाटम् ।  
 भिदन् मंदारवद्धं मुकुलमाविकचं चंपकानां च चुम्बन्  
 पुष्पाद्भ्येति पुष्पं मधुकरनिकरः प्राप्तहर्षप्रकर्षः ॥ १५ ॥

अपि च । अयं च खलु मतंगजमदामोदसंवादिसुरभिमुमनाच्छादयति  
 सप्तच्छदो गंधांतरग्रहणशक्तिं प्राणपुटस्य । अयं च धौतकलधौतगोलककमनी-  
 यानि सकौतुककामिनीजनाग्रहस्तग्रहणलीलार्हाणि विभर्ति महार्हाणि फलानि  
 जंबीरः । इमानि च स्निग्धहरितानि लुंठयति विबोष्ठानां प्रकोष्ठकांतिं पुण्ड्रे-  
 ल्लुकांडानि । अयं च तरुणकामिनीकर्णपूरकरणयोग्यानि वहति प्रवालपाट-  
 लानि प्रवालान्यशोकः । अमूनि च द्रविडविलासिनीताटंकरचनोचितानि  
 शुक्लच्छदछविं हरंति हरंति विलांचनानि नालिकेरपत्राणि । इयं च तुलित-

चूपं—भ्रमरों का समूह क्षणभर आग्न-मञ्जरियों के अग्रभाग को चूसता है  
 तो उसके बाद ही गुलाब की कलियों को विदोर्ण करने लगता है, फिर कुन्द  
 की बोंड़ी पर भपटता है, पुनः शीघ्र ही करहाट की बोंड़ी को खोलने लगता  
 है, कभी मन्दार वृक्ष में लगी बोंड़ी को खोलता है, और कभी चम्पा की  
 अविकसित बोंड़ी का चुम्बन करता है—इस प्रकार हर्ष की अधिकता को  
 प्राप्त होता हुआ एक फूल से दूसरे फूल के सम्मुख जा रहा है ॥ १५ ॥

और भी जिसके फूल हाथी के मद की सुगन्धि से मिलती-जुलती सुगन्धि से  
 युक्त हैं ऐसा यह सप्तपर्ण का वृक्ष नायिकापुट की अन्य गन्ध को ग्रहण करने  
 की शक्ति को आच्छादित कर रहा है । यह जिमरिया का वृक्ष धुले हुए  
 सुवर्ण के गोलों के समान सुन्दर तथा कौतुकयुक्त स्त्रियों की हथेलियों से  
 ग्रहण करने के योग्य अत्यन्त श्रेष्ठ फलों को धारण कर रहा है । ये चिकने  
 हरे पौड़े तथा ईख के दण्ड विम्बोफल के समान लाल-लाल ओंठो वाली  
 स्त्रियों की कलाई की कान्ति को लूट रहे हैं । यह अशोक तरुणस्त्रियों के  
 कर्णाभरण बनाने के योग्य मूझा के समान गुलाबी किसलयों को धारण कर  
 रहा है । ये द्रविड देश की स्त्रियों के कर्णाभरण बनाने में काम आनेवाले  
 एवं तोता के पंखों की छवि को हरते हुए नारियल के पत्ते नेशों का हर रहे

विदर्भकामिनीपिनोरुस्तमविभ्रमा स्नम्भवति बोद्धव्यानि रात्ररमा । ( अन्यतो विलोक्य निर्वर्ण्य च )

हृदयामयानुधावत्यधरदलरुचा रजिता दत्तपक्तिं  
गौडीनां प्रोढपाकक्रमपरिदलितैः स्वैः फलैरुच्छिलिङ्ग ।  
निष्ठस्तस्पर्शवर्णच्छविभिरवहिवघ्राणलेढव्यगधै  
काश्मारीगण्डशोभां कवलयति फलैर्निर्मलैर्मातुलिङ्ग ॥ १६ ॥

( अन्यतो दृष्ट्वा ) इत्यम् ।

रमयति हरिद्वृतोद्विद्धैर्विलयविरासितै-  
रलकरचना चोलनीणा मुखेऽप्यवतानितैः ।  
अनतिजलरठैः पुष्पैर्यपां जपाकुसुमादण्डै-  
र्विधुरमुकुलान् वधूकास्ताम्ननो बहु मन्यते ॥ १७ ॥

हैं और यह विदर्भ देश की ज़ियों के मोटे माटे जरा स्नम्भों की शोभा को—  
चुलना करने वाली कदलों नेत्रों को रोक रही है । ( दूसरी ओर देखकर तथा  
वर्णन कर )

हृदया—इधर यह अनार अत्यधिक पक जाने के कारण फटे हुए अपने  
फलों से गौड़ देश की ज़ियों के अधरोष्ठ की कान्ति से रंगी सुन्दर दन्तपक्ति  
का अनुकरण कर रहा है और यह विशोरा का वृद्ध तराये हुए सुवर्ण के  
समान कान्ति से युक्त तथा एकप्र नासिका से सूँठने के योग्य गन्ध से  
सुशोभित निर्मल फलों से काश्मीर देश की ज़ियों के गालों की शोभा को  
मस्त कर रहा है ॥ १६ ॥

( दूसरी ओर देखकर ) और इधर—

रमयति—हरी हरी बोझियों से युक्त, तोड़कर भिलाये, मुकों पर लट-  
काये और जासौर के फूल के समान लाल लाल भिनके ताजे फूलों को  
चोल देश की ज़ियों की केश-रचना अधिक आनन्द देती है । उन खिले  
हुए बन्धूक—दुम्हरिया के पौधों को मन बहुत अच्छा मान रहा है ॥ १७ ॥

इतश्च ।

असौ शिरीषः कुसुमानि धत्ते  
सुलोचनावाहुलतामृदूनि ।

प्रियाकपोलच्छुरणार्चनीयै-

विभाति लोधः सुमनःपरागैः ॥ १८ ॥

( स्पर्शं रूपयित्वा ) अहो मनोज्ञं मंदाकिनीतीरोद्यानमारुतस्य ।

अत्र हि ।

वर्षतः प्रविकासिकेसररजश्रूणान्मधुश्रोतिनः

कर्पतः कलकंठकंठकुहराच्चूतासवार्द्रा गिरः ।

सद्यः खंडितमानिनीहृदयगान् मंदानिलाश्चादना-

नालेपान् परिशेषयन्ति न परं धैर्यावलेपानपि ॥ १९ ॥

चिद्रूपकः—वधूरस इदं दविखण्डु मंदाइणि । ( वयरय इतः पश्यतु मंदाकिनीम् । )

इधर—

असौ—यह शिरीष का वृक्ष सुलोचना की भुजलता के समान कोमल फूलों को धारण कर रहा है और इधर यह लोध का वृक्ष प्रिया के कपोलों पर लगाने से प्रसंसनीय फूलों की पराग से सुशोभित हो रहा है ॥ १८ ॥

( स्पर्श का अभिनय कर ) अहा, गङ्गातट के उद्यान-सम्बन्धी वायु की बड़ी मनोज्ञता है—गंगा के तटीयान की वायु बहुत सुन्दर है ।

सचमुच ही यहाँ—

वर्षन्तः—जो खिले हुए मौलश्री के फूलों की रजरूपी चूर्ण की वर्षा कर रही है, जिनसे मधु चूर रहा है, और जो कोयलों के कण्टरूपी कन्दरा से ग्राम के आसव से आर्द्र ध्वनि को खींच रही है ऐसी मन्द-मन्द वायु, खण्डिताश्रु—पति के द्वारा उपेक्षित मानवती स्त्रियों के हृदय पर लगे चन्दन के लेप को ही शीघ्रता से नहीं समाप्त कर रही है किन्तु उनके धैर्य के अहंकार को भी समाप्त कर रही है ॥ १९ ॥

चिद्रूपक—मित्र ! इधर गङ्गा को देखिये ।

राजा—( विभोक्त्य निर्वर्ण्य च ) इय खलु मदोन्मोदाममल्लिकाक्ष-  
विश्वेन्दोमणप्रदरविदमरदावत्कदसोद्रसलिना सन्नीलविलोठमानगठो-  
परिरादोजटिलकल्लोला कलकणिनानुषोयमानदिदिरवृद्धदोलितविनिर्द्वेदोवखना  
विहारकेलीकलहायमानकोकनिनदमुम्बरितविक्रचकोकनदकुटीरकोटरा सकौतुक-  
धरटारटनानुसरणसंभ्रातकलरसकुलसकुलाकुल्लुगुडरीकखडा चटुलसञ्जरीटकु  
टिलरदपकिचित्रितमयंतसैकतला प्रसादतुलितनिर्मलस्फाटिकनटा विपटितसौग  
धिकगवसवधवधुरितगववाहा नन्दयति नयनानि मदाकिनी । तथाहि ।

वासयति मुहुरत्र मूर्च्छता

सौरभेण युगपत्समीरणम् ।

स्यन्दमानमकरदमेदुरा-

स्युत्पलानि च महोत्पलानि च ॥ २० ॥

राजा—( देखकर तथा बग़न कर ) सबमुच ही जिसका पानी मद के  
अत्यधिक मार से उत्कट हस विशेषों के पक्षों की फड़फड़ाहट-सम्बन्धी क्षोभ  
के कारण झूटते हुए कमलों के मकरन्द सम्बन्धी प्रसार से अत्यधिक व्याप्त  
हो रहा है, लीला-सहित लोटती हुई मल्लियों की परम्परा से जिसमें बड़ी-  
बड़ी लहरें उठ रही हैं, जिसके बिने हुए नील कमलों के घन मयूर गुञ्जन  
से अनुमान में आनेवाले भ्रमों के समूह से हिल रहे हैं, जिसमें लाल कमल  
रूरी कुटियों का मध्य भाग विहार के समय झोड़ा से कलह करनेवाले चक्कों के  
शब्द से शब्दायमान हो रहा है, जिसके फूले हुए सफेद कमलों के समूह  
कौतुकयुक्त हसियों के शब्द का अनुसरण करने से भ्रान्ति में पड़े हुए कन-  
हसों—रदकों के समूह से व्याप्त हैं, जिसके समोपवर्ती रेतीले प्रदेश, चञ्चल  
खञ्जन पक्षियों की टेढ़ी पदपक्षियों से चित्रित हैं, जो अग्नी स्वच्छता से  
निर्मल स्फटिक से निर्मित तट की तुलना कर रही है और जिसमें खिले हुए  
सफेद कमलों की गन्ध के सम्बन्ध से मनोहर वायु बह रही है—ऐसी यह  
गङ्गा नेत्रों को आनन्दित करती है । जैसे—

वासयन्ति—यहाँ झूटते हुए मकरन्द से व्याप्त नील कमल और  
सामान्य कमल फैलती हुई अग्नी मुगन्धि से एक ही साथ वायु को बार-बार  
सुवासित कर रहे हैं—सुगन्धित बना रहे हैं ॥ २० ॥

अपि च—

क्वचिज्ज्वूकुञ्जप्रतिहतिपरावर्तितजवः  
क्वचिद् वृत्तावर्तभ्रमवशपरिभ्रान्तसलिलः ।  
क्वचिद्रोधःपातद्रुतविघटमानीर्मिनिवहः  
प्रवाहो जाह्नव्याः प्रथयति गभीरं कलकलम् ॥ २१ ॥

इतश्च ।

विसृत्य लहरीजलं नभसि दूरमत्रोत्थिता  
विवर्तितनिशातशुभ्रकरवालधारोज्ज्वलाः ।  
भपाश्रुदुलचक्रमास्सपदि मीनकेतोरपि  
स्फुरंत इव केतवः किमपि कौतुकं तन्वते ॥ २२ ॥

चिद्रूपकः—( निर्वर्ण्य ) भो वयस्स दक्ख दाव इदो पाडिवचंदकोडि--  
कुडिलविश्रडदाडाकरालमुहुकुहरा समुत्तंभिदककसहत्था दीसंति तरंता विश्र

और भी

क्वचित्—कहीं जामुनों की भाड़ी की रुकावट से जिसका वेग विपरीत  
लौट रहा है, कहीं गोल भँवर में पड़ जाने से जिसका पानी चारों ओर घूम  
रहा है, और कहीं गल-गल कर किनारों के पड़ने से जिसमें बड़ी बड़ी लहरों  
का समूह उठ रहा है ऐसा गंगा का प्रवाह अत्यधिक कलकल कर रहा  
है ॥ २१ ॥

और इधर

विसृत्य—जो लहरों के जल को फैलाकर आकाश में दूरतक उछल  
रहे हैं, जो घुमाई हुई पैनी सफेद तलवार की धार के समान उज्ज्वल हैं,  
जिनकी चाल बहुत चञ्चल है तथा जो कामदेव की तत्काल फहराई हुई  
पताकाओं के समान सुशोभित हैं ऐसे मच्छ अनिर्वचनीय कौतूहल को  
विस्तृत करते हैं ॥ २२ ॥

चिद्रूपक—( देखकर ) मित्र ! इधर देखिये, जिनको मुख-कन्दराएँ  
पड़वा के चन्द्रमा की कोटि के समान टेढ़ी बड़ी-बड़ी डाढ़ों से भयंकर

दीधटा भ्रमरलाङ्गतसञ्जनजलशरणिभरा भ्रमरा । इदो अभमलरमसमा-  
श्रंतजलविहगपरिहरिब्जतपरिसरा दीहशरपक्षकदगम्भिणा दति सोहित्य  
शिरतरममंतसलिलऊरा तालूरा । इदो अ मञ्जयागाश्रजणावतरणदूरोत्तारि-  
श्रसेवाला शिम्भूलिभ्रजवाला पसादपश्रडपडिच्छदिश्रतीरतरुणिभरा सञ्जिदा  
विश्र दर्पणा, जणहव्विष् हरति हिश्रआइ विसत्थविहरत्ताढीणडिभञ्जया  
तित्था । इदो अ मन्दवायतमदाइणीपवणदुञ्चतपेरता नुत्थतमहुरत्तारसणि-  
णादमणहरा अन्निवधति सोअणाइ शिअडावगासगआगअवाण्डसित्तिरत-  
रंगआ तडकहुक्कआ ।

( भी वयस्य पश्य तावदित प्रतिरञ्चन्त्रकोटिकुटिलविकटदृष्टाकराल-  
मुखकुहरा समुत्तमितककंशस्तु दृश्यते तत्रत इव द्विषटा ( गजा ) मय-  
पलायितसकलजलचरनिकरा भक्राः । इतश्च भ्रमशरमसविम्भजलविहगपरि-  
हियमाणपरिसरा दीर्घतरपक्षपादगमिताः ददति सौहित्य निरतरभ्रमत्सलिल-  
पूरा तटा । इतश्च । मञ्जनोत्सुकजनावतरणदूरोत्तारितशैवाला निर्मूलितज-  
वाला प्रसादप्रकटप्रतिच्छदिततीरतरुनिकरा सञ्जिता इव दर्पणा, जाह्नव्याः  
हरन्ति हृदयानि विसन्धविहरत्ताढीनडिभञ्जया तीर्था ।

हैं, जिन्होंने कठोर हाथ ऊपर की ओर उठा रखे हैं तथा जिनके मय से  
समस्त जलचर जीवों का समूह भाग गया है—ऐसे ये मगर तैरते हुए  
हाथियों के समान दिखाई दे रहे हैं ।

इधर, भ्रमश-सम्बन्धी वेग से मयमीत जलपक्षियों ने जिनके समीप का  
प्रदेश छोड़ दिया है, जो अन्वधिक कठोर शब्द से युक्त हैं, तथा जिनमें पानी  
का पूरा निरन्तर घूमता रहता है—ऐसे ये तट सतोष प्रदान कर रहे हैं ।

इधर, स्नान के लिये आये हुए मनुष्यों ने उतर कर जिनके शेवाल को  
दूर हटा दिया है, जिनके नवान को उखाड़कर अलग कर दिया है, स्वच्छता  
के कारण जिनमें तट के घृहों का समूह प्रतिबिम्बित हो रहा है, जो सजे हुए  
दर्पण के समान जान पड़ते हैं तथा जिनमें मछलियों के बच्चों के मुण्ड  
निश्चिन्तता से घूम रहे हैं ऐसे ये मगर के घाट हृदय को हर रहे हैं ।



इतश्च मंदवहम्मन्दाकिनीपवनधूयमानपर्यंताः श्रूयमाणमधुरसारसनिन्दम-  
नोहराआक्षिपन्ति लोचनानि निकटावकाशगतागतव्यापृतशिशिरस्तरङ्गाः तट-  
कुंजाः । )

राजा—( विलोक्य निर्वर्ण्य च ) अहो स्तृहणीयता जाह्नव्याः ।  
अत्र हि ।

तरंगप्रेखोलव्यतिकरपरावर्तितदलं  
दृशौ सारंगाद्यास्तुलयति विलोलं कुवलयम् ।  
स्तनौ तस्याः कार्तस्वरकलशसौभाग्यजयिनौ  
स्मरक्रीडादोलौ स्मरयतितरां काकमिथुनम् ॥ २३ ॥

( सविशेषोत्कण्ठम् )

यच्चक्रीकरणं करेण सदयं यद्वा नखोल्लेखनं  
गण्डाभ्यामुपगूहनं यदसकृद्वक्त्रेण यत्पोडनम् ।  
आत्राणं कुचयोर्यदुत्पुलकयोर्यच्चार्षणं नेत्रयो-

और इधर मन्द-मन्द बहती हुई गंगा की पवन से जिनके समीपवर्ती प्रदेश कम्पित हो रहे हैं, जो मुनाई पड़नेवाली सारसों की मधुर वाणी से मनोहर हैं तथा जिनके निकटवर्ती खाली स्थानों में ठण्ढी-ठण्ढी लहरें आने जाने में व्यापृत हैं—ऐसे ये तट के लतागृह नेत्रों को आकृष्ट कर रहे हैं ।

राजा—( देखकर तथा वर्णन कर ) अहा, गंगा की बड़ी सुन्दरता है । सचमुच ही यहाँ—

तरङ्ग—लहरों की हलचल से जिसकी कली उलट गई है ऐसा हिलता हुआ नील कमल मृगनयनी मुलोचना की दृष्टि की तुलना कर रहा है तथा चक्रवा-चक्रवी का जोड़ा सुवर्ण-कलश की शोभा को जीतनेवाले एवं काम-क्रीड़ा से हिलते हुए उसके स्तनों का स्मरण करा रहा है ॥ २३ ॥

( अत्यधिक उत्कण्ठा के साथ )

यच्चक्री—रोमाञ्चित स्तनों को हाथ से दबाकर चपटा करना, अथवा दयापूर्वक नखों से आघात करना, गालों से आलिङ्गन करना, बार-बार मुख

१ यद्वा चूचुकुचुम्बन व्रजतु तद् द्रष्टुं च तां नाप्नुम ॥ २४ ॥

विदूषकः—वयस्य अस्ति तिस्रा दसगोवाश्रो । ( वयस्य अस्ति तस्या दर्शनोपाय । )

राजा—वयस्य कथमिव ।

विदूषक—भणितं तु श्रमं सोविदल्लेखं लल्लेखं, आगमिरिषिदि सोह-  
णामञ्जणस्य एतत् कासीराज्यउत्तिष्ठि । ( भणितं लल्लेखं सोविदल्लेखं  
लल्लेखं । आगमिष्यति सोमाग्यमञ्जनार्थमत्र कासीराजपुत्रीति । )

राजा—तदपि व्रक्ष्यामः ।

( निर्वर्णयतौ परिक्रामत. )

( ततः प्रविशति मुलोचना नवमालिका चेटी च )

नवमालिका—प्रियसखि जाव मञ्जणवेला ताव एतत् गगातीरमाये  
दिट्ठिओ विणोदस्सम्ह । ( प्रियसखि यावन्मञ्जनवेला तावदत्र गगातीरोद्याने  
दृष्टि विनोदयिष्याम । )

से पीड़ित कर्ना, सँधना, नेत्रों में लगाना अथवा उनके अग्रभाग का जो-  
सुम्बन करना है वह तो दूर रहा हम तो उसे देखने के लिये भी नहीं पा  
रहे हैं ॥ २४ ॥

विदूषक—मित्र ! उसके देखने का उपाय है ।

राजा—मित्र ! किस तरह ?

विदूषक—हमसे लाला सोविदल्ल ( कचुकी ) ने कहा था कि सोमाग्य-  
स्नान के लिये यहाँ कासीराज की पुत्री आवेगी ।

राजा—वह भी देखेंगे ।

( देखते हुए दोनों घूमते हैं )

( तदनन्तर मुलोचना, नवमालिका और दासी प्रवेश करती है )

नवमालिका—प्रियसखि ! जब तक स्नान का समय होता है तबतक  
यहाँ मगातट के उद्यान में दृष्टि को बहलावें ।

सुलोचना—जह पिअसहि भणादि । ( यया प्रियसखी भणति । )

नवमालिका—इद इदो पिअसहि । ( इतः इतः प्रियसखि । )

( सर्वाः परिक्रामन्ति )

चेटी—( निर्वर्ण्य ) अहो इमस्स गिरंतरुफ्फुल्लसराअकुसुमदाए रत्तकं-  
वलोगुंठिदेहि पिव पालिभद्दुमेहि गिरंतरुफ्फुल्लदाए कणंतकणअपच्छद-  
संछण्णेहि पिव कंचणकोविआरपाअवेहि गिम्भरविअसिअकसणगुच्छदाए  
इंदणीलमणिकिरणसंबलिदेहि पिव तापिच्छेहि गिविडविहडिअसामलमउल-  
दाए गिम्मलमरगअमोहवलइदेहि पिव सरिसएहि घणपिणद्धवल-  
मंजरीसहस्सदाए आमुत्तमोत्तिअणिअरगुच्छेहि पिव विअसिअसिधुवारेहि  
दंसिदेण पंचवणअकुसुमविच्छडुएण सज्जीवकरंत विअ पंचवाणाइ सुहविहा-  
रजोगसमग्गपुलिणसोहिअस्स पत्तलवहलकेअइवइवेत्थिअस्स रमणिज्जदा  
गंगातीरज्जाणस्स । ( अहो अत्य निरंतरोत्फुल्लसरागकुसुमतया रत्नकंठलाव-  
गुंठितैरिव । पारिभद्रद्रुमैः निरंतरोत्फुल्लपीतफुल्लतया कनकनकप्रच्छदसंछन्नै-  
रिव कांचनकोविदारपादपैः निभरविकसितकृष्णगुच्छतया इन्द्रनीलमणि-  
किरणसंबलितैरिव तापिच्छैर्निविडविधटितश्यामलमुकुलतया निर्मलमरकत-

सुलोचना—जैसा प्रियसखी कहें ।

नवमालिका—इवर-इघर से आइये प्रियसखि !

( सब घूमती हैं )

चेटी—( देखकर ) अहा, पतीली एवं सघन केतकी की बाड़ी से घिरे हुए  
इस गंगातट के उद्यान की अनुगम सुन्दरता है । यहां कहीं तो निरन्तर फूले हुये  
लाल-लाल फूलों से युक्त होने के कारण पारिभद्र के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं  
मानों उन्हें लाल कम्बलों से ही ढक दिया हो । कहीं निरन्तर फूले हुए पीले-  
पीले फूलों से युक्त होने के कारण कचनार के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों  
उन्हें देदीप्यमान सुवर्ण की चदर से ही ढक दिया हो । कहीं अत्यन्त खिले  
हुए काले-काले गुच्छों से युक्त होने के कारण तमाल के वृक्ष ऐसे जान  
पड़ते हैं मानों वे इन्द्रनीलमणि की किरणों से ही व्याप्त हो रहे हों ।  
कहीं अत्यन्त खिली हुई श्यामल बोड़ियों से सहित होने के कारण शिरीष

मयूखवलपितैरिव शिरीषैः धनपिनद्धवलमजरीसहस्रतया श्रामुक्तमौक्तिक-  
निकरगुच्छैरिव विकसितसिन्धुवारैः दर्शितेन पचवर्णकुसुमविच्छदेन सज्जीकुर्यत  
इव पचदाणान् सुखविहारयोग्यसमप्रगुलिनशोभिनस्य पत्रिलवहलकेतकीवृत्ति-  
वेष्टितस्य रमणीयता गगातीरोचानस्य । )

नवमालिका—( पुरो निर्दिश्य ) रमणीयं तु एषः मुहसितिरच्छायां  
पिञ्चगुपाध्रवमूलं जाव एष्य मुहुत्तञ्च उवविसृज्य । ( रमणीयं खल्वेतत् मुख-  
शिशिरच्छायां प्रियगुपाध्रमूलं यावदत्र मुहूर्तमुपविशाम् । )

सुलोचना—अपिञ्चसहिष्णु रोएदि । ( यत् प्रियसरया रोचते । )

( सर्वा उपविशन्ति )

नवमालिका—हला सरलिय जाणाहि दाव महत्तरिआहि किरतस्स  
केरसी पडत्ति मज्जनसविहाणस्सत्ति । ( हला सरलिके जानीहि तावन्महत्तरि-  
काभि क्रियमाणम्प्य कीदृशी प्रवृत्ति मज्जनसविधानस्येति । )

के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों निर्मल मरकत मणि की किरणों से चिर  
रहे हैं । और कहीं सफेद-सफेद हजारों मज्जरियो से अत्यधिक व्याप्त होने  
के कारण खिले हुए सिन्धुवार के वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानों भीतियों  
के गुच्छों की ही धारण कर रहे हो । इन वृक्षों के द्वारा दिखलाये हुए  
पाच रंग के फूलों के समूह से ऐसा जान पड़ता है मानों यह उद्यान काम  
के पाच धारणों की सजाकर तैयार कर रहा हो । यह उद्यान मुखपूर्वक  
विहार करने के योग्य समस्त उन्नत प्रदेशों से मुशोभित है ।

नवमालिका—( आगे देखकर ) यह प्रियगु वृक्ष का तल मुखदायक  
शीतल छाया से युक्त तथा अत्यन्त मुन्दर है । तब तक थोड़ी देर यहाँ बैठे ।

सुलोचना—ओ प्रिय सखी को अच्छा लगे ।

( सब बैठ जाती हैं )

नवमालिका—अरी सरलिका ! महत्तरिकाओं के द्वारा की जानेवाली  
स्नान की तैयारी का क्या हाल है ? जरा मालूम हो कर ।

चेटी—जं पिअसही भणादि । ( यत् प्रियसखी भणति । )

( उत्थाय निष्क्रान्ता )

सुलोचना—( आत्मगतं ) कहं रमणिज्जोवि एस उद्देशो तद्दसणादो  
पहुदि उम्मणाअन्तस्स ण देइ णिउउइं हिअअस्स जदो दीसंतावि एत्थ उप्फु-  
ल्लमंजरीपुंजगुंजितमहुअरा इमे सहआरा सुमरावेति तं चेश्र तेण जणेण  
अलंकियपासं सहआरपाअवं । वाअंतावि एदे संरअसहआरपराअसुराअसुर-  
हिणो गंधवाहिणो सुमरावेति तं चेश्र तज्जणसरीरपस्समहग्घविदं समीरणं ।  
इमस्सि च तं चेश्र जणं धारअन्ति ण किपि अणणं लग्गदि चरिदावआसे  
हिअए । इमाइं अ तद्दसणमुहदुल्ललिआइ लोअणाइ उम्मिसंतावि ण  
पेक्खंति अत्थंतरं । इअं अ तदो पहुदि किपि किपि सुत्तअंती ण पारेदि इदो  
मुहुत्तं मुहु—( कथं रमणीयोपि एष उद्देशः तद्दर्शनात्प्रभृति उन्मनायमानस्य  
न दधाति निवृत्तिं हृदयस्य यतो दृश्यमाना अप्यत्र उत्कुल्लमंजरीपुञ्जगुञ्जन्-  
मधुकरा इमे सहकाराः स्मारयन्ति तमेव तेन जनेनालंकृतपार्श्वं सहकारपादपम् ।  
वांतोपि एते सरलसहकारपरागसुरागसुरभयो गन्धवाहाः स्मारयन्ति तमेव  
तज्जनशरीरस्पर्शमहार्घितं समीरणम् । अस्मिंश्च तमेव जनं धारयति न किम-  
प्यन्यदुलगतिं चरितावकाशे हृदये । इमे च तद्दर्शनसुखदुर्ललिते लोचने

चेटी—जो प्रियसखी कहें ।

( उठकर चली जाती है )

सुलोचना—( अपने मन में विचार करती है )

यह स्थान सुन्दर होने पर भी उनके दर्शन के समय से वेचैन होते हुए  
हृदय के लिए संतोष क्यों नहीं दे रहा है ? क्योंकि जिनकी फूली हुई  
मञ्जरियों के समूह पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं ऐसे ये दिखाई देते हुए ग्राम  
के वृक्ष उन्हीं के द्वारा अलंकृत समीप प्रदेशवाले ग्राम का स्मरण करा रहे  
हैं । देवदारु और ग्राम की सुन्दर सुगन्धि से युक्त यह बहती हुई वायु  
उन्हीं के शरीर के स्पर्श-सम्मानित वायु का स्मरण करा रही है । हमारा  
यह हृदय एक उन्हीं को धारण कर रहा है अतः अवकाश से रहित होने के  
कारण ही मानो इसमें और कोई वस्तु स्थान नहीं पा रही—हृदय को और

उन्मिषती अपि न पश्यतोऽर्थात्तम् । इयं च ततः प्रभृति किमपि किमपि स्मयन्ती  
न पारयति इतो मुहूर्तं मुहुः )—

बाहुदिदुष्यदीकदस्य तेण जणेण चिंतावराई । अहं अ अत्यदो एसं  
णिसग्गवला चिंता । अहं चेअ खु तेण तुलंगामेत्तदसणमुहदाइणा महा-  
बाहुणा अभिजादविरुद्ध कण्ठआण अभिद्व अगणअतेण दक्खतस्सवि-  
लीअणस्स कदमिह करग्गहेण एक्कपदेकमरिआ एसो अ तरस अदिक्कमो जं  
अहं चेअ सअ वरिदुकामा पढमं चेअ तेण खअणाणददाणपुण्यचदेण  
उत्तुल्लपुण्ढरीअसरिच्छेहि । सिणित्थपमहलचवलदीहरेहि सअ सुददस्मि  
चक्खुहि एसो अमे विवेअमूढो मणोरहो ज सा एव्व होदु सज्जोवि दिअहो ।  
सा एव्व होदु सअलावि वेला, सो एव्व होदु सज्जोवि उद्देसो, सा एव्व होदु  
सअलावि दिसा । अहिं खणमेत्त दसणमुहं आसि । किं उणं जहं अयथाइ  
वि अलीअलज्जावसणाइ ओहिरदसणभसहवेगाइ जहिच्छपेच्छयसाहसिआइ  
दोणिया लोअणाइ लहेअति । कोवा तरस पप्पुवअरो दप्पयास्स, जेया पडि-  
च्छतेया तस्स पडिच्छंदअ दिअण मे जहिच्छदसणमुहलोअणाण । ( विद्वति-  
दुर्वदीकृतेव तेन जनेन चिंतावराकी । अथ च अर्थत् एषा निसर्गवला चिंता ।  
अहमेव खलु तेन यहच्छामात्रदर्शनमुलदायिना महाबाहुनाभिजातविरुद्ध  
कन्यानामभिद्रव्यमगणयता पश्यतोपि लोचनस्य कृतास्मि करप्रहेयैकपदे कम-  
रिका । एष च तस्यातिक्रमो यदहमेव स्वयं वरिदुकामा प्रथममेव तेन नयना-

कुछ भी नहीं मुझ रहा हैं । उनके दर्शनसम्बन्धी मुल से पूर्ण तृप्त हुए ये नेत्र  
यद्यपि खुलते हैं तथापि दूसरे पदार्थ को नहीं देख रहे हैं । यह बेचारी चिन्ता  
उस समय से लेकर कुछ-कुछ सोचती ही रहती है, मुहूर्त भर के लिये मी-  
थुप बैठने के लिये समर्थ नहीं है ।

मानों उन्होंने इसे अपने में ही विहार करनेके लिये कैद कर रक्खा  
है । अथवा सचमुच ही यह चिन्ता स्वभाव से ही बलिष्ठ है । स्वेच्छा से  
दर्शन के मुल को देनेवाले उन महाबाहु ने इस बात की परवाह  
नहीं की कि कन्याओं को देखना कुल के विरुद्ध है और मैं उनके द्वारा  
एक साथ अपने नेत्रों की विहारस्थली बना ली गई । यह भी उनकी  
ज्यादती थी कि स्वयंवर करने की इच्छुक मैं स्वयं भी परन्तु नेत्रों के लिये  
पूर्णचन्द्र स्वरूप उन्होंने मुझे पहले ही खिले हुए सफेद कमल के समान

नन्ददानपूर्णचंद्रेशोत्फुल्लपुंडरीकसदृशैः स्निग्धपद्मलधवलदीर्घैः स्वयं वृतास्मि चक्षुर्मिः । एष च मे विवेकमूढो मनोरथो यत् स एव भवतु सर्वोपि दिवसः, सैव भवतु सकलापि वेला, स एव भवतु सर्वोप्युद्देशः, सा एव भवतु सकलापि दिशा यस्मिन् क्षणमात्रे दर्शनसुखमासीत् । किं पुनः यदि अन्ये अपि अली-कलज्जाव्यसने अपहृतसाध्वसवेगे यथेच्छप्रेक्षणासाहसे द्वे लोचने लभेयेति । को वा तस्य प्रत्युपकारो दर्पणस्य येन प्रतीच्छता तस्य प्रतिच्छंदं दत्तं मे यथे-च्छदर्शनमुखं लोचनयोः । )

अहल लुब्धो खु सो दप्पणो जेण खणंतरि चेअ गोपित्रं तस्स पडिच्छंदअं । सिद्धिखणो अ सो जणो जेण मुहुत्तमेत्तादो तिरोभवन्तेण पडिच्छंद अदंस-रापि अप्पणो ण सहिदं । अहव अहं चेअ एत्थ अपरज्झामि जा अहं संपुण्ण (दंसण) मेत्तएणापि तं जणं असंभावित्र दक्खंतस्स चेअ तस्स जहपुरं हि पत्थिदा । कहं वा एत्थ अत्तणोपि ण पभवति लज्जेमि जा अहं तदंसणार-मणिज्जं भूमिं आवत्तिअ पुरो दंसिदुं पि ण लहेमि । सुव्वइ अ मए सजो-व्वरास्स जरास्स अस्सिमदजरादंसणे उक्खंडिदधीरग्गलो उव्वासिदविराअव-सणो अवणोदलज्जतिरक्खरणीआं दूसहारंभककसो मअणो णाम कोवि अंत-करणं अक्खिवदिति । तं किर एदं मए दाणिं अणुहविज्जदि जेण मे अवर एव्व अदो पडुदि चिंता । अएणो एव्व संतावगम्भो मरास्स विश्रारो इदो अ मे अज्ज पवत्तदि वेलक्ख जं तदंसणसमए सम्मुहासीणाए इमाए णामा-लिआए तक्खणाधीरक्खलएविलक्खो मे भावो लक्खिदो ण वेत्ति ।

स्निग्ध विरानियों से युक्त सफेद एवं बड़े बड़े नेत्रों से स्वयं वरलिया । नेरा यह विवेकरहित मनोरथ हो रहा है—मैं विवेकरहित होकर सदा यही चाहती हूँ कि जिस समय क्षणभर के लिये उनके दर्शन का सुख प्राप्त हुआ था वही सारा दिन हो, वही समस्त समय हो, वही समस्त स्थान रहे और वही समस्त दिशा हो । क्या ही अच्छा हो यदि मैं ऐसे दो अन्य नेत्र पा जाऊँ कि जो लज्जाजन्य दुःख से रहित हों, जिन्होंने भय का वेग दूर कर दिया हो तथा जिनमें इच्छानुसार देखने का साहस भरा हुआ हो । उस दर्पण का प्रत्युपकार क्या हो सकता है ? जिसने उनके प्रतिविम्ब को ग्रहण कर मेरे नेत्रों के लिये इच्छानुसार देखने का सुख प्रदान किया था ।

( अथवा लुब्धः खलु स दर्पणो येन क्षणात्तर एव गोपितं तस्य प्रतिच्छद-  
कम् । निर्दाक्षिण्यश्च स जनो येन मुहूर्तमात्रातिरोभवता प्रतिच्छदकदशन-  
मपि आत्मनो न सोढम् । अथवा अहमेवात्रास्राध्वामि याहसपूर्णदर्शन-  
मात्रेणापि त जनमसमाप्य पश्यत एव तस्य यथापुर हि प्रक्षिप्तया । कथं वा  
अत्र आत्मनोपि न प्रभवामि लज्जे च । याह तद्दर्शनरमणीया भूमिमावृत्य-  
पुनर्द्रष्टुमपि न लभे । श्रूयते च मया सयोवनस्य जनस्याभिमतजनदर्शने  
उत्त्वडितपैपांगल उद्भासितविनयव्यसनोऽगनीतलज्जातिरस्करणीको दुःसहार-  
म्भककण्ठो मदनी नाम कोपि अतः करणमधिचिन्ततीति । तत् किलैतत् मयेदानी-  
मनुभाव्यते येन मे अत्रा इव तत् प्रभृतिचिन्ता, अन्य एव स गानगर्भो मनसो  
विकारः । इतश्च मे अत्र प्रवर्तते वैलक्ष्य यच्चदर्शनसमये समुल्लासीनया एतया  
नवमालिकया तत्क्षणाधैर्यस्वलनविलज्जो मे भावो लज्जितो न वेति । )

अथवा वह दर्पण सचमुच ही बड़ा लोभो या क्योंकि उसने उनके प्रतिबिम्ब  
को क्षण भर में ही छिपा लिया था । वे महानुभाव भी बड़े अनुदार थे क्योंकि  
मुहूर्तमात्र में तिरोहित होते हुए उन्होंने अपने प्रतिबिम्ब का देखना भी सहन  
नहीं किया । अथवा यहाँ मैं हो अपराधिनी हूँ जो उन महानुभाव को सपूर्ण  
दर्शन मात्र से भी सम्मानित नहीं कर सकी और उनको देखते-देखते पहले  
की ही भाँति चली गई । क्यों नहीं मैं यहाँ अपने ऊपर भी अपना प्रभाव  
रख पा रही हूँ ! तथा लज्जित हो रही हूँ जो उनके दर्शन से रमणीय भूमि  
को लौटकर पुनः देखने के लिये नहीं पा रही हूँ । मैंने मुन रक्खा है कि  
शौचन सहित मनुष्य को इष्टजन के दर्शन होनेपर धैर्य के आगल को तोड़  
देनेवाला, विनय के व्यसन का दूर कर देनेवाला, लज्जारूपी परदे को हटा  
देनेवाला, तथा गहुत दुःखदायी आरम्भ से कठोर काश नाम का कोई पदार्थ  
अन्तःकरण को भर दवाता है । जान पड़ता है इस समय मेरे द्वारा उसी  
काम का अनुमन किया जा रहा है क्योंकि उस समय से लेकर मुझे एक  
दूसरी ही चिन्ता हो रही है, और सताव से मिला हुआ मन का दूसरा ही  
विकार अनुभव में आ रहा है । इस समय मुझे दस वान की लज्जा ही रही है  
कि उनके देखने के समय सामने बैठी हुई इस नवमालिका ने उस क्षण  
होनेवाले धैर्य के स्वलन से लजाता हुआ मेरा भाव देख तो नहीं लिया है ।



नवमालिका—( विलोक्य ) प्रियसखि ! किं चिन्तयन्ति विप्र लखि-  
ज्जसि । ( प्रियसखि किमपि चिन्तयतीव लक्ष्यसे )

सुलोचना—( सवैलक्ष्यं ) जइ अत्थि कहं तेण कहइस्स । ( यद्यस्ति  
कथं तेन कथयिष्ये ) ।

नवमालिका—एण ख जं चित्तिज्जइ तं कहेद्वन्ति शिओओ । जदा खु  
अवरं पठिवद्धअं एत्थि तदा एणं चित्तिज्जन्तं कहिज्जइ कएणाआजणस्स उण  
सुसिणद्धेवि जणे पडिबद्धदि भावावेदणं शिसगसिद्धा लज्जा । ता समद्धिदं  
मए लज्ज एव्व तुह अंतकरणं शियुहावेदित्ति । जदो लखिज्जदि एव्व  
सडिलणिस्सहेहं अंगेहिं अदिणसेरसभासणेण सुहेण धिमिदजिह्मेहिं अ  
लोअणेहिं अणुवद्धिजन्ति कावि दुरन्ता तुह चिन्ता । हिओ एअरदेवदाजन्ताप-  
डिणिअत्ति अदिवेला तस्सा आरंभोत्ति तक्केमि जेण तदो पहुदि अणणारिसं  
ते भासिअं, अणणारिसिअं दिट्ठा, अणणारिसं अ सरोरअं, अणणारिसे एव्व  
तुमंवि लखिज्जसि । तदो अ एकावि इमा अदीदा जामिणी अत्थं गमअन्ती  
विवेअं । अंधराअन्ती अंतकरणां, अभिदवन्ती शिद्धासुहं, शिम्मूलअन्ती धीरं,  
उम्मीलअन्ती संतापं, सहीजणस्सवि लज्जाभारेण अणुणामिदमुहिए अजा-  
णन्तीए कहणिज्जं, अमुणन्तीए करणिज्जं कहं कहंपि तुह गदा । ( न खलु  
यच्चित्यते तत्कथयितव्यमिति नियोगो यदा खल्वपरं प्रतिबन्धकं नास्ति तदा  
ननु चित्तितं कथ्यते, कन्यकाजनस्य पुनः सुस्निग्धेपि जने प्रतिवध्नाति भावा-  
वेदनं निसर्गसिद्धा लज्जा । तस्मात् समर्थितं मया लज्जैव तवांतःकरणं निगूह-  
यति इति । यतो लक्ष्यत एव शिथिलनिस्सहैरंगैरदत्तस्वैरभाषणेन मुखेन

नवमालिका—( देखकर ) प्रियसखि ! कुछ चिन्ता करती हुई सी  
ज्ञान पड़ती हो ।

सुलोचना—( कुछ लज्जा के साथ ) यदि चिन्ता है तो किससे कहूंगी ?

नवमालिका—जिसकी चिन्ता की जाय उसे कहना ही चाहिये यह  
नियम तो नहीं है परन्तु जब कोई बाधक नहीं होता है तब चिन्तित बात कह  
दी जाती है । चूँकि कन्याओं की स्वभावसिद्ध लज्जा उन्हें अतिशय  
स्नेही जन के सामने भी अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिये रोकती है

यतो लक्ष्यत एव शिथिलनिस्सहैरगैरदत्तस्वैरभाषणेन मुखेन स्तिमितजृम्भाम्या  
च लोचनाभ्यामनुबध्यमाना कापि दुरता चिता । ह्यथ नगरदेवतायात्राप्रभृति  
अतिवेलस्तम्या आराम इति तर्कयामि । येन तत् प्रभृत्यन्यादृश ते मापित  
अन्यादृशी च दृष्टि अन्यादृश च शरीर, अन्यादृश्येव त्वमपि लक्ष्यसे ।  
ततश्चैकापि इयमतीता यामिनी अस्त गमयती विवेक अधःकारयती अतः-  
करणमभिद्रावयती निद्रामुल्ल निमूलयती धैर्यं सन्मील्यती सताप सखीजन-  
स्यापि लज्जामारेणानुश्रामितमुत्था जानत्या कथनीयमजानत्या करणीय कथ  
कथमपि त्वया गमिता ।

सुलोचना—( सबैलक्ष्य सेष्यं च ) किं एद किंवि हिम्रए काऊण विश्व-  
कसेहि । ( किमेतत् किमपि हृदये कृत्वा विकल्पसे । )

नवमालिका—विम्रसहि अल ते मएण जाव सणिहेण बल व तु

इसलिये मैंने समझ लिया कि लज्जा ही तुम्हारे अन्तःकरण को छुपा रही है ।  
तुम्हारे दीले दीले निर्बल अङ्गों, स्वच्छन्दतापूर्वक वार्तालाप न करनेवाले  
मुख और जमुहाइयों से युक्त—अलसाये नेत्रों से स्रष्ट मालूम होता है कि  
तुम्हें कोई बहुत भारी चिन्ता सता रही है और कल नगरदेवता को यात्रा  
से लेकर उसका आरम्भ और भी अधिक हो गया है । यही कारण है कि उस  
समय से तुम्हारी बात अन्य प्रकार की हो गई है, दृष्टि भी अन्य प्रकार की हो  
गई है, शरीर अन्य प्रकार का हो गया है और तुम स्वयं भी अन्य प्रकार की  
दिलाई देती हो । तुमने विवेक को अस्त करनेवाली, अन्तःकरण की अन्तः-  
कार से युक्त करनेवाली, निद्रा के मुख को दूर भगानेवाली, धैर्य को  
छलाड़नेवाली और सताप को प्रकट करनेवाली यह एक ही पिछली रात बड़ी  
कठिनाई से व्यतीत की है । तुम लज्जा के मार से सखियों के सामने भी अपना  
मुख ऊपर नहीं उठा पा रही हो, तुम कहने योग्य बात को जानती हो पर  
करने योग्य उपाय को नहीं जानती हो ।

सुलोचना—( लज्जा और इर्ष्या के साथ ) क्या यह कुछ भी हृदय में  
रक्त कही जा रही हो ?

नवमालिका—प्रिय सखि ! तुम्हें भय करना व्यर्थ है । स्नेह के कारण  
५ वि० की०

तुस्सइ अण्णा ठाणे एव्व ओलग्गा दिट्ठित्ति । महत्तेण भाअघेएण कएण आणं  
अहिरुवतमो पई लब्भदि । तच्च पुण्णंवि केवलं माणुसोत्ति मुणार जदो  
तारिसं उज्जलमहुरं रुवं, तारिसं उदारगहीरं सत्तं, तारिसी अधीरललिदा  
पइदि ण उत्तमक्खत्तियअदो अएणस्स संभाविअदि । अह अ । पिअसहि तुह  
एव्व सअंवरजत्ताणिमित्तं आअदेण होदव्वं तेण । ता णिन्विता दाणि होहि ।  
कल्लं खु तं चेअ सअं वरिस्ससि । ( प्रियसखि अलं ते भयेन यावत् स्नेहेन  
बलवत्त्वलु मे तुप्यत्यात्मा स्थान एवावलग्ना दृष्टिरिति महता भागधेयेन  
कन्यकानामभिरूपतमः पतिलभ्यते तच्च पुण्यमपि केवलं मानुपत्येति जानीहि  
यतस्तादृशमुज्ज्वलं मधुरं रूपं तादृशमुदारगंभीरं सत्त्वं तादृशी च धीरललिता  
प्रकृतिः नोत्तमक्षत्रियादन्यस्य संभाव्यते । अथ च । प्रियसखि तवैव स्वयंवर-  
यात्रानिमित्तमागतेन भवितव्यं तेन । तस्मान्निश्चितेदानीं भव । काल्यं खलु  
तमेव स्वयं वरिष्यसि । )

( सुलोचना लज्जं वाप्यं विदार्य तूष्णीमास्ते )

नवमालिका—अदिउज्जए महवि णाम एव्वं लज्जती कहं ते हि-  
अआदो ण लज्जेसि । ( अति श्रद्धां ममापि नाम एवं लज्जमाना कथं ते  
हृदयान्न लज्जसे । )

मेरी आत्मा सचमुच ही यह विचार कर अधिक संतुष्ट हो रही है कि तुम्हारी  
दृष्टि योग्य स्थान पर ही लगी है । कन्याओं को अत्यन्त इष्ट पति बड़े पुण्य  
से मिलता है और वह पुण्य भी मात्र मनुष्य के ही होता है यह समझ लो ।  
क्योंकि वैसा उज्ज्वल एवं मनोहर रूप, वैसा उदार एवं गम्भीर धैर्य, और  
वैसी धरिललित प्रकृति उत्तम क्षत्रिय के सिवाय किसी दूसरे के संभव नहीं  
है । और सखि ! उसे तुम्हारी ही स्वयंवर यात्रा के निमित्त आया हुआ होना  
चाहिये इसलिये निश्चिन्त रहो कल ही उसे स्वयंवर लांगी ।

( सुलोचना लजाई हुई आंखें छोड़ कर चुन बैठी रहती )

नवमालिका—अतिसरले ! मुझसे भी इस तरह लजाती हुईं तुम  
अपने हृदय से भी क्यों नहीं लजाती हो ?

सुलोचना—प्रियसखि, खतब्बो एस लज्जापरवदीए मह भावगूहणा-  
दिकमो । ( प्रियसखि छतब्ब एए लज्जापरवत्या मम भावगूहनातिकम. । )

नवमालिका—सहावसिद्धेपि अ कण्ठआण इमस्सि अत्ये कह णाम  
प्रियसहो अवरज्जुदि । ( स्वभावसिद्धेपि कन्यकानामस्मिन्नर्थे कथ नाम प्रिय-  
सखी अपराध्यति । )

विदूषकः—( कण्ठं दत्त्वा ) वअस्स एत्थ एव्व पिअगुणाअवमूले इत्थि-  
आज्जालाओ सुणिज्जइ । ( वयस्यात्रैव प्रियगुणादपमूले खोजनालापः भूयते । )

राजा—( आत्मगतं ) अपि नाम सा मवेत् । ( प्रकाश ) बावदमुना  
प्रलबधितपेनाश्मतकगादपेनांतरित पर्यामि ( तथा दृष्ट्वा सहर्षं ) वयस्य  
दिष्ट्वा वर्धसे । सैव सखिय ते प्रियसखी ।

विदूषक—( दृष्ट्वा ) कह एसा तचहोदो कासीराअउत्ती । ( कथमेवा  
सनमवती काशीराजपुत्री । )

राजा—( निर्वर्ण्यं शोकठ )

सुलोचना—प्रियसखि ! मैं लज्जा से परतन्त्र हूँ अत मेरा यह अमि-  
प्राय को क्षिप्ताने का अपराध क्षमा कर देने योग्य है ।

नवमालिका—यह कार्य तो कन्याओं का स्वभाव से ही सिद्ध है इसमें  
प्रियसखी कैसे अपराध कर सकती है ?

विदूषक—( कान देकर ) मित्र ! यहाँ प्रियकुशुब के नीचे जियों का  
वर्तानाप सुनाई पड़ रहा है ।

राजा—( अपने मन में ) क्या समभव है वह हो । ( शरट् रुससे ) अज्झा,  
लम्बी लम्बी थाप्पाआ वाले इस अशोक वृक्ष से झिरकर देखता हूँ । ( उस  
तरह देख कर हर्ष के साथ ) मित्र ! माग्न से तुम उड़ रहे हो सचमुच ही  
यह वही तुम्हारी प्रियसखी है ।

विदूषक—( देख कर ). क्या यह माननीय काशीराज की पुत्री है ?

राजा—( देख कर उत्कण्ठा के साथ )

इयं सा लावण्यामृतसरिति यस्यां मम दृशौ  
 निरुच्छ्वासं मग्ने पदमपि लभेते, न तरितुम् ।  
 स्थिरीभूतं यस्यां प्रकृतितरलं संप्राति मनो  
 यया कामः कामं हृदयमिदमंतर्व्यथयति ॥ २५ ॥

नवमालिका—महाभागो खु सो जणो जो एव्वं णाम पिअसहीए  
 हिअए सदापि अ वट्ठइ । ( महाभागः खलु स जनः य एवं नाम प्रियसख्या  
 हृदये सदापि च वर्तते । )

सुलोचना—( सलज्जं ) सहि कीस मं वाहेहि । साविदा खु से मए जइ  
 मे पुणोवि किंवि असंबंधं जंपिहिस्सि । ( सखि कस्मान्मा बाधसे । शापिता  
 खल्वसि मया यदि मां पुनरपि किमप्यसंबंधं जल्पसि । )

विद्रूपकः—वअस्स तुह एव्व उत्तंतो वट्ठदिस्सि तक्केमि । ( वयस्य तवैव  
 वृत्तांतो वर्तते इति तर्कयामि । )

राजा—अहो स्पृहणीयः कन्यकानां व्रीडाव्यतिकरः ।

तथाहि—

निरुंधाना कूटं किमपि हृदये वस्तु लिखितं  
 तदस्वस्थैर्भावैः पुनरनुमिमानां प्रियसखीम् ।

इयं सा—यह वह सौन्दर्य की नदी है जिसमें सांस रोक कर डुबे हुए  
 मेरे नेत्र तैरने के लिये स्थान भी नहीं पा रहे हैं, मेरा स्वभाव से चञ्चल मन  
 इस समय जिसमें स्थिर हो रहा है और जिसके द्वारा काम मेरे हृदय को  
 इच्छानुसार भीतर ही भीतर व्यथित कर रहा है ॥ २५ ॥

नवमालिका—वह जन भी बड़ा भाग्यशाली है जो प्रिय सखी के  
 हृदय में इस तरह सदा विद्यमान रहता है ।

सुलोचना—( लज्जा के साथ ) सखि ! क्यों मुझे तंग करती हो ।  
 तुम्हें मेरी सौगन्ध है जो अब कुछ भी अटपटी बात बोलोगी ।

विद्रूपक—भिन्न ! तुम्हारी ही बात चल रही है ऐसा मैं समझता हूँ ।

राजा—अहा, कन्याओं का लजीला व्यापार बड़ा सुन्दर होता है ।

जैसे कि—

निरुंधाना—यह हृदय में अङ्कित किसी बात को पहले तो कपटपूर्वक-

सलज्ज जल्पतो परिमृष्टिशुष्माक्षरमसौ  
विलक्ष्मणेरास्या कथमपि तदस्या स्फुटयति ॥ २६ ॥

( पुनर्निर्वाणं ) अहो सर्वावस्थानु कामनीयक्रमस्याः ।

इदं हि—

जरठरविनयस्त्रतापताम्यन्-

विसलयदुर्बलकोमलांगवष्टयाम् ।

चक्रितहरिराशावलोचनाया-

मभिरमते हृदय मुलोचनायाम् ॥ २७ ॥

नवमालिका—का वा एतय अस्वर्ध मतेदि सुसवध चेन्न खु एद भविस्सदि । ( का वायासवध मत्रयते सुसवधमेव खलु एतद् भविष्यति । )

मुलोचना—( स्वगत ) अमोहवादिनी होहि । ( अमोषवादिनी भव । )

राजा—इय खल्वज्जडितपराक्रमस्य मकरकेतोरसहार्यशौर्यहेतु मुमहा-

छिन्नाती है परन्तु इसकी अस्वस्थ चेष्टाओं से जब प्रियसखी उस बात को ताक लेती है तब दूढ़े पूढ़े शुष्क अक्षरों में लज्जा सहित बोलती हुई किसी तरह उसके सामने उस बातको प्रकट करती है । प्रकट करते समय इसका मुख लज्जा से कुछ कुछ म्लिन्न रहा है ॥ २६ ॥

( फिर देख कर ) अहा इसको सभी अवस्थानों में सुन्दरता है ।

सचमुच ही

जरठ—मध्याह्न के सूर्य की किरणों के तार से भुरभ्राये हुए क्विन्नय के समान दुर्बल एवं कोमल शरीर से मुक्त तथा मगमात हरिण के बच्चे के समान चञ्चल नेत्रों से सहित मुलोचना में हमारा हृदय अन्धो तरह रम रहा है ॥ २७ ॥

नवमालिका—यहा कौन अटपटी बात बोल रहा है सब बात नुसंगत ही हो जावेगी ।

मुलोचना—(अग्ने मन में) सत्यवादिनी हो—आरका कहना सच हो ।

राजा—सचमुच ही यह मुलोचना अत्यज्जित पराक्रमवाले कामदेव का महान् आलम्बन तथा उसके अरिहार्य पराक्रम का हेतु है । ( आकाश

नवष्टम्भः ( आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा ) अयि भोः कुसुमघन्वन् वृथा कथ्यसे ।  
इदमुपालभ्यसे । )

यत्रैते स्फुरतः प्रमथ्य विनयं दीर्घं भ्रुवौ सुभ्रुवो-

यत्रैते हरतः प्रसह्य तस्मै धैर्यग्रहं लोचने ।

यत्रैपास्ति विभोहनाय जगतस्तत्र स्मर श्रूयतां

कोदण्डे च शरेषु च त्वयि च भोः स्यात्पीनरुक्त्यं परम् ॥ ८॥

सुलोचना—( स्वगतं ) अवि गाम सो जगो अज्जवि दंसणसुहं देज्ज ।

( अपि नाम स जनः अद्यापि दर्शनसुखं दास्यति । )

नवमालिका—(विभाव्य स्वगतं) कहं एसा चिताभरेण वलिअं खिज्जइ होटु जाव इमाए हिअअं आक्खिअमि । ( प्रकाशं ) पिअसहि एसा खु सह समुचरंतकुररकारंडवकेलिकलअलगंभिणेण सदावेदि विश्वा मारुदेण भाईरहि । ता उट्ठेहि दाव जाव सरलिअा आअमित्सदि ताव मंदाअणीं दक्खिअ । ( कथमेपा चिताभरेण बलवत् खिद्यते भवतु तावदस्या हृदयमाक्षिपामि । प्रियसखि एपा खलु सह समुचरत्कुररकारंडवकेलिकलहकलकलगभेण शब्दा-

में लक्ष्य बांधकर ) अये ! कामदेव ! तुम व्यर्थ ही अपनी प्रशंसा किया करते हो । लो, तुम्हें यह उलाहना दिया जाता है ।

यत्रैते—जहां नुन्दर भाँहों वाली सुलोचना की ये लम्बी भाँहें विनय को नष्ट कर लुप्तोभित हैं, जहां ये उसके चञ्चल नेत्र जबर्दस्ती धैर्यरूपी धन का अपहरण करते हैं और जहां जगत् को मोहित करने के लिये यह सुलोचना स्वयं विद्यमान है वहां हे कामदेव ! सुन लो, तुम्हारे धनुष में, तुम्हारे बाणों में तथा स्वयं तुम में अत्यधिक पुनरुक्ति दोष आता है ॥ २८ ॥

सुलोचना—( अपने मन में ) क्या संभव है कि आज भी वे दर्शन का सुख प्रदान करेंगे ।

नवमालिका—(विचार कर अपने मन में ) क्या यह चिन्ता के भार से अत्यधिक खिन्न हो रही है ? खैर, इसके हृदय को बहलाती हूँ ( स्पष्ट ) प्रिय सखि ! यह गङ्गा एक साथ बोलते हुए कुरर और कारण्डव पक्षियों की

पयतीव माझेन भागीरथो । तस्मादुत्तिष्ठ तावत् यावत् सरलिका आगमिष्यति  
तावन्मंदाकिनी पश्याव । )

सुलोचना—ज पिअसहीए रीअदि । ( उत्तिष्ठत ) ( यन् प्रियसख्या  
रोचते । )

नवमालिका—इदो इदो पिअसहि ( परिक्रामत ) ( इत इत,  
प्रियसखि । )

राजा—( निर्वह्य ) कथ समग्रसाधनं सप्रति सग्रासयते कुतुमघन्वा ।  
मम हि—

अस्या काम कठोर स्तनतटयुगले नाभिरंघ्रे गर्भारो  
विस्तीर्णः श्रोणित्रिवे गतिषु कृतपदो हस्तयोर्दत्तहस्त ।  
जातोत्कंठोऽथ कंठे मुग्धमनु मुमुख काममोष्ठे सरागौ  
विभ्रातश्चायमक्षणोर्जनयति हृदयस्यान्ययस्यामघस्थाम् ॥२६॥

विदूषक—बअस्स इदो एव्व कह आअच्छति ( वयस्य इन एव  
कथमागच्छत । )

क्रीडा-सम्बन्धी कलकल से मुक्त वायु से बुना रही है इसलिये उठो जब  
तक सरलिका आवेगी तब तक गङ्गा की देखें ।

सुलोचना—ओ प्रिय सखी के लिये अस्झा लगे । ( दोनों उठ कर  
लाड़ी होती हैं )

नवमालिका—इधर इधर आइये प्रियसखि ! ( दोनों घूमती हैं )

राजा—( देखकर ) क्या इस समय सपूर्ण साधनों से युक्त कामदेव  
मुद कर रहा है ?

अस्या—काम उसके स्तन-तट-युगल में कठोर, नाभिद्विद्र में गहरा,  
नितम्ब-मण्डल में विस्तीर्ण, गति में पैर मिलाना, हाथों में हाथ देना, कण्ठ  
में उत्कण्ठित होना, मुख के समुल्ल होना, ओठ में सराग होना और नेत्रों में  
भ्रान्त होता हुआ मेरे हृदय की इच्छानुसार अव्यवस्थित अवस्था कर  
रहा है ॥ २६ ॥

विदूषक—मित्र ! क्या ये इसी ओर आ रही है !



राजा—सखे किमत्र कुर्मः । अथवा स्वयमासीदंत्योरनयोरदुष्ट एव यादृच्छिक उपनिपातः ।

सुलोचना—( अग्रतो राजानं दृष्ट्वा ससाध्वसं समीत्सुक्यं चात्मगतं )  
अल्लो सो एव्व एत्थ समाणीदो देव्वेण । ( अहो स एवात्र समानीतो दैवेन । )

नवमालिका—( राजानं दृष्ट्वा अपवार्यं ) पिअसहि दिट्ठिअा बड्ढेसि सो  
एव्व जणो एत्थ समाणीदो देव्वेण ( प्रियसखि दिष्टया वर्धसे, स एव जनोत्र  
समानीतो दैवेन । )

सुलोचना—( सलज्जमपवार्यं ) हला किं एत्थ करिअदु ( हला किमत्र  
क्रियतां । )

नवमालिका—( अपवार्यं सस्मितं ) इमं एव्व गं पुच्छसु । ( इममेव  
ननु पृच्छ । )

सुलोचना—( सेष्यमपवार्यं ) हला पुणोवि किं असंबद्धं भणसि ।  
( अन्यतो गतुमिच्छति ) । ( हला पुनरपि किमसंबद्धं भणसि । )

नवमालिका—पिअसहि मा मा कुप्पेहि ( हस्ते गृह्णाति ) ( प्रियसखि  
मा मा कुप्य । )

राजा—मित्र ! अब क्या करें ! अथवा स्वयं आती हुई इनका अकस्मात्  
मिलना निर्दोष ही है ।

सुलोचना—( आगे राजा को देख कर भय और उत्सुकता के साथ  
मन में विचार करती है ) अहा, दैव ने उन्हीं को यहां ला दिया ।

नवमालिका—( राजा को देख कर मुंह फेरती हुई ) प्रियसखि !  
भाग्य से बढ़ रही हो, वही महानुभाव दैव के द्वारा यहां लाये गये हैं ।

सुलोचना—( लज्जा के साथ मुंह फेर कर ) सखि ! अब क्या किया  
जाय ?

नवमालिका—( मुंह फेर कर मुस्कराती हुई ) इन्हीं से पूछ लो ।

सुलोचना—( ईर्ष्या के साथ मुंह फेर कर ) सखि ! तुम फिर कुछ  
असम्बद्ध बोलने लगी । ( दूसरी ओर जाना चाहती है )

नवमालिका—प्रियसखि ! कुपित मत होओ ( हाथ पकड़ती है )

राजा—( स्वगत ) अयमत्रावसर । ( उपसृत्य ससाध्वनम् )- अयि सरले—

येन व्यलीकेषि कृते, न क्रोपो दाक्षिण्यरुद्धो लभतेऽवकाशम् ।  
तस्मिन् जनेऽस्मिन्नकृतापराधे कुतो वृथा त्व कुपिता प्रयासि ॥३०॥

विदूषक.—कह कोवणा अच्छहोदी । ( कथ कापनात्रमवती ।

नवमालिका—अदक्खिणे कह अपुण्वदसणसभावणीअस्स हमस्स जणस्स  
अअण लपेसि । ( अदक्खिणे कथमपूर्वदर्शनसभावनीयस्यास्य वचन लपयसि । )

राजा—सखि कुत त्वत्त्वसौ कुपिता ।

नवमालिका—हम एव्व पुच्छइ । ( इमामेव पृच्छ । )

( मुलोचना सेप्यं नवमालिका परयति )

राजा—मुन्दरि प्रसीद प्रसीद ।

( नेपथ्ये- )

इदो मिअसहि ( इतः प्रियसखि । )

राजा—( अपने मन में ) यहाँ यह अवसर है । ( पास जाकर सान्त्वना के साथ ) अयि सरले ।

येन—जिसके द्वारा अपराध किये जाने पर भी सरलता से दया हुआ क्रोध अवकाश नहीं पाता है फिर इस सखी के अपराध न करने पर भी व्यर्थ ही कुपित होकर गुम कहा जा रही हो ! ॥ ३० ॥

विदूषक—क्या कुपित हैं आप ?

नवमालिका—अयि अनुदारे ! अपूर्व दर्शन के कारण समादरणीय इन महानुभाव के वचनों का क्यों उल्लंघन करती हो ?

राजा—सखि ! ये क्यों कुपित हो गई हैं ?

नवमालिका—इन्हीं से पूछिये ।

( मुलोचना ईप्या के साथ नवमालिका की ओर देखती है )

राजा—मुन्दरि ! प्रसन्न होओ प्रसन्न ।

( परदे के भीतर )

प्रिय सखि ! इधर आओ ।

नवमालिका—( कण्ठं दत्त्वा ) प्रियसखि सरलिआ शं सदावेइ ता इदो सिग्वं एहि । ( प्रियसखि सरलिका ननु शब्दापयति तस्मादितः शीघ्रमेहि )

सुलोचना—( स्वगतं ) कहं एत्तिअंवि विग्विदं । का गई । ( कथमेता-वदपि विघ्नितं । का गतिः । )

( परिक्रम्य निष्क्रान्ते )

राजा—अहो क्षणदर्शनमपि न सोढव्यमोर्ष्यालुना देवेन ।

विदूषकः—वअस्स णिच्चितो दाणि होहि । असाधारणो खु तत्तहोदीए तुवम्मि बहुमाणो । ( वयस्य निश्चित इदानीं भव । असाधारणः खलु तत्र भवत्यास्त्वयि बहुमानः । )

राजा—अतर्कितोपनतेन च दर्शनेन पतिक्षणविधीयमानविभ्रमाम्नेडितं तस्या, व्रीडितम् ।

तथाहि—

स्तनतटसमुत्क्षिप्ता मुक्तावली परिवर्तिता  
सुनिहितमपि स्रष्टुं कर्णोत्पलं प्रहितः करः ।

नवमालिका—( कान देकर ) प्रियसखि ! सरलिका बुला रही है इसलिये शीघ्र आओ ।

सुलोचना—( अपने मन में ) क्या इतने में ही विघ्न आ पड़ा ? खैर, क्या उपाय ?

( घूमकर दोनों निकल जाती हैं )

राजा—अहा, ईर्ष्या करनेवाले देव को क्षणभर के लिये भी उसका दर्शन सहन नहीं हुआ ।

विदूषक—मित्र ! अब आप निश्चिन्त हो जाइये । सचमुच ही आप में उनका असाधारण सम्मान है ।

राजा—अकस्मात् प्राप्त हुए दर्शन से उसकी लज्जा प्रत्येक क्षण बढ़ते हुए हाव भाव से युक्त थी ।

क्योंकि—

स्तनतट—उसने स्तनतट पर पड़ी हुई मोतियों की गाला को घुमाया था, कान का उत्पल यद्यपि विलकुल ठीक था तथापि उसे ठीक करने के

विनमितमुखं सख्या सख्याजमतारित मुहु-  
र्मयि च निपतद्दृष्टौ न्याते दृशी स्तनचूचुके ॥ ३१ ॥

( विनित्य सौत्सुक्य ) अहो अभिरूप तस्याः प्रियसखीं प्रति प्रणयरसाद्रं  
कुपित ।

तथाहि—

नैवाधरेण स्फुरित न रक्ते विलोचने, न स्खलित च गत्या ।  
तथापि कोपः परिभाषितोऽस्या मित्रक्रमेणैव निरोद्धितेन ॥ ३२ ॥

( अग्रतो विलोक्य सौकड )

क्षणमिह मदिराद्यामप्रतो मे स्थिताया  
स्तनतटपरिणाहात्प्रच्युतस्याकुतोपि ।

लिये उसने अपना हाथ कानों तक ऊपर उठाया था, वह मुख नीचा कर  
किसी बहाने से बार बार सखी को छोटे में छिप रही थी और जब मैंने  
अपनी दृष्टि उस पर डाली तब उसने अपने नेत्र स्तन के अग्रभाग पर डाल  
लिये अर्थात् नीचे की ओर देखने लगी ॥ ३१ ॥

( विचार कर उत्कण्ठा के साथ ) अहा, प्रियसखी के प्रति उसका  
प्रेम रस से भौंगा कोप भी बढ़ा मनोहर था ।

क्योंकि—

नैवाधरेण—यद्यपि उसका ओष्ठ नहीं काप रहा था, न उसके नेत्र लाल  
के और न उसकी गति ही रुकी थी तथापि एक विभिन्न प्रकार के अवलोकन  
से उसका क्रोध प्रकट हो रहा ॥ ३२ ॥

( आगे देखकर उत्कण्ठा के साथ )

क्षणमिह—वह मादक-नेत्रों वाली-मुलोचना जब यह क्षणभर के  
लिये मेरे आगे खड़ी थी तब अकस्मात् ही उसके उत्तरीय वस्त्र का अञ्जल  
स्तनतट के विस्तार से नीचे लिसक गया था और जब वह यहाँ से जा रही  
थी तब वही उत्तरीय वस्त्र का अञ्जल मार्ग में एक वृत्त से उलझ गया था

पथि च विटपिलग्नस्योत्तरीयांचलस्य

क्षणकृतगतिविघ्नस्यैव भूयः स्मरामि ॥ ३३ ॥

( सांतस्तापं निश्चस्य ) अहो दुर्विपहता प्रियाविरहव्यथायाः । येनानुपद-  
जेव समुत्तादितसर्वांगीणपरितापा शिरोवेदनामित्रापादयति । ( सविशेषोत्कटम् )

भवसि भवसि मूर्धन् सत्यमेवोत्तमाङ्गं

यदि सकृदपि तस्यास्सेर्ष्यमुत्तिष्ठपाणेः ।

रतिकलहविमर्देष्वर्चति त्वां प्रियाया—

स्स परमपरिहार्यः पारिहार्यप्रहारः ॥ ३४ ॥

विदूषकः—भो वधस्स समासणो मज्झाणहो जाव एण्हि खंदावारं  
एव्व गच्छेमो । ( भो वयस्य समासन्नो मध्याह्नः यावदिदानीं स्कंधावारमेव  
गच्छावः । )

राजा—( नभो विलोक्य । ) कथं गतमहर्दलम् ।

तथाहि ।

तथा उलझ कर उसने क्षणभर के लिये उसके गमन में रुकावट डाल दी  
थी । मैं बार बार उसके उत्तरीयवस्त्र के अञ्जल का स्मरण करता हूँ ।

( मानसिक संताप के साथ लम्बो सांस लेकर ) अहा, प्रिया को विरह  
से होने वाली पीड़ा के अत्यन्त असह्य है क्योंकि वह लगे हाथ समस्त शरीर  
में संताप उत्पन्न करती हुई मानों की शिर दर्द की पीड़ा प्राप्त करा रही है ।  
( बड़ों उत्कण्ठा के साथ )

भवसि—हे मूर्धन् ! तुम सचमुच ही उत्तमाङ्ग तब होने जब अधिक  
नहीं तो एक बार भी ईर्ष्या के साथ हाथ को ऊपर उठाने वाली प्रिया का  
अत्यन्त नुन्दर आभूषण का प्रहार रति सम्बन्धी कलह के संमर्द में तुम्हें  
सम्मानित करता ॥ ३४ ॥

विदूषक—हे मित्र ! मध्याह्न निकट है इसलिये अब शिविर की ओर  
ही चले ।

राजा—( आकाश की ओर देखकर ) क्या अर्धदिन बीत गया ?

क्योंकि—

अयमिह सहसान संगरन् बर्हमारं  
तद्विटपानपण्यस्सेवते स्वापसौख्यम् ।  
अयति तपनतापादुत्वसन्नत्र चासौ  
घननालिनपलाशाभ्यतर मदसानः ॥ ३५ ॥

किंच ।

प्रासादोदरवासगेहवलिमेष्वद्यातपोद्रेजिन—  
अर्चाचन्दनकूर्दमार्द्रतनुमिः सार्धं प्रियाभिः प्रिया ।  
क्षौमातव्यजनैः करव्यतिकराः संवीज्यमानैर्मिथ  
कुर्वतः सुरतभ्रमव्यपनयं सद्मालवः शेरते ॥ ३६ ॥  
विदूषक — इदो इदो पिश्रवन्नस्ते । ( इत प्रियतयस्य । )  
( इति परिक्रम्य निष्कातो )

इति श्रीकविहस्तिमन्त्रेण विरचिते कौरवपौरवीयनाटके  
गङ्गामञ्जनं नाम द्वितीयोऽङ्क समाप्त ॥ २ ॥

अयमिह—यहा यह मयूर पिन्ध के समूह को सकोचित करता हुआ  
वृद्ध की डाली पर बैठकर निद्रासुख का सेवन कर रहा है और यहा यह हंस  
सूर्य की गर्मी से भयभीत होता हुआ सधन कमलपत्रों के भीतर छुस रहा  
है ॥ ३५ ॥

प्रासादोदर—इस समय घाम से डरने वाले अलसाये पुरुष, महलों के  
मध्यगृह में पड़ी शय्याओं पर गीले चन्दन से आर्द्र शरीर वाली प्रियाओं के  
साथ परस्पर हस्त व्यापार से घीरे घीरे हिलाने जाने वाले वस्त्र के अञ्जल  
रूपी व्यजनों से सभोग सम्बन्धी थकावट को दूर करते हुए शयन कर रहे  
हैं ॥ ३६ ॥

विदूषक—प्रिय मित्र ! इधर आइये इधर ।

( इस तरह घूमकर दोनों बाहर चले जाते हैं )

इस प्रकार महाकवि हस्तिमन्त्र के द्वारा विरचित कौरव पौरवीय नाटक  
में गङ्गास्नान नामका दूसरा अङ्क समाप्त हुआ ।



## तृतीयोऽङ्कः

( ततः प्रविशति विटः )

विटः—अहो अनन्यसाधारणी वाराणस्याः समृद्धिः।

अत्र हि—

गुरोर्ज्वेवाहार्यं भवति पुरुषाणां बहुमतं  
स्त्रियः स्वैरं हार्याः प्रणयचतुरैश्चाटुवचनैः ।  
धनं पात्रे दत्तं न खलु वसुगुप्तिर्धनवतां  
कवीनां काप्यन्या भणितिरभिजाता विजयते ॥ १ ॥

अतश्च—

वाणिजो जित्वरीमाहुः सत्यं वाराणसीमिमाम् ।  
यदेनया व्यजीयंत विश्वान्यनगरश्रियः ॥ २ ॥

---

( तदनन्तर विट प्रवेश करता है )

विट—अहा, वाराणसी की समृद्धि असाधारण है ।

सचमुच ही यहां—

गुरोर्ज्वेवाहार्य—पुरुषों का विचलित न होने वाला बहुमत गुणों में ही है, यहां स्त्रियां प्रेम प्रकट करने में चतुर मनुष्यों के द्वारा मीठे मीठे वचनों से अच्छी तरह हरी जाती हैं, धन पात्र के लिये दिया जाता है, बनवान् लोग धन को छिपाकर नहीं रखते तथा यहां कवियों की कोई अद्भुत निराली शिष्ट सृक्तियां विजय को प्राप्त होती रहती हैं ॥ १ ॥

इसलिये—

वाणिजो—व्यापारी लोग इस वाराणसी को सचमुच ही जित्वरी कहते हैं क्योंकि इस नगर के द्वारा अन्य समस्त नगरों की लक्ष्मी जीत ली गई है ॥ २ ॥

विशेषतः पुनरद्य सुलोचनास्वयवरयात्रायामन्यैव कापि शोभा काशी-  
राजधान्या ।

तथाहि—

अभ्युक्ष्यते सरसकुसुमाम्यर्चितैर्गन्धतोर्यै-  
र्चाथीमार्गा पुरपरिजनेनात्र समृष्टशुद्धा ।  
पुष्पैश्च्योतन्मधुलवजडैर्निष्पतच्चचरीकै-  
र्व्याकीर्यन्ते सुरभिमिरितोर्वेरमर्ना चाजिराणि ॥ ३ ॥

अपि च—

उत्तमितम्बजपटांचलचुम्ब्यमाने-  
व्योतिर्विमानविततीलि विभात्यमूनि ।  
सौधान्युदस्तमणितोरणकोणनद्ध-  
डोलायमाननवचदनमालिकानि ॥ ४ ॥

यावदिदानीं स्वयवरयात्राकृते समापततो राजन्यस्यावेक्षण्येन चक्षुषी समा-  
चयाम । ( परिक्रम्यमागतो विलोक्य ) । कथमसौ विलासबाह्यालिर्मकरवज्रस्य

और आज तो खास कर सुलोचना की स्वयवर यात्रा के समय काशी  
की राजधानी वाराणसी की कोई अद्भुत विशिष्ट शोभा दिखाई पड़ रही है ।

जैसे—

अभ्युक्ष्यन्ते—इधर नगर के परिवारकों के द्वारा भठाकर साफ किये  
हुए छोटे बड़े सभी मार्ग, ताजे फूलों से सुशोभित सुगन्धित जल के द्वारा  
सींचे जा रहे हैं और इधर मकानों के आगन चूँते हुए मधु के कणों से जड़  
एव पड़ते हुए भीरों से युक्त सुगन्धित फूलों से व्याप्त किये जाते हैं ॥ ३ ॥

और भी—

उत्तम्बित—इधर वे बड़े बड़े महल सुशोभित हो रहे हैं जो फहराती  
हुई ध्वजाओं के पराखन से व्योतिष्क विमानों की पत्तियों का चुम्बन कर  
रहे हैं तथा जिनके खड़े हुए मणिमय सारणों के कोनों में बँधी नई नई  
चन्दनमालाएँ हिल रही हैं ॥ ४ ॥

जब तक इस समय स्वयवरयात्रा के लिये सब ओर से आते हुए राजकुमरों  
के अवलोकन से नेत्रों को सन्मानित करें । ( धूम कर तथा आगे देख कर )



संगीतशालारतेर्विक्रयायणः स्त्रीरत्नानामुत्पत्तिभवनं शृङ्गारस्य नाभिरुहं लीलाया  
निर्माणभूमिर्विभ्रमाणामाकर्षणवदिशं तरुणजनमनोमीनानामवस्कन्दपरवलमि-  
न्द्रियग्रामस्य विनयमुखपटाक्षेपणरंगो विनीतजनवारणानां स्वगुणविकत्थनस्थानं  
पिङ्गानां वैदग्ध्यविनिमयहृदश्छेकानां करालगोलव्यतिकरपितृवनं वेश्याजनमा-  
तृजरत्पितृपिशाचिकानां पुराणा वामलूर्गणिकादारिकाभुजंगीनामपूर्वमद्वैत-  
दर्शनं मायाप्रपञ्चस्य पारिपथिको निश्चेषपथगन्थानां मनोरथमात्रास्वाद्यो  
दुर्गतानां द्रविणवतां सदाप्यदत्तकवाटो वेशवाटः ।

किञ्च ।

अविश्रंभस्तिग्धं वचनमवलेखं श्रवणयोः

परिष्वंगस्संगव्यसनमपहस्त्येव मधुरः ।

क्या यह वेश्याओं का वह मोहल्ला है जो काम देव को हावभाव रूपी विलास  
के विस्तृत होने का मैदान है, रति की संगीत शाला है, स्त्री रूपी रत्नों के  
विकने का बाजार है, शृङ्गार की उत्पत्ति का भवन है, लीला का नव्यग्रह है,  
विभ्रमों की रचना स्थली है, तरुण मनुष्यों के मन रूपी मछलियों को खींचने  
वाली बंसी है, इन्द्रियरूपी ग्राम को लूटने वाली शत्रु सेना है, विनीत  
मनुष्यरूपी हाथियों के विनय रूपी मुखपट को दूर करने का स्थान है, गुणों  
का अपने गुणों की प्रशंसा का स्थल है, चतुर मनुष्यों का अपनी चतुराई  
के बदलने का बाजार है, वेश्याओं की माता रूपी वृद्ध चुडैलों के रहने का  
भयंकर श्मशान है, वेश्याओं की पुत्रियां रूपी सर्पिणीयों की वादी है, माया के  
विस्तार का अनुपम अद्वैत दर्शन है अर्थात् जहां माया माया ही दिखाई  
देती है, जो योग्य मार्ग के पथिकों का विरोधी है, दरिद्र मनुष्यों के लिये  
जो मनोरथ मात्र से आस्वादन करने योग्य है तथा धनिक मनुष्यों के लिये  
जिसके किवाड़ सदा खुले रहने हैं ।

और भी—

अविश्रम्भ—जवां कानों कानों को आनन्द देने वाले, विश्वास हीन  
स्नेह पूर्ण वचन, सङ्गम की स्थिरता को दूर करने वाला मधुर अलिङ्गन,

अन्तेऽन्तः सद्भावात्स परमुपचाङ्गश्च रुचिर-  
स्सहोद्विज्ञानं स्तनमुकुलैर्यत्र सुदृशाम् ॥ ५ ॥

( स्पर्शं रूपयित्वा ) अहो वेशवीथीविहाररसिकस्य कोप्यतिशायी सौरम-  
समार समीरणस्य । अत्र हि—

प्रौढागनारुचिरकठघनांगराग कस्तूरिकापरिमलस्पृहणीयगन्धः ।  
सौभाग्यगर्भभरमन्थरयेव गत्या चेत प्रलोभयति न स्तरुणो न भस्वान् ॥ ॥

यावदेन वेशवाटमतिलप्य राजन्यकावलोकाय राजमार्गं समासाधयाम ।  
अथवा दुष्करमेनमतिलपयितुम् ।

कुतः ।

न दृष्टा विम्बोष्ठीमलमनमिभाष्यास्मि चलितु  
विलम्बः स्यात्तैस्तैस्सुचिरमुपचारैश्च सुदृशाम् ।

और अन्त करण की सद्भावना के बिना होने वाला अत्यधिक सुन्दर उपचार  
इतनी यस्तुएँ स्त्रियों के स्तनरूपी बोटियों के साथ ही उत्पन्न होनी है ॥ ५ ॥

( स्पर्श का अभिनय कर ) अहा, वेश्याओं की गली में घूमने के  
शौकीन वायु की कोई अनिर्वचनीय अत्यधिक सुगन्धि है । सचमुच ही यहा—

प्रौढाङ्गना—जिसमें प्रौढ़ स्त्रियों के सुन्दर कण्ठ का सपन अङ्गराग  
मिला हुआ है, और जिसकी गन्ध कस्तूरी की सुवास से मनभावन हो रही  
है ऐसा यह चञ्चल वायु, सौभाग्यजन्य गर्भ के भार से ही मानों धीमी-धीमी  
चलने वाली गति से हमारे चित्त को लुभा रही है ॥ ६ ॥

अन्धा अथ इस वेश्याओं के मोहल्ला को लाँघकर राजकुमारों को  
देखने के लिये राजमार्ग की ओर चले । अथवा इस वेश्याओं के मोहल्ला  
को लाँघना अत्यन्त कठिन है ।

क्यों ?

न दृष्टा—यहाँ दिखी हुई स्त्री से बात किये बिना मैं आगे चलने  
के लिये समर्थ नहीं हूँ । स्त्रियों के उन-उन उपचारों से बहुत कुछ विलम्ब  
६ वि० की०

अपेक्षन्ते चास्मान् प्रचुरमपराद्धाश्च सुहृदः

प्रियाः प्रत्याश्वास्याः प्रणयघटनायै विघटिताः ॥ ७ ॥

तदंतरायः खल्वयं मार्गः कार्यान्तरस्य । अथवा शांतं, श्रेयानेव मे प्रस्तु-  
तकार्यान्तरप्रसंगस्यात्र व्यासंगः । येन—

तांवूलवीटीरुपयुक्तशिष्टाः कर्पूरपारीस्सकरंडदत्ताः ।

माल्यानि धाम्मल्लकृताधिवासान्यमुत्र लप्स्ये मुहुरंगनाभ्यः ॥ ८ ॥

तदिदानीमेनमवगाहिष्ये । ( परिक्रम्यावलोक्य च ) कथमसौ वेशवाट-  
मुखमंडपे दुर्विनीतशीरद्वर्धरकंठवोपाधरितरूप्यघंटाटेटा । कथं नु खल्वस्या  
मूर्त्याशिशरोर्तेरात्मानं रक्षेयम् । दुर्लभः खल्वेभिर्दुर्दान्तदेवितृभिर्दृष्टस्य ममात्रा-

हो सकता है । अनेकों बार छले हुए मित्र हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं और प्रेम  
को स्थिर बनाये रखने के लिये विछुड़ी हुई स्त्रियाँ भी आश्वासन देने के  
योग्य हैं । ॥ ७ ॥

इसलिये सचमुच ही यह मार्ग दूसरे कार्य का बाधक है अथवा ठीक है,  
दूसरे कार्य के प्रसङ्ग को प्रस्तुत करनेवाले मेरे लिये यहाँ कुछ रुक जाना  
लाभदायक ही होगा । क्योंकि—

ताम्बूल—मैं यहाँ स्त्रियों से उपयोग में आने से बाकी बचे पान की  
वीड़ाओं की, डिब्बी के साथ समर्पित कपूर के चूर्ण को, तथा चोटियों में  
लगी हुई मालाओं को बार बार प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

इसलिये अब इस वेश्याओं के मोहल्ला में घुसता हूँ । ( घूमकर तथा  
देखकर ) क्या यह वेश्याओं के मोहल्ला को प्रारम्भ में हो बने हुए मण्डल  
में चांदी के घंटा के टनटन शब्द का तिरस्कार करनेवाली उद्दण्ड जुवाडि-  
यों के वर्धर कंठ की गर्जना हो रही है ? इस मूर्तिधारिणी शिरोवेदना से  
मैं अपनं रक्षा किस प्रकार करूँ ? इन विकट विलाडियों ने यदि मुझे देख  
लिया तो मेरा यहाँ से निकलना दुर्लभ हो जायगा । तब यहाँ शरण—रक्षक  
क्या हो सकता है ? अच्छा, उत्तरीय वस्त्र से घूँघट देकर शोध हो इस

पसार । तत् किमत्र शरणं । भवत्तुरीयेणावगुण्डितस्त्वरितमस्मादेशात्प्रलापिष्ये  
( तथा परिक्राम्यन् ) दिष्टया निश्शल्यः कुशल्यस्मि हन्त मोः ।

द्रविणस्यार्जनं द्यूते वेशे तस्य विसर्जनम् ।

एषामायव्ययद्वारे द्वे अपि व्यसने इमे ॥ ८ ॥

( कणं दत्त्वा ) कुत खल्वह्वानध्वनि । ( विभाव्य ) कथं चन्द्रसेनाभव-  
नात् । इह स्वत्वभातप्रणयकेलीत्यतिक्रमेक मिथुन प्रतिवसति । चन्द्रसेना-  
वैशिकचकोरश्च । व्यभिचरित एतत्स्वस्यामभिजातसौहार्दाया परविषाच्छेदनेन  
गणिकाकुलधर्मेण । यदनयोर्द्वन्द्वपदयोरिव वर्तते परस्परार्थसंक्रम । अतश्चै-  
तदेवम् । यतः—

न बहुप्रेयसीन् पुंसः कामिन्यो बहु मन्वते ।

पुमांसो बहु मन्यते बहुपुसीर्न योषित ॥ १० ॥

स्थान से दौड़ जाऊँगा । ( उसी प्रकार घूमकर ) माग्य से मैं निश्चल्य तथा  
सकुशल हूँ । अरे दुःख की बात है—

द्रविणस्या—जुआ में घन कमाना और वेश्याओं में उसका खर्च करना  
ये दोनों ही इन लोगों की आमदनी तथा खर्च के द्वार हैं तथा दोनों ही  
व्यसन हैं ॥ ८ ॥

( कान देकर ) बुलाने की आवाज कहा से आ रही है ? ( विचार कर )  
क्या चन्द्रसेना के भवन से ? यहाँ जिसकी प्रेम-लीला कभी समाप्त नहीं होती  
ऐसा एक छोड़ा रहता है—चन्द्रसेना और वैशिक चकोर । कुलीन मनुष्यों  
जैसी मित्रता को धारण करनेवाली इस वेश्या में दूसरे के घनको भटकने  
रूप वेश्याओं का कुलधर्म व्यभिचरित हुआ है—इसमें वह दोष नहीं पाया  
जाता । इन दोनों दम्पतियों में द्वन्द्वसमाप्त के पदों के समान परस्पर अर्थ का  
संक्रमण होता है इसलिये ये ऐसे हैं । क्योंकि—

न—बहुत स्त्रियोंवाले पुरुषों की स्त्रियाँ अच्छी नहीं मानती और बहुत  
पुरुषोंवाली स्त्रियों को पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १० ॥

( पुनः कर्णं दत्त्वा ) कथमिहैव भवनचंद्रशालायामपावृत्य गवाक्षं पत्या सह वीक्षमाणा चंद्रसेनेन व्याहरति । इयं खलु—

अश्रान्तकांतसुरतकलमनूतनोत्थ-

स्वेदोदविटुविसरार्द्रकपोलपालिः ।

सामाह्वयत्यलसविह्वलजिह्वदृष्टि-

निश्वासगद्गदगलत्प्रसरैर्वचोभिः ॥ ११ ॥

तल्पस्थितेयमुपधानविशिष्टहस्ता

न्यस्तानना पुलकिनी प्रियभर्तुरंसे ।

आन्वस्तकेशरचनांतरितावतंसा

घत्तेवधानमिह मत्प्रतिपालनायाम् ॥ १२ ॥

भवतु संभाव्यैव गच्छामि । ( उपसृत्य ) अजय्यमस्तु युवयोस्संगतम् । किं ब्रूथ । अपि कुशलं भावस्येति । कथममुना कुशलपरिग्रहनेनोद्धटितो

( फिर कान देकर ) क्या यहाँ ही भवन का ऊपरी खण्ड पर झरोखा खोलकर पति के साथ देखती हुई चन्द्रसेना मानों बुला रही है ? सचमुचही यह

अश्रान्त—थकावट-ग्रहित पति के संभोग-सम्बन्धी खेद से नवीन उठी हुई स्वेदजल की बूंदों के समूह से जिसकी कनपटी गीली है तथा जिसकी कुटिल दृष्टि आलस्य से विह्वल हो रही है ऐसी यह चन्द्रसेना श्वासोच्छ्वास के कारण गद्गद रूप से निकलते हुए वचनों से मुझे बुला रही है ॥११॥

तल्पस्थितेय—जिसका हाथ तकिया से युक्त है, जिसने प्रिय पति के कन्ध पर अपना मुख रख छोड़ा है, जिसकी रोमांच निकल रहे हैं, तथा कुछ कुछ नीचे की ओर लटकते हुए केशविन्यास से जिसके कान के आभूषण छिप गये हैं ऐसी यह चन्द्रसेना यहाँ मेरी प्रतीक्षा में उपयोग लगा रही है ॥१२॥

खैर, मिलकर ही जाता हूँ । ( पास जाकर ) तुम दोनों का संगम अजय्य रहे । क्या कह रही हो ? आप अच्छी तरह तो है ? यह कह रही हो क्या ? क्या इस कुशल-प्रश्न से मेरा चिर काल से न मिलने का अपराध प्रकट

मे चिरादनवलोकनातिक्रमः । सखायो भास्व मामुपालमेया अपराध्यत्यत्र  
मुलोचनास्वयवरयात्रा । यद्विप्रकृष्टनिविष्टराजातरशिविरनिरीक्षणकौतुकेन  
परिभ्रमता तृतीयोऽयं दिवसः । किमाह तु । तेन हि चातमिति । एष इदानीं  
निष्कृत्तनिजातिक्रमदुष्कर्मा महाकविप्रबन्धस्येव नित्यप्रवृत्तमुखशय्यस्यास्य  
मिथुनस्य सौख्यशायिको भवामि । किमाह भवतो चक्रमणचपलस्येव बाल-  
कस्यातएह निदध्यमानस्य कुतस्ते प्रियमुहद सौख्यमिति । अल कथातरव्या-  
जेनात्मन सौभाग्यकथया । किमाह भवतो । अपितास्मि अलकियतामय  
शय्याय इति । वासु मुलोचनास्वयवरयात्रा प्रत्यवेद्योपावर्तिष्ये । तदलमति-  
यत्रणया । किमाह भवान् । दृश्यता भवता स्वयवरयात्रा । अह ॥ पुनस्त्वन्मु-  
खाच्छ्रोष्यामीति । ( अस्मित ) अहो चापलमत्र भवत । यद्वा किंवदतीभ्रवण-  
दानमपि गृहस्थस्यैवावहृष्टवहिरहस्य सरयुर्नात्प्योय । ( अस्मितम् ) । अथवा  
प्रवर्तयतु तथापि स्वयवरयात्रा चन्द्रसेना । कथं हासोत्तरमसौ पत्युदरसि पतिता ।

किया है । मित्रो ! मुझे उलाहना मत दीजिये यहाँ मुलाचना की स्वयवर-  
यात्रा अपराध कर रही है क्योंकि दूर दूर से आकर ठहरे हुए भिन्न भिन्न  
राजाओं के शिविर देखने के कौतुक से घूमते हुए हमारा यह तीसरा दिन है ।  
क्या कहा ! तो क्षमा कर दिया यह कह रही हो ! अब निरपराध होकर मैं  
महाकवि के प्रबन्ध के समान निरन्तर बिछी हुई मुख-शय्या से युक्त इस  
दम्पती का कुशल-समाचार पूछनेवाला होता हूँ । क्या कहा आपने ! क्या  
यह कह रही हो कि घर के भीतर रोके हुए भ्रमणशील बालक के समान  
मुझारे प्रिय मित्र को मुख कैसे हो सकता है ! दूसरी कथा के बहाने अपने  
सौभाग्य की कथा रहने दो । क्या कहा आपने ! क्या यह कह रही हो कि मैं  
काँप रही हूँ, यह शय्या का अर्धभाग अलकृत कीजिये ! मुन्दरि ! मुलोचना  
की स्वयवर-यात्रा देखकर लौटूँगा इसलिये अधिक आग्रह रहने दीजिये ।  
क्यों कह रहे हैं आप ! क्या यह कह रहे हैं कि आप स्वयवर यात्रा देखिये,  
मैं आपके मुख से सुन लूँगा । ( मुसका कर ) अहा, यहाँ आपकी बड़ी  
चपलता है । अथवा घर के लुटा के समान जिसने घर बाहर का भाग नहीं  
देखा है ऐसे मित्र के लिये समाचारों का सुना देना भी कम बात नहीं है ।  
( मुसका कर ) अथवा चन्द्रसेना मुझारी भी स्वयवर-यात्रा रचावें । क्या

भवतु साधयामस्तावत् । ( परिक्रम्यावलोक्य च ) कथमसौ जरत्कूपिका वाराणस्याः प्रदीपच्छाया मदनभानोरकालपलितं तरुणानां सिनीवाली सुरतचंद्रा-  
तपस्य जंगमचंचा वेशवाटस्य संमार्जनी स्त्रैणस्य विडम्बयंती विलासिनीविभ्र-  
मान्निजोदवसितालिदवितर्दिकां दूषयंती भोगवत्या माता निपादवती । वा खलु-

यतस्ततस्सूतविशीर्णसूत्रा पुराणकंथेव शिरालदेहा ।

अमुंचती मंडनमं नार्हं चलत्यचारु प्रचलाकिकेव ॥ १३ ॥

अपि चास्याः—

मूले वालयवप्ररोहधवलान् लब्धस्वभावांस्ततो

मांजिष्ठप्रसरच्छवीनथ चरत्कंकलिनालारुणान् ।

पश्चान्मुग्धशिरीपकेसररुचः प्राप्ते च काकच्छद-

च्छायान्मूर्ध्नि कचान् करोत्यपसरत्रीलीरसो भावितः ॥ १४ ॥

हँसकर चन्द्रसेना पति की छाती पर जा पड़ी ? अच्छा, अब जाते हैं ।  
( घूमकर तथा देखकर ) क्या यह वाराणसी की पुरानी कुइया, कामरूपी  
सूर्य के लिये दिखाई हुई दीपक की छाया, तरुण पुरुषों की असमय में प्रकट  
हुई वालों की सफेदी, सुरतरुपी चाँदनी के लिये अमावस, वेश्याओं के  
मांहल्ला की चलती-फिरती तृणनिर्मित स्त्री, स्त्री-समूह को भाड़ू, और स्त्रियों  
के हावभावों को विडम्बित करती एवं अपने भवन के अग्रभाग के चबूतरे  
को दूषित करती हुई भोगवती की माता निपादवती है ?

यतस्ततः—जिसमें जहाँ-तहाँ से सूत लटक रहे हैं ऐसी पुरानी कथरी  
के समान इसका शरीर नसों से व्याप्त हो रहा है उतने पर भी यह स्त्रियों के  
योग्य आभूषणों को नहीं छोड़ रही है तथा मयूरी के समान भट्ठी चाल से  
चलती है ॥ १३ ॥

मूले—इसने सिर पर जो खिजाव लगा रक्खा है वह अधिक हो जाने से  
कुछ कुछ अलग निकल रहा है तथा गालों की जड़ में जो के नवीन अक्षुरों  
के समान सफेद, फिर कुछ मटमैला, पश्चात् मंजीठ के रङ्ग जैसा खैरा,  
फिर अशोक की हिलती हुई नाल के समान लाल, फिर सुन्दर शिरीष की  
केसर के समान, हरा और अन्त में कौए के पङ्ख के समान काला कर  
रहा है ॥ १४ ॥

हूँ तो मो, अनया खल्वयथार्यनामा मोगवती जाता येन सा मूनाविष्टेव समय परिहीयते । ग्रहग्रहीतेव न विश्वस्यते विषदूषितेव वायिका नास्वाद्यते । विषधराधिष्ठिता चन्दनलता नोपसेव्यते । किंच बहुना चढालिका तु सा सप्रति चढालिकेव दूरे स्पर्शस्यानिसर्गारलीलमुखराया ( हृदय इवात्मनो बहिद्वारे ) मवने को बावसरमेक लगति । तथाहि—

निष्कामयत्येकत एकमेवा प्रवेशयत्यन्यमयान्यतश्च ।

पति सुतायाः कपटोत्कटाभिः स्वाशावतारैरिव कुट्टिनीभिः ॥ १५ ॥

इत्येव पुनः समर्थये ।

निर्दोषा भणितिर्निसर्गमधुरा निर्मत्सरा शेमधो

निष्पापा नृपता जगद्बहुमताः । तैश्च निर्वैकुण्ठाः ।

निर्दोषा चरितस्थितिगुणयुता वेश्या च निर्मासुका

यत्सत्यं बहुनापि भाग्यवसुना लभ्येत या नैव वा ॥ १६ ॥

इहें कुछ का बात है कि इस कुट्टिनी के कारण आसक्त प्रसक्त नाम-वाली हो गई क्योंकि लोग उसे मयपूर्वक ऐसा छोड़ देते हैं जैसे उसे मूत्र लग रहा हो । निशाच से ग्रहीत के समान उसका विश्वास नहीं किया जाता, विष से दूषित बावड़ी के समान उसका स्वाद नहीं लिया जाता और धान से युक्त चन्दनलता के समान उसका कोईसेवन नहीं करता । अधिक क्या ? उसकी सदा तेवरी चढ़ी रहती है वह इस समय चढाली के समान स्पर्श से दूर है । स्वभाव से ही अश्लील बोलनेवाली उस कुट्टिनी के मकान पर कौन अपना एक क्षण भी लगाता है ? क्योंकि—

निष्कासय—यह अपने ही अश के अवतारों के समान कपट से भरी हुई कुट्टिनीयों के द्वारा पुत्रों के एक पति को एक ओर से बाहर निकालती है तो दूसरे पति को दूसरी ओर से भीतर प्रवेश कराती है ॥ १५ ॥

निर्दोषा—मैं तो ऐसा समझता हूँ कि दोष से रहित स्वभाव, सुन्दर चरित, ईश्वरहित बुद्धि, पाप से रहित सर्वप्रिय राज्य, निर्विकार गीति, निर्दोष चरित्र की स्थिति, और गुणवती तथा माता से रहित वेश्या, यह सब है कि बहुत भारी मायस्त्री धन से मिलती है अथवा नहीं हो मिलती है ॥ १६ ॥



सर्वमेतदास्ताम् । इदं तु पुनरत्र दुनोति । यदद्याप्यसौ तरुणीमन्या भर्भर-  
खजूरकमवरुद्धवती न जातूज्भूति स्वयं वृषस्या । कथमाह्वयत्यपि । हंत  
ध्वस्तोस्मि । भवतु ( उपसृत्य ) किमपि व्याजं कृत्वा गमिष्यामि । ( हास्यं  
निरुंधन् ) अथवा व्याजीकरणमपि नास्यां अर्थक्रियां प्रवर्तयति । ( उपसृत्य )  
वासु निपादवति सुभगा भव । अथ वयस्यखजूरकोप्यत्र । किं ब्रवीषि । न  
जानीम एव तमिति । हंत साधुकृतं खजूरकेण । किं भवत्या अपि भर्भरवा-  
दनमेव तस्मै स्वदते । एषोऽहमर्धचंद्रकं कृत्वा तमानेष्यामि । मा कदाचिदपि  
भूर्निपादवती विपादवती । किमाह भवती । कुतो मे विपादः । यदा भाव  
एवैवं वर्तते इति । वासु तदयमद्यापृच्छे । किं ब्रवीषि, कदा पुनर्भावो द्रष्टव्यः ।  
न खल्विहागत्य युक्तं मित्रदुहितरमसंभाव्य गंतुमिति । वासु सखजूरकमद्यैव  
मां द्रक्ष्यसि । किमाह भवती । तेन हि गम्यतामिति । साधयामस्तावत् ।

खैर यह सब रहे, मुझे तो यहां यह बात दुखी करती है कि यह आज  
भी अपने आपको युवती समझ रही है तथा स्वयं उपभोग की इच्छा रखती  
हुंइं भर्भर खजूरक को सदा रोके रखती है उसे कभी छोड़ती भी नहीं  
है । क्या बुला भी रही है ? हाथ मरा । खैर, ( पास जाकर ) कुछ बहाना  
कर चला जाऊंगा ( हास्य को रोकता हुआ ) अथवा इसके विषय में बहाना  
करना भी सफलता प्राप्त नहीं कराता । ( पास जाकर ) सुन्दरि निपादवति !  
सौभाग्यवती होओ । क्या मित्र खजूरक भी यहीं हैं ? क्या कह रही हो ?  
क्या यह कह रही हो कि हम तो उसे जानती ही नहीं हैं ? प्रसन्नता की  
बात है ? खजूरक ने ठीककिया । क्या आपका भी भर्भर-वादन उसके लिये  
अच्छा लगता है । यदि अच्छा लगता हो तो यह मैं अर्धचन्द्रक-गले में  
हाथ देकर ले आऊंगा । निपादवती कभी विपादवती मत होओ । क्या  
कहा आपने ? क्या यह कहा कि मुझे विपाद क्यों होने चला जब कि आपही  
इस तरह विद्यमान हैं । तो सुन्दरि ! आज यह आपसे जाने की आज्ञा चाहता  
है । क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि फिर कब दर्शन दीजियेगा ?  
यहां आकर मित्र की लड़की से बिना मिले जाना अच्छा नहीं है ? सुन्दरि !  
खजूरक के साथ मुझे आज ही देखोगी । क्या कहा आपने ? क्या यह कहा

( परिक्रम्यावलोक्य च ) इयं खलु जरतिशाचिकादर्शनप्रायश्चित्त लोचना-  
म्यामिह हि वैजयंती मकरकेतोरखलेपस्ताकुर्यस्य पुण्य लावण्यस्य भाग्यं  
सौभाग्यस्य माणिक्य गाणिक्यस्य चन्द्रिका जगन्नयनचकोरकाणां चन्द्रमत्या  
सुहिता रतिचन्द्रिका नाम मत्तकाशिनो प्रकाशितकाशीराजपुरी यशोवैभवाख  
भवनप्रातर्वर्तिनः शिवाग्रहात्सगीतयोग्याजनितभ्रमरमणीया निर्गच्छति । यासौ—

आवृद्धचण्डातफपोड्यमान—मध्यस्फुटालक्ष्यगभीरनाभिः ।

प्रस्वेदमुन्निग्धशरीरयष्टिर्बिभाति विश्रातविशालदृष्टिः ॥ १७ ॥

किंच ।

मुहुर्नृत्ताभ्यासव्यतिरिक्तचलन्मौक्तिकलता-  
समुन्मृष्टाच्छाब्दस्वनमलयजालेपरुचिरा ।

हे किं तो आप आइये । अच्छा जाते हैं । ( घूमकर और देख कर ) सचमुच  
ही यह नेत्रों के लिये बूढ़ी सुझेल के देखने का प्रायश्चित्त है, यह कामदेव  
की पताका है, यौवन का गर्व है, सौन्दर्य का पुण्य है, सौभाग्य का भाग्य है,  
वेश्या-समूह का शिरोमणि है, जगत् के नेत्ररूपी चकोरों के लिये चादनी है,  
यह चन्द्रमती की पुत्री रतिचन्द्रिका नाम की सुन्दरी है, इसने काशीराजपुरी  
सारणसी को प्रकाशित कर रक्खा है, यश ही इसका धन है, सगीतके  
अभ्यास से उत्तरज भ्रम से इसकी सुन्दरता निखर रही है तथा यह अपने  
मकान के समीपवर्ती शिवाग्रह से बाहर निकल रही है ।

आवृद्ध—कसे हुए लहंगा से पीड़ित मध्यभाग के कारण जिसकी  
गहरी नाभि साफ साफ नहीं दिख रही है, जिसकी शरीर-यष्टि अत्यधिक  
पसीना से तर है एवं जिसके बड़े बड़े नेत्र इधर-उधर घूम रहे हैं ऐसी यह  
रतिचन्द्रिका अत्यधिक सुशोभित हो रही है ॥ १७ ॥

और भी—

मुहु—बार बार नृत्य के अभ्यास-सम्बन्धी कार्य से हिलती हुई मोतियों  
को माला के द्वारा स्तनों पर लगे हुए चन्दन के निर्मल लेप के पुछ जाने  
से जो अधिक सुन्दर जान-पड़ती है और बहुत देर तक परिभ्रम करने के

चिरायासश्रान्यचरणशिथिलन्यासमधुरा-  
रणन्मंजोरेयं मद्गति मनो रंजयति च ॥ १८ ॥

यावदस्याः सौवस्तिको भवामि । ( उपसृत्य ) त्वस्ति भवत्यै । सुन्दरि !  
कृतं नृत्तायत्तान्धा हस्तान्यामंजलिबधेन ।

( सस्मितम् )

उन्मार्जितेपि बहुले हरिचन्दनेस्मिन्  
प्रव्यक्तमेव निविडस्तनि दृश्यमानः ।  
लाक्षारसेन रचितः कुंचकुंभपीठे  
धन्यस्य कस्य वदने च विशेषकोऽयम् ॥ १९ ॥

कथमदत्तत्तगा सत्वरपरावर्तननर्तितस्तनकलशा सविलासविनिहितकरत-  
लस्यगितस्तनतटोत्संगा सर्तीलचलनवाचालितमेखलाकलाना सवैलक्ष्यताची-  
कृतचिकुरलोचना सविभ्रमाकुण्ठितलजास्मत्तविकसितकपोलतलानूर्णपदसुखर-

कारण थक हुए चरणों के मन्द-मन्द निक्षेप से जिसके नूपुर मधुर शब्द कर  
रहे हैं ऐसी यह रतिचन्द्रिका मन को मत्त करती है तथा आनन्दित  
करती है ॥ १८ ॥

अच्छा, इसका कुशल समाचार पृथुने वाला होता हूँ । ( पास जाकर )  
मला हो आपका । सुन्दरि ! तुम्हारे हाथ नृत्य के आधीन है—नृत्य-कला में  
व्यग्र है अतः उनसे अञ्जलि बांधना रहने दो ?

( मुसकुरा कर )

उन्मार्जितेऽपि—है पीनस्तनि ! पुछ जाने पर भी जो अधिक गाढ़ा  
दिख रहा है ऐसे इस हरिचन्दन के बीच स्पष्ट दिखाई देनेवाला यह  
तिलक, तुम्हारे स्तनकलश के पृष्ठ पर तथा मुख के ऊपर किस भाग्यवान् ने  
लाल के रङ्ग से बनाया है ? ॥ १९ ॥

शीघ्रता से घूमने के कारण जिसके स्तन-कलश हिल रहे हैं, विलास  
सहित रखे हुए करतल से जिसने स्तन तट के मध्यभाग को छिपा रक्खा है,  
लीलासहित चलने से जिसकी मेखला की लड़े बन-भुन कर रही है, लज्जा  
के कारण जिसने अपने पद्मल नेत्र कुछ तिरछे कर लिये हैं, हावभाव के  
साथ प्रकट हुई लज्जा और मन्द मुसकान से जिसके कपोलतल खिल

नूपुरमसौ स्वमदनद्वार एवातरिता । चिरादवाप्तमुन्मेषेण फलमोक्षयाम्भ्याम् ।  
भवतु साधयामस्तावत् ( परिक्रम्य ) कथमसावशोकतिलकायास्तुता केलीमती-  
वाह्यमुलभसुकुमारचापला सत्वरमागत्य मा हस्ते गृह्णाति ( निर्वह्य ) अहो  
लालनीयता बाल्यस्य । तथाहि—

गतिर्लालालोला-चरलतरलं चारु च वच.  
स्फुरद् तज्योत्सनाप्रसररमणीय विहसितम् ।  
स्तनो मोद्वियेते न च विचरत. साधि नयने  
किमप्यस्य । बाल्य हरति तदुत्पिन्नोपि हृदयम् ॥ २० ॥

मद्रे किं ब्रवीषि । आह्वयति भावमर्जुकेति । ( ऊर्ध्वं विलोक्य ) कथमशो-  
कलतिकापि द्वितीयस्या प्रासादमूमौ गोपानसोमप्यासीना विडम्बयती विमाना-  
कटा दिव्ययोषितमित एव दत्तदृष्टिर्मा प्रतीक्षते । भवतु प्रवेक्ष्यामि । ( प्रविश्य )

रहे हैं ऐसी यह रतिचन्द्रिका कुछ उत्तर दिये बिना ही क्या शीघ्रता से  
उठाये हुए पदों से नुपुसों को शन्दायमान करती हुई अपने मकान के द्वार  
में ही छिप गई ! बहुत दिन बाद नेत्रों ने खुले रहने का फल प्राप्त कर  
लिया । सैर, अब जाते हैं । ( घूम कर ) क्या यह अशोकलतिका की पुत्री  
केलीमती जो अत्यधिक लङ्कपन के कारण प्रकट हुई सुकुमारता और  
चपलता से युक्त है, जल्दी आकर मेरा हाथ पकड़ रही है । ( देख कर )  
अहा, लङ्कपन की बड़ी सुन्दरता है । जैसे—

गतिर्लील।—इसकी गति लीलासे चञ्चल है, वचन अत्यन्त चञ्चल तथा  
सुन्दर है, हँसना दातों की प्रकट होती हुई किरणों के समूह से मनोहर है,  
अमी स्तन प्रकट नहीं हो रहे हैं और न आँखें ही तिरछी चलती हैं । इसका  
अद्भुत लङ्कपन तो यौवन के भी हृदय को हर रहा है ॥ २० ॥

मद्रे ! क्या कह रही है ? क्या यह कह रही है की माँ आपको बुला  
रही है ! ( ऊपर की ओर देख कर ) क्या अशोकलतिका भी दूसरे पगड  
पर छपरी में बैठी हुई विमान में स्थित देवी की तिरस्कृत कर इसी ओर दृष्टि  
झाले मेरी प्रतीक्षा कर रही है ! अच्छा, प्रवेश करूँगा । ( प्रवेश कर ) यह

इयं सोपानपंक्तिः । यावदारोहामः । ( नाट्येनासद्य ) वासु कल्याणिनी भव । किं ब्रवीषि । संनिहिताममं पर्यंकिकामलंकरोतु भाव इति । यथाह भवती । ( उपविश्य ) वासु किमिदं गवाक्षजालान्तरिता विदूरे वर्तसे । कथं सविभ्रमोज्ज्वलितभ्रूलतमसौ स्मयमानविलोचना न किमपि ब्रवीति । भवतु कथितमनया पुष्पवत्त्वम् । वासु कः खलु वराकः पुष्पवतीमशोकलतिकामसंभावयति । कृतं व्रीडितेन । किं ब्रवीषि । इहागच्छतो ह्यस्तिनपुरवास्तव्यस्य नन्द्यावर्तनाम्नः कीरवेश्वरप्रियानुचरस्य त्रीणि दिनानीति । तेन हि लब्धमेव देशान्तरपरिभ्रमणफलं नन्द्यावर्तनम् ।

अथ कीदृशो गुणैर्नन्द्यावर्तः । किं ब्रवीषि । न कापि हीयते वाराणसी विटपमहत्तरादार्यभद्रिलकादिति । कथं मयैवोपमीयते । भवत्विदमुपालभ्यते ।

सीढ़ियों की पङ्क्ति है । अब चढ़ता हूँ ! ( अभिनय द्वारा चढ़कर ) सुन्दरि ! कल्याणवती होओ । क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि उस पास पड़ी हुई पलकिया को आप सुशोभित कीजिये । जैसा आप कहती हैं ( बैठकर ) सुन्दरि ! यह क्या ? झरोखे की जाली से छिप कर दूर क्यों खड़ी हो ? क्या विलासपूर्वक भाँह ऊपर चढ़ा कर नेत्रों को विकसित करती हुई यह कुछ नहीं कह रही है ? खैर इसने कहा है कि मैं पुष्पवती—श्रुतमती हूँ । सुन्दरि ! कौन बेचारा फुली हुई अशोक—लतिका का असम्मान करता है ? लज्जा करना व्यर्थ है । क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि हस्तिनापुरवासी कीरवेश्वर-जयकुमार के प्रिय सेवक नन्द्यावर्त को यहां आते तीन दिन हो गये हैं ? तब तो नन्द्यावर्त ने दूसरे देश में घूमने का फल प्राप्त कर ही लिया ।

अच्छा बताओ नन्द्यावर्त गुणों से कैसा है ? क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि वाराणसी के विट-शिरोमणि आर्य भद्रिलक से किसी भी बात में कम नहीं हैं ? क्या मुझसे ही उपमा दी जा रही है ? अच्छा यह उलाहना देता हूँ ।

कथं स कामी पुरुषार्थवित्त्यादिहाय यस्सप्रति वर्तते त्वाम् ।

अभोघमस्त्रं ननु पुष्पमृद्धि त्वं पुष्पिता पुष्पशरासनस्य ॥२५॥

किं ब्रवीषि । कुतः पुनरभिविनाप्रविश्य मवन गतुमुपक्रातमिति । वासु समापतति स्वयंरयाप्राये राजानस्तदवेक्ष्युच्चापलमत्र मा चलयति । किं ब्रवीषि । तेन हि स्वैरभिदेवास्तताम् । एष हि स्पृष्टमेव निरीक्ष्यते पार्श्वतो राज-  
मार्गं । कियती च वेला पुनरित एव प्रतिष्ठमानाना राजामिनि । ( विलोक्य )  
कथं प्रवृत्तमेव भवमिति नृपतिभिः । किं ब्रवीषि । अथ कोय पार्श्वचरेण  
चामरप्राहिष्ठानुगम्यमानो बल्यु बल्यंत महाप्रमाणमाजानेयमाद्य राजमार्ग-  
मवगाह्य इति । ( विभाव्य ) अथ सत्त्वनिष्ठाटेश्वर कुञ्जराश्रय पाता ।  
तथाहि—

स्थगितजठरभागा श्मश्रुभिर्लम्बमानै-

निशितधवलधारान् मिश्रतो महलापान् ।

कथं स—बह कामी पुरुषत्व को जाननेवाला कैसे हो सकता है ?  
जो कि इस समय तुम्हें छोड़ कर अलग रहा है । हे कुसुम-सुन्दराराज्ञि !  
तुम पुष्पवती क्या हो ? सचमुच ही कामदेव का अभोष शक्त है ॥ २५ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि आप मकान में प्रवेश  
किये बिना ही क्यों आगे बढ़े जा रहे थे ? सुन्दरि ! स्वयंवर-यात्रा के लिये  
राजा लोग आ रहे हैं उनके देखने की चपलता मुझे यहाँ चला रही है ।  
क्या कहती हो ? क्या यह कहती हो कि तो अच्छी तरह यहीं बैठ जाइये ।  
यह पास ही लगा हुआ राजमार्ग दिखाई देता है । राजाओं को यहाँ से  
जाते हुए कितनी ही देर हो गई है ! ( देख कर ) क्या राजाओं ने यहाँ से  
जाना शुरू कर ही दिया ? क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि  
अच्छा यताओं पास में चलनेवाले चामरप्राही से अनुगत होता हुआ यह  
कौन सुन्दर चाल से चलते हुए बहुत ऊँचे कुलीन घोड़े पर बैठ कर राज-  
मार्ग में प्रवेश कर रहा है ! ( विचार कर ) क्या यह अनिष्ठाट का राजा  
कुञ्जराज का रक्षक है ?

क्योकि—

स्थगित—लम्बी-लम्बी दाढ़ी से धिनके पेट टक रहे हैं , जो पेनी तथा

अनतितरलयातास्तं पतिं सूचयन्ति

प्रकृतिसरलगात्रास्सैनिकाः कौब्जरात्राः ॥ २२ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरयमतिरयत्पूर्णपदगामिनं वानायुकप्रवेकमारुह्य प्रया-  
तीति । ( विभाव्य ) कथमसावधिष्ठानस्याधिष्ठाता काश्मीरेश्वरः । तथाहि—

तूणीरिणः स्थूलकठोरवेणुनिर्माणवाणासनपाणयोऽमी ।

गौरत्विपः ककशचभ्रुकेशाः काश्मीरनाथं कथयन्ति सैन्याः ॥ २३ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरसौ विन्ध्यशिखरोदग्रकायमावद्धनक्षत्रमालोज्ज्वल-  
नेपथ्यं स्थूलपृष्ठं विन्ध्यसिंधुगृष्ठमधिरुह्यायातीति । ( विभाव्य ) कममसौ  
आन्ध्रदेशाधिपतिः विजयवाटीपतिः । तथा ह्यमी—

सफेद धारोवाली तलवारों को धारण कर रहे हैं, जिनकी चाल अधिक  
चञ्चल नहीं हैं और जिनका शरीर स्वभाव से ही सीधा-लम्बा है ऐसे कुब्ज-  
रात्र के सैनिक अपने स्वामी को सूचित कर रहे हैं ॥ २२ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कर रही हो कि तीव्र वेग से जल्दी जल्दी  
उठनेवाले पैरों से चलनेवाले श्रेष्ठ घोड़े पर सवार होकर यह कौन जा  
रहा है ?

( विचार कर ) क्या यह अधिष्ठान नगर के शासक काश्मीरेश्वर है ?  
क्योंकि—

तूणीरिण—जो तरकश बांधे हुए हैं, मोटे और कड़े बांशों से निर्मित  
अनुप जिनके हाथों में हैं, जिनकी कान्ति गौर वर्ण है तथा जिनके केश कड़े  
एवं पीले रङ्ग के हैं ऐसे सैनिक काश्मीर के राजा को सूचित कर रहे हैं ॥ २३ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि विन्ध्याचल की शिखर के  
समान उन्नत शरीर, पहिनी हुई नक्षत्रमाला से देदीप्यमान वेप के धारक,  
एवं चाँड़ी पीठवाले विन्ध्यगिरि के श्रेष्ठ हाथी की पीठ पर सवार होकर  
कौन आ रहा है ?

( विचार कर ) क्या यह आन्ध्रदेश का राजा विजयवाटी ( वैजवाड़ )  
नगरी का स्वामी है ? क्यों कि ये—

प्रांगुप्रतीका प्रकृतिप्रगल्भा प्रायेण कालागरुकालवर्णाः ।

कुतान् वहतो गुरुदीधदडानप्राधिराजस्थ चरति सैन्या ॥२४॥

किं ब्रवीषि ।

कः पुनरसौ महाप्रमाणबाह्विकनिर्वर्हिषर्माणमनाकुलचरणविन्यासा विभाव्यमानगमनजवा वेशरवधूमारुह्यातिवर्तते इति । ( विभाव्य ) अयं खलु कर्नाटकभूमे पालयिता मान्यखेटाधिपति । तथाहि । अमुं परितः—

सत्कीर्णशस्त्रमखिदामपरीतकठा

प्रालयकर्णविनिवेशितदत्तपत्रा ।

कर्नाटका धिकटयिस्मयनीयवेपा.

शक्त्युद्यताः प्रथितशक्त्य आपतति ॥ २५ ॥

किं ब्रवीषि । क पुनरसौ सत्वरितचटुलगामिन कर्कशवपुष विष्णुमारुदः

प्राशु—जिनके शरीर अत्यन्त ऊँचे हैं, जो स्वभाव से गम्भीर हैं, प्रायः कर जो कालागुरु चन्दन के समान श्याम वर्ण हैं और जो बड़े-बड़े झण्डों वाले मालाओं को धारण कर रहे हैं ऐसे ये आन्ध्रदेश के राजा के सैनिक घूम रहे हैं ॥ २४ ॥

क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि बहुत बड़े पांखे के समान ऊँचे शरीरवाली, बिना किसी व्यग्रता के चरण रखनेवाली एवं साफ साफ दिखने वाले गमन के वेग से युक्त ऊँटनी पर चढ़ कर यह कौन जा रहा है ! ( विचार कर ) सबमुच ही यह कर्नाटक की भूमि का रक्षक, मान्य-खेट का स्वामी है क्योंकि इसके चारों ओर—

सत्कीर्ण—जिनके रुख शस्त्र से युक्त मणियों की माला से सहित हैं, जिन्होंने लम्बे लम्बे कानों में कर्णामरण पहिन रखे हैं, जिनका वेप अत्यन्त आश्चर्यकारक है, जो शाक्ती नामक शस्त्र को उभाड़े हुए हैं तथा जिनका पराक्रम अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसे ये कर्नाटक देश के सैनिक चल रहे हैं ॥२५॥

क्या कह रही हो ! क्या यह कह रही हो कि शीघ्रता से युक्त चलता पूर्वक चलनेवाले एवं कठोर शरीर के धारक छोटे कद के हाथी पर बैठा



पादचारिभिरेव छत्रधारिभिरासेव्यमानः सत्वरमभ्येतीति । ( विभाव्य ) कथमसौ चोलेश्वरः खरपुराधिपतिः । तथाहि—

कौक्षेयकान् कुञ्चितकुञ्जपृष्ठान् धनंषि वार्त्ताणि च विभ्रतोमी ।  
वेपैरनत्युद्भटदर्शनीयैश्चोलेश्वरं चोलभेटा ब्रुवन्ति ॥ २६ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरसौ नातिवर्णगमनादोलिताभोगकिंकिणीभूषणभूषणवमुखरं करिकलभमारुढ इति । ( विभाव्य ) कथमसौ दक्षिणमथुराधिपतिः पाण्डयः । तथाहि—

शिखंडिवर्हाग्रपिनद्धचूडाः प्रौढानि तालानि शरासनानि ।

वहन्ति मुक्तांचितहेमपत्र-कर्णा अमी पांड्यनरेन्द्रसैन्याः ॥ २७ ॥

हुआ तथा पैदल चलने वाले छत्रधारियों से सेवित यह कौन जल्दी जल्दी सामने आ रहा है ?

( विचार कर ) क्या यह चोल देश का राजा खरपुर का स्वामी है ?  
क्योंकि—

कौक्षेयकान्—कुछ टेढ़ी पीठवाली तलवारों, धनुषों और बरछियों को धारण करनेवाले ये चोलदेश के सैनिक कुछ कुछ उदरुद्ध एवं दर्शनीय वेप से चोल देश के राजा को सूचित कर रहे हैं ॥ २६ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि मन्द मन्द चाल से हिलती हुई, लुद्र घण्टिकाओं के भूषण भूषण शब्द से शब्दायमान हाथी के बच्चे पर बैठा हुआ यह कौन है ? ( विचार कर ) क्या यह दक्षिण मथुरा का राजा पाण्डय हैं ? क्योंकि—

शिखण्डि—जिनकी बँधी हुई चोटी के अग्रभाग में मयूर-पिच्छ की कलगी लग रही है तथा जो कानों में मोतियों से जड़ित सुवर्णमय पत्र कों पहिने हुए हैं ऐसे ये पाण्डय नरेश के सैनिक ताड़ वृक्ष से निर्मित धनुषों को धारण कर रहे हैं ॥ २७ ॥

किं ब्रवीषि । कः पुनरयमादोलिकाधिरूढो निमृतमदगामिपरिजनो राज-  
न्य इति । ( विभाव्य ) कथं केरलपालो महोदयपुराधिपति ।

अमी हि—

आगुल्फदीर्घक्षुरिकापिनद्ध-कटोतटाः सव्यकरात्तचापाः ।

करै परैस्तीक्ष्णमुखान् वहति शिलीमुखान् केरलनाथसेन्याः ॥ १८ ॥

किं ब्रवीषि । कथमसावचपलपेलरथूलोच्चयगामिनो करेणुकामारूढ कौर-  
वेश्वरो दृश्यते इति । ( विलोक्य ) वासु केनाभिज्ञानेन कौरवेश्वरमहासी ।  
( विभाव्य ) नूनमसावमुप्याग्रतः समुल्लभासीन स एव भवत्या पतिर्न्यावर्त ।  
यत सोऽपि नात्र लग्ना दृष्टिं प्रत्याक्षिपति । कथममुना स्मितेनैव ह्यनुज्ञानव्य-

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि पालकी पर बैठा तथा  
निश्चिन्तता के साथ धीरे धीरे चलनेवाले परिजनों से आपको से सहित यह  
कौन राजकुमार है ? ( विचार कर ) क्या केरल देश का रक्षक महोदयपुर  
का स्वामी है ?

क्योंकि ये—

आगुल्फ—जिनकी कमर में घुटनों तक लटकनेवाली छुरिया बँधी  
हुई हैं, और जो बाये हाथ में धनुष लिये हुए हैं ऐसे ये केरल नरेश के  
सैनिक दाहिने हाथों से वेने-वेने बाण लिये हुए हैं ॥ १८ ॥

क्या कह रही हो ? क्या यह कह रही हो कि गम्भीर झोड़ा से युक्त  
रथूलोच्चय—गतिविशेष से चलनेवाली हस्तिनी पर बैठा हुआ यह कौर-  
वेश्वर—कुरुदेश का राजा—जयकुमार दिखाई दे रहा है ? ( देख कर )  
सुन्दरि ! किस चिह्न से तुमने कौरवेश्वर का पहिचान लिया ? ( विचार कर )  
जान पड़ता है जो इसके आगे सामने मुख कर बैठा है वही आपका  
पति नन्यावर्त है क्योंकि वह भी तो इधर लगी हुई दृष्टि को नहीं हटा रहा  
है । क्या इस मन्द मुखवान के द्वारा ही नन्यावर्त आपके प्रति अपना  
वास्तविक भाव प्रकट करने के योग्य है ? अच्छा रहने दो इसे, बताओ इन

मर्हत्येव सत्यमत्रभवती नन्द्यावर्तः । तिष्ठत्वेतत् । कथय कतमः खल्वत्र काशी  
राजस्य जामाता भविष्यति । किं ब्रवीषि । श्रुतं मया नन्द्यावर्तमुखात् द्विःकिल  
वृत्तम् । सुलोचनामेवेश्वरयोः परस्परदर्शनमनुरागश्च गरीयान् तथा तथा प्रक-  
टित इति । इति युज्यत एतत् । कुमुदाकरमेव हि कौमुदी संभावयति । व्यज्यते  
चास्योत्कण्ठतानेन लिंगेन । अस्य हि—

तन्द्रालसानि सुदृढा, सह भाषितानि  
निद्रात्ययादिव जडानि निरोक्षितानि ।  
चिन्ताभरोपहितपाण्डिमगण्डशोभं  
प्रस्तानकोकनदमन्थरकांति, वक्त्रम् ॥ २६ ॥

वासु गतस्वर्गं राजलोकः । यावदहं गत्वा स्वयंवरवृत्तान्तं जानामि ।  
किमाह भवती । तेन हि गम्यतामिति ( उत्थाय ) वाराणसीसारयौवने मेवश्वर-

कह रही हो कि मैंने नन्द्यावर्त के मुख से दो बार का हाल सुना है सुलोचना  
और जयकुमार का परस्पर दर्शन हो चुका है और उस दर्शन में विभिन्न प्रकार  
से बहुत भारी अनुराग प्रकट किया गया है । यह तो ठीक है चांदनी कुमुदों  
के समूह को ही सम्मानित करती है । इस वेष से इसको उत्कण्ठा भी प्रकट  
हो रही है ।

क्योंकि—

तन्द्रालसानि—इसकी मित्र के साथ जो बात हो रही है वह आलस्य  
से परिपूर्ण है, इसका अवलोकन निद्रा के आक्रमण से ही मानों जड़  
हो रहा है तथा इसका मुख चिन्ता के भार से प्राप्त सफेदी से युक्त गालों  
से सुशोभित और मुरझाये हुए लाल कमल के समान मन्द कान्ति से  
सहित है ॥ २६ ॥

सुन्दरि ! सब राजा जा चुके हैं । अब मैं भी जा कर स्वयंवर का समाचार  
मालूम करता हूँ । क्या कहा आपने ? क्या यह कहा है ? तो आप जाइये ।  
( उठ कर ) जिसका यौवन समस्त वाराणसी में श्रेष्ठ है ऐसी है प्रिये !  
सब में काशीराज का जामाता कौन होगा ? क्या कह रही हो ? क्या यह

मेव वर स्वयं कृता मुलोचना, सुमगा त्वामेव नित्यमुमुखा नद्यावर्तोपि न दयतु ।

( इति निष्पातो विट । )

शुद्धविष्कम्भ

( ततः प्रविशत्यासनस्थो राजा नद्यावर्तो विदूषकश्च )

राजा—( सोत्कण्ठमात्मनः ) अहो सौकुमार्यमपि योपिता कार्कश्यमेव पुष्पाति पुष्पायुधस्य । तथाहि—

उद्भिन्नकीतुकरस्यतिभिन्नलज्जा पारिप्लवानि, कृतसाध्वससप्लवानि ।

विप्रेक्षितानि मधुराणि मुलोचनायास्ततापयति हृदयमृदुशीतलानि ॥ ३० ॥

मुष्पाति च विपमेपुदूयिता शेमुषी सत्त्वोन्मेष पुरुषस्य । तथाहि—

सममिदमधुना मुलोचनायाः प्रकृतिबलेन विलोचनद्वयेन ।

अनिभूतमभङ्गिलुप्तसत्त्वं हृदयमधीरमधीरलोचनायाः ॥ ३१ ॥

मुलोचना कौरवेश्वर को हो स्वयंवर में स्वीकृत करे और नन्दावर्त भी निरन्तर अनुकूल रहनेवाला एक तुम्हीं को आनन्दित करे ।

( इस तरह विट बाहर जाता है )

शुद्ध विष्कम्भ

( तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ राजा, नन्दावर्त और विदूषक दिखाई देते हैं )

राजा—( उत्कण्ठ के साथ अपने मन में विचार करता है ) अहा, स्त्रियों की सुकुमारता भी काम की कठोरता को ही पुष्ट करती है । क्योंकि—

उद्भिन्न—जो प्रकट हुए कीतुक रस से मिश्रित होने के कारण चञ्चल हैं, जिनमें मयका सचार मिला हुआ है, जो अत्यन्त मनोहर हैं तथा जो कोमल और शीतल हैं ऐसी मुलोचना की चितवनें हृदय को सतप्त कर रही हैं ॥ ३० ॥

काम से दूषित बुद्धि पुरुष के धैर्य के विकास को हर लेती है । क्योंकि—

सममिदं—चञ्चल लोचनवाली मुलोचना के स्वभाव से चञ्चल दोनों नेत्रों के द्वारा इस समय एक ही साथ भेरा हृदय चञ्चल, धैर्य से रहित तथा अधीर हो गया है ॥ ३१ ॥

( विभाव्य ) अहो संस्कारसंतानस्य द्रढीयसी प्रौढी येन प्रत्यक्षपरोक्ष-  
योस्तन्वीक्षणं प्रति चक्षुषो न विशेषमीपदपि दर्शयतः । ( आत्मानं प्रति )  
किं च भोः ।

नेत्रद्वयं निमिषदुन्मिषदप्यदो मे  
संस्कारवद्धघटनामवलोकते ताम् ।  
तद् ब्रूहि मे हृदय यत्स्वदतेऽत्र तुभ्य-  
मुन्मीलयामि यदि वा विनिमीलयामि ॥ ३२ ॥

विदूषकः—भो वयस्य किं अज्ज सो एव्व गंगातीरउत्तंतो हिअए परि-  
वत्तदि । जदो चिताभरणिप्पंदसव्वंगो णिव्वादत्थिमिदो विअ साअरो णिअल्लं  
लच्छिसि । ( भो वयस्य किमद्य स एव गंगातीरवृत्तांतो हृदये परिवर्तते यतश्चि-  
ताभरनिप्पंदसर्वांगो निर्वातस्तिमित इव सागरो निश्चलं लक्ष्यसे । )

नंदावर्तः—आर्य सौघातके साधु लक्षितम् । तथाहि—

( विचार कर ) अहा, संस्कार सन्तति की बहुत अधिक दृढ़ सामर्थ्य है  
क्योंकि नेत्र प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही अवस्थाओं में उस कृशाङ्गी के  
अवलोकन के प्रति थोड़ी भी विशेषता नहीं दिखाते हैं । ( अपने आपके प्रति )  
अरे !

नेत्रद्वयं—ये दोनों मेरे नेत्र बन्द रहे चाहे खुले, संस्कार के कारण  
सामने उपस्थित उस सुलोचना को देखते-रहते हैं इसलिये हे मेरे हृदय !  
कहो तुम्हें जो अच्छा लगता हो, नेत्रों को खोले रखूँ या बन्द कर लूँ ॥ ३२ ॥

विदूषक—हे मित्र ! क्या आज भी वही गङ्गातट का वृत्तान्त हृदय में  
घूम रहा है क्योंकि चिन्ता के कारण तुम्हारा समस्त शरीर निश्चल हो  
रहा है और तुम वायु के अभाव में स्थिर समुद्र के समान निश्चल दिखाई  
देते हो ।

नंदावर्तः—आर्य सौघातकि ! आपने ठीक ख्याल किया ।

क्योंकि—

कृत्वा दक्षिणपादजानुशिखरे सन्वेतर कुर्वर  
हस्तेनासनहेमपीठमधुनावष्टभ्य वामेन च ।  
अर्धघस्तपुट विलोचनयुग न्यस्यन् पुरो निचलं  
वारंवारमसौ विनिश्चसिति च स्थूलायतं निस्तहम् ॥ ३३ ॥

राजा—( सवेलक्ष्य ) सखे नन्द्यावर्त वयस्य सौधातके किं ब्रूय ।

नद्यावर्त—देव न किमपि, इदं तु विज्ञाप्यते ।

स्वयमवरिष्ट परितो या त्वां नेत्रोत्पलस्रजैव पुरा ।

तस्याः स्वयवरोऽयं पुनरुक्तो लोकव्यक्त्यर्थम् ॥ ३४ ॥

राजा—अथ कियद्व्यवधानमस्य स्वयवरोत्पात्रासमयस्य ।

विदूषक—ए अत्तहोदीए काशीराजउत्तीए आअमण ( नउ अत्रभव-  
त्या काशीराजपुत्र्या आगमनम् । )

नद्यावर्त—( पुरो निर्दिश्य ) नन्विय प्रविष्टैवात्रभवती काशीराजपुत्री ।

कृत्वा—यह इस समय दाहिने हाथ को दाहिने पैर के धुटने के अग्रभाग पर रख कर बायें हाथ से चित्र विचित्र मुवर्णमय सिंहासन को पकड़े हुए हैं, अथबुल्ले दोनों निश्चल नेत्रों को सामने लगाये हुए हैं । तथा बार बार बड़ी बचैनी के साथ लम्बी लम्बी सास ले रहे हैं ॥ ३३ ॥

राजा—( कुछ लज्जा के साथ ) मित्र नन्द्यावर्त, मित्र सौधातकि ! आप दोनों क्या कह रहे हैं ?

नन्द्यावर्त—देव ! कुछ भी नहीं, मात्र यह निवेदन कर रहा हूँ ।

स्वय—जो मुनोचना पहले आरको सब ओर से नेत्ररुती नील कमल की माला से स्वयं वर चुकी है उसका यह स्वयंवर लोक में प्रकट करने के लिये पुनरुक्त है ॥ ३४ ॥

राजा—अब इस स्वयंवर यात्रा के समय में कितनी देर है ?

विदूषक—जो, माननीय काशीराज पुत्री का आगमन हो ही तो गया ।

नन्द्यावर्त—( सामने देख कर ) यह माननीय काशीराजपुत्री तो प्रविष्ट ही हो चुकी है ।

राजा—( सोच्छ्वासमात्मगतं ) कथं प्रविष्टैव । ( निर्वर्ण्य )

इयं हि सा काशिपतेस्तनूजा स्वयंवरस्थानसभामुपैति ।

सुलोचना दीर्घविलोचनाभिः पुरांगनाभिस्सह निम्ननाभिः ॥ ३५ ॥

( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा सुलोचना नवमालिका प्रतीहारश्च )

प्रतीहारः—इत इतो भर्तृदारिका ( सर्वं यथोचितं परिक्रामन्ति ) ।

अहो महाराजस्य सर्वातिशायिनी प्रजा यदुपशमियं प्रज्ञावतामगर्हणीया  
वधूवरसमाराधनलब्धस्तोत्रा स्वयंवरयात्रा ।

पिता वा माता वा भवतु स वरस्तादृगथवा

कुमारी तच्छ्रद्धं निभृतमवगच्छेदित तु यत् ।

राजा—( सुख की श्वास लेता हुआ मन में विचार करता है ) क्या  
प्रविष्ट ही हो चुकी ! ( देख कर )

इयं हि—यह गहरी नाभि से युक्त, काशीराज की पुत्री सुलोचना,  
दीर्घ नेत्रोंवाली नगर की अन्य स्त्रियों के साथ स्वयंवर-स्थान की सभा के  
निकट आ रही है ॥ ३५ ॥

( इसके बाद ऊपर बतलाई हुई सुलोचना, नवमालिका और प्रतीहार  
प्रवेश करते हैं )

प्रतीहार—इधर इधर राजपुत्री

( सब लोग यथायोग्य श्रूमते हैं )

अहा, 'महाराज की प्रतिभा सब से बढ़ कर है जिसके द्वारा ही यह  
स्वयंवर-यात्रा सर्वप्रथम जानी गई है, यह यात्रा बुद्धिमानों के द्वारा  
प्रशंसनीय एवं वर-वधू के द्वारा अत्यन्त प्रशंसित है ।

पिता वा—वर, माता और पिता के समान हो, अथवा कुमारी, माता  
पिता के तुल्य हो अथवा उनके प्रतिबिम्ब की वर और कुमारी अच्छी तरह  
समझ लें—यह जो कन्या-दान की विधियाँ हैं उन्हें यह स्वयंवर की विधि  
लघु बना देती है—तिरस्कृत कर देती है क्योंकि इसमें वर और वधू के

तदप्येषा दत्तिर्नैष्यति यदस्या रमयितु-  
गुणं वा दोष वा स्वरुचिमनुचक्षुचिमृशति ॥१६॥

सुलोचना—(अपवाय) सहि सच्च एव्व त ज तुए गमातीरे विलबतरस्स  
ब्रह्मणस्स मुहादो किपि मुदत्ति । ( सखि सत्यमेव तत् यत्त्वया गमातीरे विल-  
बतो ब्राह्मणस्य मुखात् किमपि श्रुतमिति । )

नवमालिका—किं अण्णहा हि नुह मए भण्हिद आसि । ( किमप्यया-  
हि तव मया भणितमासीत् । )

सुलोचना—( सहि विसरिद खु त पुणोवि एक्कनार भण्णाहि । ( सखि-  
विरमृत खलु तत् पुनरप्येकवार भण । )

नवमालिका—( सस्मित ) विसग्धि वा होदु पुणोवि एसा भण्णामि ।  
( विरमृत वा भवतु पुनरप्येषा भणामि । )

एसो जयोप्ति विदिअो कुरुराअउत्तो  
विस्सभण्णिज्जरसिअो विणयक्कणामो ।  
कामो सअरुयअण्णण जणस्स कतो  
सतोसपूदहिअो समरेक्कमज्जो ॥ ३० ॥

नेत्र अपनी रुचि के अनुसार एक दूसरे के गुण और दोष का विचार स्वयं  
कर लेते हैं ॥ १६ ॥

सुलोचना—( मुह फेर कर ) सखि ! क्या वह सत्य बात थी जो तुमने  
राजा तट पर विलास करनेवाले ब्राह्मण के मुख से सुनी !

नवमालिका—तो क्या मैंने झूठ ही तुमसे कह दिया था !

सुलोचना—सखि ! मैं भूल गई हूँ एक बार फिर से कहो ।

नवमालिका—(मुसक्या कर भली भूल जाओ, लो फिर से कहती हूँ ।)

एसो—यह जय नाम से प्रसिद्ध कुरुराज—सोमप्रमका पुत्र है, यह  
विश्वास के योग्य रसिक है, विनय का एक स्थान है, चन्द्रमुखी स्त्रियों के  
लिये काम है, जनता का स्वामी है, सन्तोष से पवित्र हृदय है और मुद्र का  
अद्वितीय मङ्गल है ॥ ३७ ॥



( एष जय इति विदितः कुरुराजपुत्रो विस्रंभणीयरसिको विनयैकधामा ।  
कामो शशांकवदनानां जनस्य कान्तः संतोषपूतहृदयस्समैरकमलः ॥ )

सुलोचना—सहि तंवि खु तेण एव्व भणिदं हमं चेश्र कज्जं उद्दिशिअ सो जणो एत्थ आअदोत्ति । ( सखि तदपि खलु तेनैव भणितमिदमेव कार्य-मुद्दिश्य स जनोऽत्रायात इति । )

नवमालिका—जेण मं पत्तिआअसि । इद एव्व दक्खसि । ( येन मां-प्रत्यायसि । अत्रैव द्रक्ष्यसि । )

प्रतीहारः—प्रविष्टाः स्मः स्वयंवरसभाम् ( परितोऽवलोक्य )

एकत्र विद्याधरराजमुख्यैरन्यत्र भूपालकुलप्रकाण्डैः ।

इयं सभा संप्रति सेव्यमाना व्यनक्ति कामप्यपरामभिख्याम् ॥ ३८ ॥

अपि च मन्ये ।

दर्शयंती निजामृद्धिं प्रतिराजमिहार्पिताम् ।

स्वयं भगवती लक्ष्मीः श्लाघ्यते जगति ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

सुलोचना—सखि ! उसी ब्राह्मण ने यह भी कहा था कि वे महाशय इसी कार्य के उद्देश्य से आये हुए हैं ।

नवमालिका—जिससे मेरा विश्वास करोगी वह अभी देखोगी ।

प्रतीहार—हम लोग स्वयंवर-सभा में प्रवेश कर चुके हैं

( सब ओर देख कर )

एकत्र—एक ओर विद्याधरों के प्रमुख राजाओं और दूसरी ओर भूमि-गोचरीभूत प्रमुख राजाओं से सुशोभित यह सभा इस समय किसी अद्भुत शोभा को प्रकट कर रही है ॥ ३८ ॥

दर्शयन्ति—इस स्वयंवर सभा में प्रत्येक राजा के प्रति अर्पित अपनी ऋद्धि को दिखलाती हुई स्वयं भगवती लक्ष्मी निश्चित ही संसार में प्रशंसित हो रही हैं ॥ ३९ ॥

( निर्वर्ण्य ) अये परिमितोदारपरिवारता महीपतीनामात्रिर्भावयति वैभवं विभवस्य । पुन —

वारस्त्रीहस्तधृतो हसति सितरुचां चामराणां समूहो  
हसान् प्रावृट्प्रवामप्रमुदितमनस स्वैरमुद्रीयमानान् ।  
लीलामानेहिमेघपनिजनितमद नृत्यता बहिर्णां च  
चचन्मायूरपिच्छव्यजनपरिकर पार्ष्वतो धूयमानः ॥ ४० ॥

कथमिदानीमकपनमुतासनिधानमभिद्यमानविभ्रममगी विडम्बयति कामि-  
लोकं कुसुमघन्का । भवतु प्रकातमेवोद्गमामहे । ( विनोदय ) कथमवौ सार्द्र-  
गधो बाधेन प्रथमतो दर्शयामि । ( उन्मुख्य )

फणिनामधिपेन यो वितीर्णं विजयार्धस्य मुनक्ति दक्षिणार्धम् ।  
रथनूपुरचक्रवालनामा प्रथिता यस्य चकास्ति राजधानी ॥ ४१ ॥

( देख कर ) अये, राजाओं का परिमित और उत्कृष्ट परिकर उनके विभव की महिमा को प्रकट कर रहा है ।

और भी—

वारस्त्रीहस्त—वेश्याओं के हाथों से कम्पित सफेद चामरों का समूह वर्षा के प्रवास से प्रसन्न चित्त एवं स्वच्छन्द रूप से उड़ते हुए हलों की हँसी कर रहा है और पास में हिलता हुआ यह सुन्दर मयूर-पिच्छ से निर्मित पक्षों का समूह मेघ-गर्जना से मत्त हो नृत्य करते हुए मयूरों की शोभा को प्राप्त हो रहा है ॥ ४० ॥

क्या इस समय महाराज अकथन की पुत्री—सुनीचना के समीप अत्यन्त हाय-भावों की सन्तति से युक्त कामदेव कामी जनों को विडम्बित कर रहा है ! खर, प्रकृत बात को ही प्रारम्भ करते हैं ( देख कर ) क्या यह सार्द्र गन्ध है ? अन्ध्रा, सब से पहले इसे ही दिखलाता हूँ । ( पास आकर )

फणिना प्रणम्र—जो वरस्त्रीन्द्र के द्वारा दिये हुए विजयार्ध पर्वत के दक्षिणार्ध का पालन करता है, रथनूपुर चक्रवाल नाम की जिसकी प्रसिद्ध राजधानी सुशोभित है, तथा जिसके नखों की किरणें नम्रोन्मूल विद्याधरों की

प्रणम्रविद्याधरमौलिमालिका मणिप्रभालीप्रमिलन्नखाचिषः ।

प्रियात्मजस्तस्य जगद्दृशां प्रियो नमेरसौ मेरुसमानगौरवः ॥ ४२ ॥

नवमालिका—कहं एस चक्रवर्तिणो महाराजभरहस्स अगमहिंसीए सुभद्राए जेट्ठभादअस्स सग्रलविज्जाहरचूडामणीए महाराजणमिए सविस्से-  
सपरक्कमतुलिदणिअजणओ तणओ । ( कथमेप चक्रवर्तिनो महाराजभरत-  
स्याग्रमहिण्याः सुभद्राया ज्येष्ठभ्रातुः सकलविद्याधरचूडामणेरमहाराजनमेः  
सविशेषपराक्रमतुलितनिजजनकस्तनयः । )

प्रतीहारः—( सुलोचनां प्रति )

किमस्ति ते चेतसि शश्वदुच्छ्वसन्नमेरुसौरभ्यसुगंधिसीमसु ।

विहर्तुमिच्छा गुणिना गुणप्रिये सहामुना मेरुवनांतभूमिषु ॥ ४३ ॥

( विभाव्य आत्मगतम् ) कथं पराचति वास्याश्चेतः । भवत्वपर्यनुयोज्या-  
श्चित्तवृत्तयः भवत्वन्यतो दर्शयामि । ( परिक्रम्य दृष्ट्वा च ) कथमसावौत्तरार्धो  
विद्याधरकुमारः सुनमिः ।

मुकुट-मालाओं में संलग्न मणियों की प्रभा के समूह से मिल रही है उन  
नाम का यह जगत् के लोचनों को प्रिय एवं मेरु पर्वत के समान गौरव से  
से युक्त प्रिय पुत्र है ॥ ४१-४२ ॥

नवमालिका—क्या यह चक्रवर्ती महाराज भरत की पट्टराज्ञी सुभद्रा के  
बड़े भाई समस्त विद्याधरों के चूडामणि नमि का विशिष्ट पराक्रम से अपने  
पिता की तुलना करने वाला पुत्र है !

प्रतीहार—( सुलोचना की ओर लक्ष्य कर )

किमस्ति—हे गुणप्रिये ! जहां की सीमाएं निरन्तर बढ़ती हुई नमेरु  
वृक्षों की सुगन्धि से सुगन्धित हो रही हैं उन मेरु पर्वत सम्बन्धी वन की  
भूमियों में इस गुणी के साथ विहार करने की इच्छा क्या तुम्हारे मन में  
विद्यमान है ॥ ४३ ॥

( विचार कर अपने मन में ) अरे क्या इसका चित्त परामुख हो रहा  
है ? खैर, मनोवृत्ति प्रश्न के योग्य नहीं होगी, अच्छा दूसरी ओर दिखलाता  
हूँ । ( घूम कर और देखकर ) क्या विजयार्ध की उत्तर श्रेणी का स्वामी  
विद्याधर, कुमार सुनमि है ?

विमोचयत्यामपि चारवध्वा स्वयं च पर्यस्तविलोचनान्तः ।

विमोचयत्यगदकोटिदष्टं सविभ्रमं चामरवालकाम् ॥४४॥

( उपसृत्य )

विनमितरिपुपक्षः पक्षपातो गुणानां

विनमिरिति विनेता दुर्विनीताशयानाम् ।

शुजगपतिवितीर्णशुत्तरां राजताद्रे—

रवति मुहृतवान्य श्रेणिमेणां कसीम्यः ॥ ४५ ॥

अलकामधितिष्ठत पुरीं त्रिजगत्स्व्यातविभूतिवैभवाम् ।

अयमप्रतिमेयविक्रमस्तनयस्तस्य नयैककोविदः ॥ ४६ ॥

नवमालिका—कह एस अ मारवाहुबलियो माउलउत्तस्स महारा-  
अविण्णिमि ए णिम्मलचरित्तओ पुत्तओ । ( कयमेप च मारवाहुउत्तमेमाहुलपुत्तस्य  
महाराजविनमेर्निमलचरित्र पुत्तः । )

जो कि यह—

विमोचयत्या—बाजूबन्ध की कोटी में उलके हुए चमर के बाल  
के अग्रभाग की चेश्या के मुलझाने पर भी विलासपूर्ण उस और दृष्टि  
बालता हुआ स्वयं मुलका रहा है ॥ ४४ ॥

( पास जाकर )

विनमित—अलका—शत्रुओं के पक्ष को दगानेवाला, गुणों का  
पक्षपाती, उदरद मनुष्यों का शिश्नक, पुण्यशाली एवं चन्द्रमा के समान  
सौम्य जो विनमि घरणीन्द्र के द्वारा दी हुई विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी  
की रक्षा करता है तथा जो त्रिजगत्-प्रसिद्ध सपदा के वैभव से युक्त अलका-  
नगरी में रहता है उस नमि का यह अपरिमित पराक्रम से युक्त नीतिनिपुण  
पुत्र है ॥ ४५-४६ ॥

नवमालिका—क्या यह, कामदेव पद के चारक बाहुबली के मामा  
के पुत्र महाराज विनमि का निर्मल चरित्रवाला पुत्र है ?

प्रतीहारः—

मंदमंदविहरत्पवनानि स्वैरमुत्तरकुरूपवनानि ।

सेवितुं किममुनास्ति मनस्ते पारिजातसुमनःसुरभीणि ॥ ४७ ॥

( विभाव्य आत्मगतम् ) कथमुदास्त इव । भवत्वन्यतो दर्शयामि ( परि-  
क्रम्यावलोक्य च ) कथं विद्याधरकुमारो लोहार्गलाधिपतिर्मेघप्रभः । योऽग्री—

समुत्पतत्केसरधूलिलुब्धामलब्धपातामुपरि भ्रमंतीम् ।

अन्वेति दृष्ट्या भ्रमरीं सलीलं लीलासरोजं भ्रमयन् कराभ्याम् ॥ ८॥

( उपसृत्य )

यस्याग्रतः संयति संपतंतः क्षणेन निर्वासितशौर्यसाराः

मेघप्रभावा रिपवो भवंति मेघप्रभो नाम स एष धीरः ॥ ४९ ॥

नवमालिका—कहं एस विज्जाहरलोअसलाहणिज्जसोहरगसंभाविदो

प्रतीहारः—

जहा मन्द मन्द वायु वह रही है तथा पारिजात के फूलों की सुगन्धि फैल रही है ऐसे उत्तर कुरु के उपवनों में स्वतन्त्रतापूर्वक इसके साथ घूमने का तेरा मन हो रहा है ? ॥ ४७ ॥

( विचार कर अपने मन में ) क्या उदासीन जैसी है । खैर, दूसरी ओर दिखलाता हूँ । ( घूम कर और देख कर ) क्या यह विद्याधर-कुमार लोहार्गल का स्वामी मेघप्रभ है ?

समुत्पतत्—क्रीड़ा-कमल को दोनों हाथों से घुमा रहा है तथा उसकी ऊपर की ओर उड़ी हुई पराग पर लुब्ध किन्तु उस पर बैठ न सकने के कारण ऊपर घूमती हुई भ्रमरी का अपनी दृष्टि से लीलापूर्वक अनुगमन कर रहा है उसकी ओर बार बार देख रहा है ॥ ४८ ॥

( पास जाकर )

यस्याग्रतः—युद्ध में जिसके आगे आने वाले शत्रु क्षणभर में पराक्रम से रहित हो मेघों के समान तितर-वितर हो जाते हैं यह वही मेघप्रभ नामका वीर वीर राजा है ॥ ४९ ॥

नवमालिका—क्या यह विद्याधरों के द्वारा प्रशंसनीय सौभाग्य से

असमाविददोसलेशो लोहगलेसो । (कथं एष विद्याधरलोकाश्रयनीयसौभाग्य-  
समावितोऽसमावितदोषलेशो लोहार्मलेशः ।)

प्रतीहार

अनेन सार्धं सुरलोकवातव्याधूतसतानकसौरभाणि ।

कल्याणि सेवस्व सुरस्रवतीतीरांतमदारलतागृहाणि ॥ ५० ॥

( विभाष्य आत्मगत ) कथमिहाणि सेव रीतिः । भवतु भृगुलानिदानों  
दर्शयाम । ( परिश्रम्य विलोक्य च ) कथमसौ साधुविधानकप्रवर्तितनयश्चन-  
वर्तितनय शरत्कौमुदोविशदोदकंकीर्तिरकंकीर्ति । योशौ—

दीन्यब्धलाकापरिवर्तनेन सविभ्रमोदचितपूर्वकायः ।

सस्त प्रकोष्ठात्कटक करेण सुरिल्लष्टमारोपयतीतरेण ॥ ५१ ॥

( उपसृत्य )

यस्मै कृताजलिरदाद्विजयार्धं एव सेनानिनायचलित स्वयमभ्युपेत्य ।

एकातपत्रमवते भरत समस्त सिंहासन च चमरद्वयमातपत्रम् ॥ ५२ ॥

सम्मानित तथा अशुभात्र दोष से रहित लोहार्मल का स्वामी है !

प्रतीहार—हे कल्याणि ! तुम इसके साथ स्वर्गलोक की वायु से कम्पित  
सन्तानक वृक्षों से सुगन्धित गङ्गा के तटवर्ती मन्दार-सताग्रों के निबुझों का  
सेवन करो ॥ ५० ॥

( विचार कर अपने मनमें ) क्या यहा भी वही रीति है । अच्छा, अब  
भूमिगोचरीमूत राजाओं को दिखलाता हू । ( घूमकर और देख कर ) क्या  
यह उत्तमविधि से नीति की चलानेवाला, एव शरद् शत्रु की चादनी के  
समान निर्मल कीर्ति से युक्त, चक्रवर्ती का पुत्र अकंकीर्ति है !

जो यह

दीन्यब्ज—पासा खेल रहा है तथा पासा के उलटा पड़ जाने से शरीर  
के उत्तरार्ध को विलासपूर्वक ऊपर की ओर कर बैठा है तथा कलाई से  
कुल नीचे की ओर खिस्के हुए कड़े की दूसरे हाथ से ठीक चढ़ा रहा है ॥ ५१ ॥

( पास जाकर )

यस्मै—समस्त भरत क्षेत्र का एक-छत्रपालन करनेवाले जिन भरत के

अपि च—

येनैक एव विशिखश्चतसृष्वपि दिक्षु दिग्जये मुक्तः ।

एकत्र तुपाराद्रावितरत्र पपात पाथसां पत्यो ॥ ३ ॥

चक्रेण निष्प्रतिघनिर्जितवैरिराज चक्रेण साधमतिमानुषविक्रमेण ।

चर्णाश्रमस्थितिगुरोर्भरतेश्वरस्य तस्यैव सूनुरुदय, दि पुरः प्रवीरः ॥ ५४ ॥

किंच—

हिमाचलांभोनिलयावधेर्भुवस्स चक्रवर्ती युवराज एष तु ।

समस्तदेवांचितपादपंकजः पितामहश्चास्य पुनः पितामहः ॥ ५५ ॥

नवमालिका—कह एस आउज्झाडरिवल्लहस्स चक्कवट्टिणो महाराज-  
भरहस्स पढमतणओ अप्पडिहदसत्ती जुवराज अक्ककित्ती । ( कथमेप अयोध्या-  
पुरीवल्लभस्य महाराजभरतस्य प्रथमतनयोऽपतिहतशक्तिर्युवराजोऽर्ककीर्तिः । )

लिये सेनापति से विचलित हुए विजयार्थ देव ने स्वयं आकर तथा हाथ  
जोड़ कर सिंहासन, दो चमर तथा एक छत्र प्रदान किया था ॥ ५२ ॥

और—

येनैक—दिग्विजय के समय जिनके द्वारा चारों दिशाओं में छोड़ा  
हुआ एक ही बाण एक ओर तो हिम गिरि पर पड़ा था और दूसरी ओर  
लवण-समुद्र में ॥ ५३ ॥

चक्रेण—जो वणों और आश्रमों की स्थिति के गुरु थे उन्हीं भरत महा-  
राज का यह बलशाली पुत्र निर्वाध रूप से शत्रु राजाओं के समूह को जीतने  
वाले लोकोत्तर पराक्रम से युक्त सुदर्शन चक्र के साथ उत्पन्न हुआ था ।  
जिस दिन भरत-चक्रवर्ती को चक्ररत्न प्राप्त हुआ था उसी दिन इसका  
जन्म हुआ था ॥ ५४ ॥

और—

हिमाचला—वे भरत महाराज हिमगिरि से लेकर समुद्र तक की पृथिवी  
के चक्रवर्ती हैं, यह युवराज है तथा समस्त देवों के द्वारा जिनके चरण  
कमल पूजित हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव इसके बाबा हैं ॥ ५५ ॥

नवमालिका—क्या यह अयोध्यापुरी के स्वामी चक्रवर्ती भरत महा-  
राज का प्रथम पुत्र अखण्ड पराक्रम का धारी युवराज अर्ककीर्ति-है ?

प्रतीहार —

समुच्छ्वसन्मेदुरसारसालस म्फरीस्तरय्या मृदुसारसारसै ।

धिगाह्य नोहारजडो निषेवतां रहोविहारेषु युवां समारणः ॥१६॥

( विभाव्य आत्मगतम् ) कथमत्राप्यनुत्सुकेन । अलक्षणे विषमेपुन्या-  
पारः । भवत्वग्रतो दर्शनाभि । ( परिक्रम्यावलोक्य च ) कथमसौ बलिनो  
बाहुबलिन पोदनाधिपते कुमारो महाबली । योऽसौ—

अगुप्तमुशार्पितपद्मराग ज्योतिःशलाकामिरनाकुलाक्ष ।

आरजयत्यगुलिसारथेन स्मेराणि मुक्तागुणमौक्तिकानि ॥ १७ ॥

( उपसृत्य )

क्षोणी मालवणोदमा हिमवतो रूप्याद्रिणा गगया

सिंध्या चापगया पयोध्यवधिभि पोढा विमक्तामिमाम् ।

प्रतीहार—जो एकत्रित सारस पक्षियों को अलस करता हुआ बह रहा है तथा सुकीमल कमलों से युक्त सरयू नदी के झरनों में प्रवेश कर जो वर्ष के समान ठण्डा हो रहा है ऐसा पवन एकान्त विहार के समय द्रुम दीनों की सेवा करे ॥ १६ ॥

( विचार कर अपने मन में ) क्या यहा भी अनुत्सुक जैसी है । काम का व्यापार पहिचाना नहीं जा सकता । तैर, आगे दिखाता हूँ । ( घूम कर-  
और देख कर ) क्या यह पोदनपुर के स्वामो पलवान् बाहुबली का पुत्र कुमार महाबली है ।

जो वह—

अहुष्ठ—गम्भीर दृष्टि से युक्त है तथा अहुलियों के नीच घुमाने के कारण मुक्ताहार के सुशोभित मोतियों को अगूठे की अगूठी में लगे हुए पद्मराग मणियों की किरणरूप शलाकाओं से लाल लाच कर रहा है ॥१७॥

( पास आकर )

क्षोणी—लवण समुद्र से लेकर हिमवत् पर्वत तक समुद्रान्त लम्बे विजयार्थ गङ्गा-और सिन्धुनदियों के द्वारा छ विभागों में विभाजित इस



यत्स्वीकृत्य निरर्गलं विजयते तत्संयुगे चोदितं  
चक्रं चक्रधरस्य वक्रितमभूद्यस्मिन् मनाग् द्वेपिणि ॥ ५८ ॥

यक्ष ।

तृणायेदं मत्वा सकलमपि साम्राज्यविभवं  
सवीभत्सं कृत्स्नं विषयसुखमुत्सृज्य विरसम् ।  
तपस्तप्त्वा कर्मास्त्रवमपि दहन् निर्जरयितुं  
क्षणाद्वृद्धं चैनः शिवपदकवाट व्यघटयत् ॥ ५९ ॥  
तस्यैष तनयो यूनां विशिष्टः पौदनेयकः ।  
अनेन रममाणा च युवतीनां विशिष्यते ॥ ६० ॥

नवमालिका—कहं एस बाहुबलिगंदणो उक्खादपडिपक्खमाणसंकुलश्रो  
द्धत्वा नवंसेक्कभूसणं अक्खलिदणिएपरक्कमतुलिदवाहुवली कुमारमहावली ।  
( कथमेप बाहुबलिनन्दन उत्खातप्रतिपक्षमानशंकुः इक्ष्वाकुवंशैकभूपणमस्त्र-  
लितनिजपराक्रमतुलितबाहुवली कुमारमहावली । )

पृथिवी की को प्राप्त कर जो निर्वाध रूप से विजय प्राप्त करता रहा है ऐसा  
युद्ध में चलाया हुआ चक्रवर्ती का चक्र भी जिसके कुछ द्वेपी बनने पर टेड़ा  
हो गया था ॥ ५८ ॥

और जिन्होंने—

तृणायेदं मत्वा—इस समस्त साम्राज्य के विभव को तृण जैसा तुच्छ  
मान कर धृष्टित एवं रसहीन समस्त विषय-सुख को छोड़ दिया था तथा  
तप-तप कर कर्मास्त्र को जलाते हुए पूर्ववद्ध कर्मों की निर्जरा करने के लिये  
क्षणाभर में मोक्षपद के किवाड़ खोले थे ॥ ५९ ॥

तस्यैष—युवाश्रों में विशिष्ट तथा पोदनपुर का स्वामी यह राजकुमार  
उन्हीं बाहुवली का पुत्र है । इसके साथ रमण करती हुई, तुम समस्त  
युवतियों में विशिष्टता प्राप्त करोगी ॥ ६० ॥

नवमालिका—क्या यह बाहुवली का पुत्र कुमार महावली है—  
जिसने शत्रुओं के गर्वरूपी कील को उखाड़ दिया है, जो इक्ष्वाकु-वंश का  
आभूषण है तथा जिसने अपने पराक्रम से बाहुवली की तुलना की है ।

प्रतीहारः—

सुरतश्रमाबुक्कणसौरभोद्भूरो-

न्यजनानिल. कुमुदगघवधुर. ।

मुदमातनोतु भवतोस्समीरणः

प्लुतनातरगपरिवर्तशीतल. ॥ ६१ ॥

( विभाव्य स्वगत ) कयमिहाप्यसौ कुठोरकठैव । मवत्वन्यतो दर्शयामि  
( परिग्रयावलोक्य च ) कयमसौ उज्जयिनीपतेरुग्रान्वयप्राग्रहरस्य मध्यमलो-  
कमनोः महाराजमधोन. प्रियतनय कुमारजयत ।

याऽसौ—

निदिश्य किंचित्पटकामुखेन हस्तेन तेनैव पुनः सहेलम् ।

नीतिन सूचीमुखता निहति स्तभ पुरोवर्तिनमर्धवीध्या ॥ ६२ ॥

( उपसृत्य )

आज्ञाचाराण्येव सुप्तानि पृथ्वीमवति यस्यांजितशासनस्य ।

अयंतिपु प्राप्तललामशोभामलकरोत्युज्जयिनीं पुरीं यः ॥ ६३ ॥

प्रतीहार—जो समोग सम्बन्धी स्वेदजल के कणों की सुगन्धि से युक्त है, कुमुदों की गन्ध से सुन्दर है, तथा प्लुतना नामक नदी की तरङ्गों में संचार करने से शीतल है, ऐसी वायु पखेकी वायु के समान आप दोनों के हर्ष को विस्तृत करे ॥ ६१ ॥

( विचार कर अपने मन में ) क्या यहा भी उत्कण्ठा से रहित है ? तैर, दूसरी ओर दिखलाता हू । ( घूम कर और देख कर ) क्या यह उज्जयिनी के राजा, उग्रवश के शिरोमणि, मध्यम लोक के मनु महाराज मयवा का प्रिय पुत्र कुमार जयन्त है ?

जो यह—

निदिश्य—बड़े से सुशोभित हाथ के द्वारा किसी वस्तु का निर्देश कर पुन विलासपूर्वक सुई की अग्रमागता को प्राप्त कराये हुए उसी हाथ से मार्ग के अर्ध भाग में अपने आगे विद्यमान स्वप्ने को कुरेद रहा है ॥ ६२ ॥

( पास जाकर )

आज्ञाचाराण्येव—बलिष्ठ शासन से युक्त जिसके सुप्तकारी आशा के ट वि० की०

महीपतेस्तस्य महीयते गुणैरसौ कुमारस्तनयस्तनूदरि ।

त्रजात्र रागप्रगुणा गुणोत्करा गुणज्ञगोष्ठीश्रवणावंतसताम् ॥६४॥

नवमालिका—कहं एस कस्सववंसुत्तंसो दंसिदुद्दाममणोहरदेहकंति पव्वमारो पडिपक्खराअचक्कं जअंतो कुमारजअंतो । (कथमेप काश्यपवंशोत्तंसः दर्शितोद्दाममनोहरदेहकांतिप्रारम्भारः प्रतिपत्तराजचक्रं जयन् कुमारजयंतः ।

प्रतीहारः—( उपसृत्य )

निशीथिन्यां यूना प्रथितशशा साकममुना

शरच्चन्द्रोद्योतद्विगुणविशदं सौधशिखरम् ।

रतिक्रीडाखेदव्यपनयत्रिदग्धोपचरणं

मुहुः सिप्रावातं भज कुमुदसंपर्कसुरभिम् ॥ ६५ ॥

( विभाव्य स्वगतं ) कथमिहाप्ननीहैव । भवत्वग्रतो दर्शयामि । ( परि-

अक्षर ही पृथिवी की रक्षा करते हैं तथा जो अवन्ति देश के आभूषण के समान सुशोभित उज्जयिनी नगरी को अलंकृत करते हैं ॥ ६३ ॥

महीपते—यह कुमार उन्हीं महाराज मधवा का पुत्र है, तथा गुणों ने पूजा को प्राप्त हो रहा है । हे कुशोदरि ! तुम भी गुणों के समूह स्वरूप हो । इस कुमार में अत्यधिक राग करती हुई तुम गुणज्ञ मनुष्यों की गोष्ठी की कर्णाभरणता को प्राप्त होओ ॥ ६४ ॥

नवमालिका—क्या यह काश्यप वंश का आभरण, अत्यन्त सुन्दर शरीर की कान्ति के समूह को दिखानेवाला, शत्रुगजाओं के समूह को जीतता हुआ कुमार जयन्त है ?

प्रतीहार—( पास में जाकर )

निशीथिन्यां—तुम प्रसिद्ध यश के धारक इस युवा के साथ रात्रि में शङ्ख ऋतु के चन्द्रमा के प्रकाश से अत्यधिक सफेद महल की शिखर पर चढ़ कर रति-क्रीड़ा के खेद को दूर करने में चतुर, एवं कुमुदों के संपर्क से सुगन्धित सिप्रा नदी की वायु का बार बार सेवन करो ॥ ६५ ॥

( विचार कर अपने मन में ) क्या यहां भी इच्छा से रहित है ? लैर,

क्रम ) कथमसौ मथुरानाथस्य हरिवंशप्रथमकदर्पस्य महाराजहरिकान्तस्य प्रियपुत्रः सुकेतुः — .

योऽसौ—

व्यापारिता दृष्टिमिहैव पूर्वमपागसचारिततारकाताम् ।

प्रत्याहरत्यव्यपदेशलक्ष्णा द्वाग्गोचरो मन्मथमागणानाम् ॥ ६६ ॥

राजर्षिरस्ति हरिवंशमर्दोपतोना-

माद्यो हरित्सु हरिकान्त इति प्रतात ।

यस्तान्ममेति हरिणा हरिणाकरोचि-

न्यकारिकोतिं वलाकृतविश्वलाक ॥ ६७ ॥

तस्य पृथ्वीपते सूनु कामधेनुरुपेणुपाम् ।

प्रख्यातः शौरसेनोऽसौ सुकेतुश्चरसंनिकः ॥ ६८ ॥

नवमालिका—कह एस शौरसेनासनुभवमहर्षिदत्तरत्नकामलकव्य-  
धरस्य शूरेणनदलस्य महत्तत्त्व मधुर आदिवचना मधुरकविणिभरिपदमश्वर-

आगे दिखाता हूँ । ( घूम कर ) क्या यह मथुरा के राजा, हरिवंश के प्रथम कामदेव, महाराज हरिकान्त का प्रियपुत्र सुकेतु है ?

जो यह—

व्यापारिता—काम के बाणों का विषय है तथा पहले इसी और  
संचारित, कटाक्षपूर्ण दृष्टि को बिना किसी बढ़ाने के सीम ही ठटा रहा है ॥ ६६ ॥

राजर्षि—जो हरिवंश के राजाओं में प्रथम राजर्षि हैं, दिशाओं में  
हरिकान्त इस नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने चन्द्रमा की किरणों की तिरस्कृत  
करनेवाली कोवि से समस्त ससार की शुक्ल कर रक्वा है और जो इन्द्र के  
साथ तुलना को प्राप्त हैं ॥ ६७ ॥

तस्य—यह उन्हीं राजा हरिकान्त का पुत्र है, यह शरणागत मनुष्यों  
के लिये कामधेनु है, अत्यन्त प्रसिद्ध है, शूरेण देश का स्वामी है, शूर-वीर  
सैनिकों से युक्त है तथा सुकेतु इसका नाम है ॥ ६८ ॥

नवमालिका—क्या यह शौरसेनी भाया ॥ रचित होने से महामान्य  
चञ्चल एवं कोमल काव्य-बन्ध से युक्त शूरसेन देश के आभूषण स्वरूप

केदू सुकेदू । ( कथमेव शौरसेनीसमुद्भवमहार्धिततरलकोमलकाव्यवन्धस्य शूर-  
सेनमंडलस्य मंडनायितां मथुगमधिसन् मधुरकांतिनिर्भर्त्सितमकरकेतुः  
सुकेतुः । )

प्रतीहारः—

अमुना यमुनातरंगभंगस्खलनक्लेशितशीतमारुतेषु ।

विहरस्व सुखाकरेषु वृन्दावनपर्यंतलतागृहांतरेषु ॥ ६६ ॥

( विभाव्य स्वगतं ) कथमसौ न कापि रज्यति । तथाप्यन्यतो दर्शयामि ।  
( परिक्रम्य दृष्ट्वा च ) कथमसौ हास्तिनापुरकः सोमान्वयकङ्कदो निरायासनिर्व-  
र्तितशत्रुजयः कुमारो जयः । योऽसौ—

नास्ते विभिद्य, क्रममद्य नैव विडम्ब्यते विभ्रमचेष्टितैर्वा ।

नाप्यत्र रिक्तास्थमुदास्त एव वरं तु सत्त्वं विवृणोत्यपूर्वम् ॥ ७० ॥

विदूषकः—( अपवार्य )—कहं उवस्थिदा सञ्चरजत्तापरिसमन्ति  
( कथमुपस्थिता स्वयंवरयात्रापरिसमाप्तिः । )

मथुरा नगरी का निवासी अपनी मनीहर कान्ति से कामदेव को तिरस्कृत  
करनेवाला सुकेतु है ?

प्रतीहार—जिनमें यमुना नदी की तरङ्गावली में स्खलित होने से मन्द-  
मन्द एवं ठण्ढी-ठण्ढी वायु बह रही है तथा जो सुख की खान हैं ऐसे  
वृन्दावन के समीपवर्ती लतागृहोंमें तुम इस सुकेतु के साथ विहार करो ॥ ६६ ॥

( विचार कर अपने मन में ) क्या यह कहीं भी राग नहीं करती ?  
फिर भी दूसरी ओर दिखाता हूँ । ( घूमकर और देख कर ) क्या यह  
हास्तिनापुर का स्वामी, सोमवंश का प्रधान एवं अनायास ही शत्रुओं पर  
विजय प्राप्त करनेवाला कुमार जय है ? जो—

नास्ते—इस समय क्रम का उल्लङ्घन कर नहीं बैठा है, विलास-  
पूर्ण चेष्टाओं से विडम्बित नहीं हो रहा है, और न इस ओर निरपेक्ष हो कर  
उदासीन हो रहा है किन्तु अपूर्व धैर्य को प्रकट कर रहा है ॥ ७० ॥

विदूषक—( मुंह फेर कर ) क्या स्वयंवर-यात्रा की समाप्ति आ पहुँची ?

नद्यावर्त —बाढ तथैव ।

प्रतीहारः—( उपसृत्य )

अभिपिच्य युगोद्यमे त्रिधाम्ना कुरुराज्य त्वमिति प्रबोधितो यः ।  
कुरुराज इति प्रतीतनामा कुशलादानमवर्तयत् प्रजानाम् ॥ ७१ ॥

अस्य च—

युगारम्भे दानक्रममनभिजानत्यपि जने  
तपश्चर्याप्रादुर्भूतपरवत्तादृतधिये ।  
गृहानभ्येताय स्वयमदित दान भगवते  
प्रियभ्राता श्रेयान् समुपचितनिश्रेयसरुचिः ॥ ७२ ॥

रूपेण कात्या महसा महिम्ना शौर्येण दानेन पराक्रमेण ।  
विभ्रत्परा कीर्तिमनन्यलभ्यां तस्यैष पुत्रः शमितारिसत्रः ॥ ७३ ॥

नन्दावर्त—हा, यही बात है ।

प्रतीहार—( पास जाकर )

अभिपिच्य—युग के प्रारम्भ में तीन ज्ञान के धारक भगवान् ऋषभदेव ने अभिपेक्ष कर 'तुम राज्य करो' इस तरह जिन्हें प्रबोधित किया था, इसी लिये जो 'कुरुराज' इस नाम से प्रसिद्ध हुए थे तथा जिन्होंने प्रजा में कुशल-मङ्गल की प्रवृत्ति की थी ॥ ७१ ॥

श्रीर जिनके—

युगारम्भे—मौल की इच्छा रखनेवाले प्रियमाई श्रेयान् ने युग के प्रारम्भ में जब कि लाग दान के ऋष को नहीं जानते थे तब तपश्चर्या के प्रकट करने की पराधीनता से दृढ-बुद्धि एवं धर पर आये हुए भगवान् ऋषभदेव के लिये स्वयं दान दिया था ॥ ७२ ॥

रूपेण—रूप से, कान्ति से, तेज से, महिमा से, शूर-वीरता से, दान, से, श्रीर पराक्रम से अन्यत्र दुर्लभ उत्कृष्ट कान्ति को धारण करता हुआ, शत्रुओं के कपट को शान्त करनेवाला यह जयकुमार उही महाराज सोमप्रम का पुत्र है ॥ ७३ ॥

यो हि—

करिकरपरिणाहस्थूलधारांधकार-

स्थगितगगनगर्भं मेघवक्त्रामरौघम् ।

अधरितघनघोषः सिहानादस्वरेण-

व्यजयत यत एपामुष्य मेघेश्वराख्या ॥ ७४ ॥

नवमालिका - एसो खु सुणिम्मलकित्तिसंभारभरिदभुवणब्भंतरस्स राए-  
सिणो महागाअसोमपहस्स पढमतणओ लोअलोअणपुण्णचंदो समरमुहपरम्मुही  
किदवेणिणरिंदो पिअगुणामिअसोत्तणिव्वत्तिअसअलजणसोत्तरसाअणो पवित्त-  
चरित्तपरायणो कौरवेशरो मेहेशरो । ता इमस्सि संचारिअंनु विअसिअउप्प-  
लदलमालकोमलाइ सिणिद्धमुद्धसरलपहमराइ कोदूहलफुल्लाविदाइ तुह  
लोअणाइ । ( एप खलु सुनिर्मलकीर्तिसंभारभरितभुवनाब्भंतरस्य राजपेर्महा-  
राजसोमप्रभस्य प्रथमतनयो लोकलोचनपूर्णचंद्रः समरमुखपराङ्मुखीकृतवैरि-  
नरेद्रो निजगुणामृतलोतोनिर्वर्तितसकलजनश्रोत्ररसायनः पवित्रचरित्रपरायणः  
कौरवेश्वरो मेघेश्वरः । तस्मादस्मिन् संचार्येताम् । विकसितोत्तलमालाकोमले  
स्निग्धमुग्धसरलपद्मले कौतूहलफुल्लापिते तव लोचने । )

जो कि—

करिकर—सिंहनाद के स्वर से मेघगर्जना के शब्द को तिरस्कृत करने  
वाले इस जयकुमार ने चूँकि हाथियों की सूँडों के समान बड़ी मोटी धाराओं  
के अन्धकार से आकाश के मध्य को आच्छादित करनेवाले मेघमुख नामक  
देवों के समूह को जीता था इसलिये इसका दूसरा नाम मेघेश्वर अथवा  
मेघस्वर भी प्रचलित हुआ है ॥ ७४ ॥

नवमालिका—सचमुच ही यह अत्यन्त निर्मल कीर्ति के समूह से लोक  
के मध्य को भरनेवाले महाराज सोमप्रभ का प्रथम पुत्र, मनुष्यों के नेत्रों  
के लिये पूर्णचन्द्र, शत्रुराजाओं को युद्ध से पराङ्मुख करनेवाला, अपने गुण-  
रूपी अमृत के झरनों से समस्त मनुष्यों के नेत्रों के लिये रसायन का काम  
करनेवाला, एवं निर्दोष चरित्र के पालन करने में तत्पर कौरवेश्वर—मेघ-  
श्वर—जयकुमार हैं । इसलिये खिले हुए नील कमल की माला के समान

सुलोचना—( स्वगत ) कह अइअउचो । '( समदनाकृतम् ) अम्हो दक्खिदपि इम जणं गुण्यहवग्धि ता कह कठे माल अ मोअइरस । ( कथ-  
मार्गपुत्र । अहो द्रष्टुमपीअ जन न प्रभवामि तस्मात्कथ कठे मालां  
अ मोचनिष्ये । )

( इति सर्वकलप्यमास्ते ) ।

प्रतीहार—( विभाव्य ) स्थान एव लग्नमस्याचेत ।

नवमालिका—( सस्मित ) पिअसहि किं अण्णदो गमिस्सामो । ( प्रिय-  
सखि किमन्यतो गमिष्याम । )

( सुलोचना साम्यसूयवैलक्ष्यं मुखं नमयति )

नवमालिका—तेण हि महणजदु एसा सअवरमाला । ( तेन हि यद्वा  
तामेपा स्वयवरमाला । )

( सुलोचना सलज्जमादत्ते )

नवमालिका—पिअसहि इहो एहि । ( प्रियसखि इत एहि । )

कीमल, रिंग्य, सुन्दर, सल एव बरुनियो से मुक्त कुटुल से विकसित  
तुम्हारे नेत्र इन पर सचार को प्राप्त हो ।

सुलोचना—( अपने मन में ) क्या आर्यपुत्र हैं ? ( कामचेष्टा को  
प्रकट करती हुई ) अरे, जब कि इन महानुभाव को देखने के लिये भी  
समर्थ नहीं हो रही हूँ तब कण्ठ में माला कैसे छोड़ूंगी ?

( इस प्रकार लज्जा में सकुच कर लकी रह जाती है )

प्रतीहार—इसका चित्त योग्य स्थान पर ही लगा ।

नवमालिका—( मुसक्या कर ) प्रियसखि ! क्या दूसरी ओर चलो ?

( सुलोचना ईर्ष्या और लज्जा के साथ मुख मुका लेती है )

नवमालिका—तो फिर यह स्वयंवर-माला ली जावे ।

( सुलोचना लज्जा के साथ स्वयंवर-माला लेती है )

नवमालिका—प्रियसखि ! यहाँ आओ



( उभे उपसर्पतः )

नवमालिका—सहि किदत्येहि एहिण तुह मणोरहाइ ( सखि कृतार्थ-  
येदानीं तव मनोरथान् । )

( इति सुलोचना हस्ताभ्यां राज्ञः स्कन्धे मालामामोचयति )

विदूषकः—( सहर्षं ) जेदु पिअवअस्सो, सोत्थि होदु । ( जयतु प्रियव-  
यस्यः, स्वस्ति भवतु । )

नन्द्यावर्तः—विजयतां कौरवेश्वरः ।

राजा—( सहर्षमात्मगतं ) संपूर्णों मे मनोरथः ।

( नेपथ्ये )

( कलकलांतरं )

भो भो कौरव करव ज्ञणमिमौ सौभाग्यदर्पामयो-  
च्छूनौ संगरभंगुरौ तव भुजौ पश्यंतु सर्वे जनाः ।

भूपालाः प्रतिपालयन्ति बहवस्त्वां युद्धवद्धस्पृहाः

कतुं मानचिमाननां द्रुतममी हर्तुं च ते मानिनीम् ॥ ७५ ॥

( दोनों पास जाती हैं )

नवमालिका—सखि ! अथ अपने मनोरथों को कृतकृत्य—‘सफल’ करो ।

( इस प्रकार सुलोचना दोनों हाथों से राजा के कंधे  
पर माला छोड़ देती है । )

विदूषक—प्रियमित्र जयवन्त हों, कल्याण हो ।

नन्द्यावर्त—कौरवेश्वर की जय हो

राजा—( हर्ष के साथ मनमें ) मेरा मनोरथ पूर्ण हो गया ।

( परदे के भीतर कलकल शब्द के बाद आवाज आती है )

भो भो—हे कौरव ! हे कौरव ! सौभाग्य-सम्बन्धी गर्वरूपी रोग से  
फूली हुई तुम्हारी इन भुजाओं को सब लोग अभी युद्ध में कटी हुई देखें ।  
युद्ध के लिये उत्सुक ये बहुत से राजा तुम्हारे मान का निरादर करने तथा  
शीघ्रही तुम्हारी स्त्री-सुलोचना को हरने के लिये तुम्हारी प्रतीक्षा कर  
रहे हैं ॥ ७५ ॥

( सर्वे मृश्वति )

कथमन्यदुपक्रांतमन्यदापतितम् ।

सुलोचना—( समय ) ह कि एत्थ सरण । ( सविषाद ) ह कह एत्थ हविस्सदि । ( हत किमत्र शरणम् । हत कथमत्र भविष्यति । )

विदूषक.—कह एरिस्स इमस्स शिट्ठुरवअण्ण । ( कथमीदृशमस्य निष्ठुगधचनम् । )

राजा—( सकोपस्मित ) जितकाशिता क्षत्रियजिमानाम् ।

नन्दावर्त—( सकोप ) अहो अहो परयिका क्षत्रियकोटानी । यदेव देवेऽप्यवधीरणागममुदीयते ।

( प्रविश्य सभात )

पुरुष—आर्यं महेन्द्रदत्त युवराजहेमागदस्त्वामाहावयति । आनीयता मितस्त्वरिततर वत्सा सुलोचनेति । तेन हि इव इतो मर्तुदारिका ।

( निष्पाता सुलोचना नवमालिका प्रतीक्षार पुरुषश्च । )

नन्दावर्त.—देव युद्धाय सन्नद्धम् । तदुत्थीयताम् ।

( सब मुनते हैं )

क्या कुछ प्रारम्भ किया और अन्य कुछ आ पड़ा ।

सुलोचना—( भय सहित ) खेद है, यहा शरण क्या है । ( खेद प्रकट करती हुई ) अब यहा क्या होगा ?

विदूषक—इनके यह ऐसे कठोर वचन क्यों ?

राजा—( क्रोध और मुसक्यान के साथ ) क्षत्रियपालकों का अहंकार है ?

नन्दावर्त—( क्रोध के साथ ) आश्चर्य आश्चर्य क्षत्रियकीटों की इतनी कठोरता जा इस तरह आपके विषय में भी अनादरपूर्वक कहा जा रहा है ।

( प्रवेश कर घबड़ाई हुई अवस्था में )

पुरुष—आर्य महेन्द्रदत्त ! युवराज हेमाङ्गद तुम्हें आज्ञा देते हैं कि व सा सुलोचना की अत्यन्त शीघ्र यहा लाया जावे । इसलिये इधर-इधर राजपुत्री !

( सुलोचना, नवमालिका, प्रतीक्षार और पुरुष निकल जाते )

नन्दावर्त—देव ! युद्ध के लिये तैयार होना है इसलिये उठा जावे ।

( सर्वे उत्तिष्ठन्ति )

राजा—( सक्रोधं ) अरे रे दुर्वातक्षत्रियकीटाः शृणुतेमां प्रतिज्ञाम् ।

वक्षःप्रस्थात् क्षुरप्रप्रहतिविघटितग्रंथिवंधश्लथास्थन-  
श्रोतन्मस्तिष्कशक्लस्थपुटितपशितादुत्खनन् मानशंकुम् ।त्रासातंकाज्जिहासून् प्रथमतरमसून् मोघसरंभशोच्या-  
नाच्छेत्स्यत्येष रोपग्रहविधृतघृणः कौरवो भैरवो वः ॥ ५६ ॥नन्द्यावर्तः—रे रे अस्थानोत्थितक्रोधाभिभूतविडम्बितवीररसाः पश्यंतु  
विश्वेपि क्षुद्राः क्षत्रियकुलपांसनाः ।निर्मुचन् वाणवृष्टीर्निविडनिपतनाकांडवद्ग्राधकाराः  
स्वैरावस्कंदरुग्णप्रतिनृपतिशिरस्कन्धसंवंधसंधीः ।

( सब उठते हैं )

राजा—( क्रोध के साथ ) अरे रे उगले हुए क्षत्रियकीटो ! सुनो इस  
प्रतिज्ञा को—वक्षःप्रस्थान—क्रोधरूपी पिशाच से जिसकी दया रुक गई है ऐसा  
यह भयंकर कौरव, तुम्हारे उस वक्षःस्थल से जिसकी कि हड्डियां वाणों के  
प्रहार से ग्रन्थिवन्धन के टूट जाने के कारण शिथिल पड़ गई हैं तथा चूते  
हुए मस्तिष्क के खण्डों से जिसका मांस ऊँचा-नीचा हो गया है मानरूपी  
कील को उखाड़ता हुआ भय के आतंक से पहले ही छोड़ने के इच्छुक एवं  
व्यर्थ के क्रोध से शोचनीय तुम्हारे प्राणों को अभी हाल छेदेगा ॥ ५६ ॥नन्द्यावर्त—अरे रे अस्थान में उठे क्रोध से तिरस्कृत एवं वीर रस को  
विडम्बित करनेवाले सभी क्षुद्र क्षत्रिय-कुल-कलङ्कियो ! देखो ।निर्मुञ्चन्—सधन पतन से जिन्होंने असमय में ही अन्धकार उपस्थित  
कर दिया है तथा स्वतन्त्रतापूर्वक आक्रमण से जिन्होंने शत्रुगजाओं के  
शिर और कन्धों के सम्बन्ध को जोड़नेवाली सन्धियों को नष्ट कर दिया है  
ऐसी वाण-वृष्टियों को छोड़ता हुआ नन्द्यावर्त आज युद्ध में प्रलय-काल के  
समय छोड़ी हुई धाराओं से गगनाङ्गण की सीमाओं को प्रस्त करनेवाले

कल्पातच्छ्रुत्तवाराकवलितगगनाभोगसीम्नस्तमता-  
नयावर्तोऽयं लीलां रञ्जयति समरे पुष्कलावर्तकस्य ॥ ७७ ॥

विदूषक — इदो इदो मित्रवञ्चस्वो । ( इत इतः प्रियमित्र ! )

( परित्रम्य निष्क्रान्तास्वर्षे )

इति श्री हस्तिमल्लेन विरचिते मुलोचनानाटके स्वयंरयात्रा नाम  
तृतीयोऽङ्कः समाप्त ॥ ३ ॥

पुष्कलावर्तक नामक प्रलयकालीन मेघ की लीला को धूलि में मिला रहा है  
तिरस्कृत कर रहा है ॥ ७७ ॥

विदूषक—इधर-इधर प्रियमित्र !

( घूम कर सब निकल जाते हैं )

इस प्रकार श्री हस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित मुलोचना नाटक में  
स्वयंवर-यात्रा नामका तीसरा अङ्क समाप्त हुआ ॥ ३ ॥



## चतुर्थोऽङ्कः

( ततः प्रविशति सरलिका )

सरलिका—भण्डिदग्धि पिश्रसहीए खोमालिश्राए । सहि कीरिसी उण  
सअंवरकलअलाणंतरं राअउत्ताणं पउत्तित्ति राअउलं गदुअ समंतदो जाणिअ  
आअच्छेति । ता लहु गच्छेमि । ( परिकम्पावलोक्य च ) एसो हु पडिहार-  
महत्तरो अजमहिंददत्तो इदो एव अभिवट्टेदि । जाव एअं उवसप्पिअ  
पुच्छेमि । ( परिक्रामति ) । ( भण्णित्तास्मि प्रियसद्व्या नवमालिकया । सखि  
कीदृशी पुनः स्वयंवरकलकलानंतरं राजपुत्राणां प्रवृत्तिरिति राजकुलं गत्वा  
समंततो ज्ञात्वाऽऽगच्छेति । तस्मात्तल्लघु गच्छामि । एष खलु प्रतीहारमहत्तरः  
आर्यमहेन्द्रदत्त इत एवाभिवर्तते । यावदेतमुपसृत्य पृच्छामि ।

( ततः प्रविशति प्रतीहारः )

प्रतीहारः—अहां विवेकमुग्धता क्षत्रियकुमाराणां कुतः !

( इसके बाद सरलिका प्रवेश करती है )

सरलिका—प्रियसखी नवमालिका ने मुझसे कहा है कि सखि !  
'स्वयंवर की कलकल' के बाद राजपुत्रों का क्या समाचार है' यह तुम  
राजभवन में जाकर तथा सब समाचार जानकर आओ । इस लिये मैं जल्दी  
जाती हूँ । ( घूम कर तथा देख कर ) यह प्रमुख प्रतीहार आर्य महेन्द्रदत्त  
इसी ओर आ रहे हैं । जब तक इनके पास जाकर पूछती हूँ । ( घूमती है )

( तदनन्तर प्रतीहार प्रवेश करता है )

प्रतीहार—अहा, क्षत्रियकुमारों की विवेकविषयक मूढ़ता आश्चर्य  
करनेवाली है । क्योंकि—

भूयांसः क्षितिपात्मजा वरयितुं वाञ्छन्ति वत्सामिमां  
सर्वस्याभिमतः स्वयंवरविधिस्तद्वादमत्रोचितः ।  
इत्यस्मत्प्रमुखा प्रवर्तितममृतकर्म निर्मत्सर  
जात प्रत्युत वैरकारणमिदं तेषां मुधा द्वेषिणाम् ॥ १ ॥

इदं वैयामपुयोग्य पौरोभाग्यम् । यदुत ।

अन्य कचन पचवाणविधुरादन्यं धरित्रोश्वर  
या निर्ज्ञातगुणा स्वयं वृतवती परयत्सु येष्टव्रतः ।  
ता सप्रत्यभिमानदुर्गतचिन्तो वाञ्छन्ति भूयोपि ते  
वीभत्सोपहतां धिगस्तु विषयोन्मुग्धाभिमां कामिताम् ॥ २ ॥

सरलिका—( उपस्थ ) अत्र अत्र स्वयंवरवेलाकलकलाण्तर रात्रउत्ताण  
पडति जाणिदु आअन्धेमि । ता मग्नादि दाव । ( आर्य स्वयंवरवेलाकलक-  
लान्तर राजपुत्राणां प्रवृत्तिं ज्ञातुमागच्छामि । तस्माद्गच्छ तावत् । )

भूयांस'—'इस कन्या को बहुत राजकुमार बरना चाहते हैं इसलिये  
इस स्थिति में स्वयंवर-विधि सबके लिये इष्ट तथा उचित होगी' यह विचार  
कर हमारे स्वामी ने ईर्ष्यारहित जो कार्य प्रारम्भ किया था वह हर्ष का  
कारण तो दूर रहा किन्तु व्यर्थ ही द्वेष करनेवाले उन सबके वैर का कारण  
हो गया ॥ १ ॥

इनकी यह दाप दृष्टि पुरुषों के योग्य नहीं है किन्तु ।

अन्य—काम के बाण से दुखी जिस कन्या ने गुणों की अन्धरी तरङ्ग  
जान कर जिन लोगों के देखते हुए उनके आगे दोनता से रहित अन्य किसी  
राजाको स्वयंवर में स्वीकृत किया इस समय अभिमान से निर्वुद्धि हुए वे हो  
राजा उस कन्या को फिर भी चाहते हैं अतः प्रुणा से उपहत एवं विषयों  
में उन्मुग्ध इस कामिदशा को धिक्कार हो ॥ २ ॥

सरलिका—( पास जाकर ) आर्य, स्वयंवर-समय की कलकल के बाद  
राजपुत्रों का समाचम जानने के लिये आ रही हैं, इस लिये कहिये ।

प्रतीहारः—तेन हि श्रूयताम् ।

सरलिका—अवहिदग्निः । ( अवहिताग्निः । )

प्रतीहारः—अस्ति तावत्स्वयंवरयात्राद्वसानविसंवादिमनोरथानामुत्तम-  
भागसंभरभसगरीयानुत्थितः पार्थिवानां कलकलः ।

सरलिका—हत्थि । ( हंत । )

प्रतीहारः—तत्र च—

युक्तोऽयं गुणिनां बधूगुणवतोत्येके प्रसन्नाः स्थिताः

स्वच्छंदप्रसरो मनोभव इति प्राप्तोऽपरंनिग्रहः ।

स्वावज्ञाजनितत्रपाहतधियस्तूष्णीमभूवन् परे

केचित्तामपहर्तुमेव समरे प्राक्रंसत् क्रोधनाः ॥ ३ ॥

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहार—तो सुनिये ।

सरलिका—सावधान हूँ ।

प्रतीहार—इतना तो विदित है न ! कि स्वयंवर-यात्रा की समाप्ति के  
समय-विरुद्ध इच्छा रखनेवाले राजाओं का बढ़ते हुए क्रोध के वेग से  
भारी कलकल शब्द उठा था ।

सरलिका—दुःख की बात है ?

प्रतीहार—श्रीर उस कलकल में—

युक्तोऽयं—गुणी मनुष्यों की गुणवती बधू—हो यह उचित हो है ऐसा  
विचार कर कितने ही लोग प्रसन्न होते हुए चुन रह गये । काम का प्रसार  
अपनी अपनी इच्छानुसार होता है—यह सोच कर कितने ही लोगों ने अपने  
आप दण्ड प्राप्त कर लिया और अपने अनादर से उत्पन्न हुई लज्जा के द्वारा  
जिनकी बुद्धिहत हो गई ऐसा विचार कर कितने ही लोग चुन हो रहे और  
कितने ही क्रोधी उस कन्या को हरने के लिये युद्ध की तैयारी करने  
लगे ॥ ३ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ।

प्रतीहार —नेपु च प्रकृत्यमर्पणा. कुलूनेश्वरदुर्मर्पणप्रभृतयो निमग्निर-  
जालचेष्टित चक्रवर्तिसुतमर्ककीर्तिभुरसृत्य सोत्साहमवोचन् ।

यथा—

आहूय शाठ्यात् सकलाञ्जरेद्भानकपन कौरवपत्नपाती ।

गुणित्वमारोपयितुं जयस्य तस्यायमारोपयतिस्म भालाम् ॥ ४ ॥

सरलिका—गणुणेषु असहस्रदा राज्ञ उच्चाण । तदो तदो । ( परगुणेषु  
असहनता राजपुत्रायाम् । ततस्तत । )

प्रतीहार —पुनरस्यावोचन् ।

पितुस्तु सकेतमलघनीय सुलोचना साप्यनुपालयती ।

व्ययि स्थिते श्लाघ्यगुणाभिरामे शोच्या कमप्यन्यमभूद् वृणाना ॥ ५ ॥

सरलिका—तदो कि पक्षिपण्य अककितिया । ( ततश्च कि प्रतिरज-  
मर्ककीर्तिना । )

प्रतीहार—उन राजाओं में कुलून के स्वामी दुर्मर्पण आदि कुछ राजा  
स्वभाव से ही असहिष्णु थे अत वे स्वभाव से ही निर्बाध चेष्टा करनेवाले  
चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के पास जाकर उत्साह के साथ कहने लगे—

जैसे—

आहूय—कौरव—नयकुमार के पत्न्यानी इस अकभन ने धूर्तता मे  
अमस्त राजाओं को बुलाकर जयकुमार का गुणीता सिद्ध करने के लिये  
उसके गले में माना डनवाई है ॥ ४ ॥

सरलिका—दूधरे के गुणों में राजकुमारों को बड़ी असहिष्णुता है ।  
फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—फिर अर्ककीर्ति से बोले ।

पितुस्तु—पिता के अनङ्गनीय सकेत का राजन करनी हुई मुनाचना  
ने प्रशसनीय गुणों से मनोहर आरके रहते हुए भी अन्य किसी को बरा  
इस तरह बह शोचनीय हुई ॥ ५ ॥

सरलिका—फिर अर्ककीर्ति ने क्या स्वीकृत किया ?



प्रतीहारः—ततश्च रोपोत्कर्षकप्रायितेक्षणेन कथितमर्ककीर्तिना ।

सरलिका—कहं विश्व । ( कथमिव । )

प्रतीहारः—

वाढं तेऽद्य विशीर्यते तस्मिन्नारोपिता गुणाः ।

आरोपिते ससंरंभं चापकोट्यां मया गुणे ॥ ६ ॥

सरलिका—अहो असरिसो माण्णहो ( अहो असदृशः मानग्रहः । )

प्रतीहारः—स किं नामार्ककीर्तिः ।

सरलिका—तदो तदो ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—ततश्च निसर्गनिस्त्रिशो दाशार्णः राजा समाह्वयन्नर्क-  
कीर्तिमित्यमवाचत् ।

अनास्थापर्यस्तस्तत्र यदि न जुम्भेत सपरं

कठोरः कोपाग्निर्ज्वलितुमुचितेस्मिन्नवसरे ।

प्रतीहार—फिर क्रोध की अधिकता से लाल लाल नेत्र करते हुए अर्क-  
कीर्ति ने कहा ।

सरलिका—क्या कहा ?

प्रतीहार—

वाढं—ठीक है, अब मेरे द्वारा धनुष की कोटि पर क्रोधपूर्वक गुण-  
ढोरी के चढ़ाते ही उस जयकुमार में आरोपित गुण—शूर-वीरता आदि  
गुण-अभी हाल बिखरे जाते हैं—नष्ट हुए जाते हैं ॥ ६ ॥

सरलिका—अहा, मानरूपी ग्रह असाधारण है ।

प्रतीहार—उसका नाम भी तो अर्ककीर्ति है ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ।

प्रतीहार—फिर स्वभाव से क्रूर दशार्ण देश का राजा अर्ककीर्तिका  
आह्वान करता हुआ इस प्रकार बोला—

अनास्था—यदि प्रज्वलित होने के योग्य इस अवसर पर उपेक्षा से नष्ट  
हुई आपकी कठोर कोपाग्नि अच्छी तरह वृद्धि को प्राप्त नहीं होती है तो

कुरूणामुदाम प्रसरति मदः शौर्यकथया  
स काशीनां राजा कलवति निजोर्जित्यविभवम् ॥ ७ ॥

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहार—निसर्गभीषणचेष्टित सौराष्ट्रो भीम, ससरभमवोचत् । का  
वा चक्रवर्तिन आस्था विष्टलसप्यसषट्दुर्बले कुरूकाशिवले ।

तदत्र—

आस्तामप्रतिचक्रविक्रमघन, काम भवान् प्रेक्षक  
केऽमी शौर्यविपर्ययप्रलघय कोर्जन्ति ते कौरवा ।  
युद्धावद्धधिय पृथक्पृथगमी सज्जा वय भूरिश  
शत्रूणा दमनाय दुर्धममुजास्त्वद्भूलतार्किकरा ॥ ८ ॥ इति ॥

सरलिका—तदो तदो ( ततस्ततः । )

शूर वीरता की कथा से कुरूओं का बहुत मारी गर्व बैल जायेगा और वह  
काशी का राजा अकपन भी अपने पराक्रम के वैभव की प्राप्त कर  
लेगा ? ॥ ७ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—स्वभाव से भयंकर चेष्टाओंवाला सुराष्ट्र देश का राजा  
भीम भीषणपूर्वक बोला कि स्वतन्त्र युद्ध की टक्कर में दुर्बल कुरू और काशी  
की सेना में चक्रवर्ती का क्या आदर हो सकता है ? चक्रवर्ती जयकुमार  
और अकपन की सेना की समझते ही क्या हैं ?

इसलिये यहाँ—

आस्ता—अतुल्य पराक्रम के धनी आप तो मात्र अन्ध्री तरह दर्शक  
बने रहे हैं । कायरता से हीन ये अकपन के पद के कौन हैं ? और वे  
कौरव अपना बल कहा दिखाते हैं ? युद्ध के लिये उत्सुक, उदयद मुजाओं  
से युक्त तथा आपकी मौहम्बी लता के किछर हम बहुत लोग, शत्रुओं का  
दमन करने के लिये पृथक्पृथक् तैयार खड़े हैं ॥ ८ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

६ वि० कौ०

प्रतीहारः—अनंतरं चार्ककीर्तिरंतःकोपपावकस्य विप्रुप इव तत्क्षणप्रस-  
भकीलितारातिकंठान् वर्णानुद्गिरन्नित्यमचीकथत् । अथवा समूलकापं नः  
कपणीया दोषाः ।

ततश्च—

अध्यस्तशौर्योद्धतमेव मिथ्यामध्यस्थमस्थानकृतातिसंधिम् ।

किमन्यदन्यायपथप्रवृत्तमकपनं संप्रति कम्पयामि ॥ ६ ॥

सरलिका—अहो अचाहिदम् । ( अहो अत्याहितम् ) ।

प्रतीहारः—शैलीयं मानशालिनाम् ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—अत्रांतरे पार्श्ववर्ती चक्रवर्तिनैवार्ककीर्तेरनुयात्रायां नियुक्तो  
नीतिमार्गकृतविद्यो निरवद्यो नाम सचिवः साधिंक्षेपमवोचत् । यथा । युवराज

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने अन्तर्गत क्रोधरूरी अग्नि के कणों  
के समान शत्रुओं के कण्ठों को तत्काल बलपूर्वक कीलित करनेवाले अक्षरों  
का उच्चारण करते हुए इस प्रकार कहा । अथवा दोषों को हमें जड़ सहित  
नष्ट करना चाहिये ।

इसलिये—

अध्यस्त—और क्या ! जो नष्ट हुई शूर-वीरता से उद्दण्ड हो रहा है,  
भूटमूठ का मध्यस्थ बना फिरता है, अयोग्य स्थान पर जिसने अत्यधिक  
कपट किया है और जो अन्याय के मार्ग में प्रवृत्त हुआ है ऐसे अकम्पन को  
ही इस समय कम्पित करता हूँ ॥ ६ ॥

सरलिका—अहो, बड़ा अनर्थ हुआ ।

प्रतीहार—यह अभिमानी मनुष्यों की शैली है ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ।

प्रतीहार—इस बीच में पास में बैठा, नीति-मार्ग का वेत्ता निरवद्य  
नाम का मन्त्री, जिसे अर्ककीर्ति की यात्रा के लिये चक्रवर्ती भरत महाराज  
ने भेजा था, डांट दिखाता हुआ बोला—युवराज ! साधारण मनुष्यों में

केय पृथग्जनमुलमाऽप्येक्षापूर्वकारित्वप्रवृत्ति । किं चेदमात्मवतामनभिमतं  
दुःशिक्षितजनदुःखदेपु श्रोत्रादानव्यसनम् । कश्चाय प्राकृतजनप्रवर्णितं पुरुषा-  
तरगुणसमावर्जितचित्तायामाग्रहो योपिति । क चाय परिचितं कलुषानुपगेष  
क्लुषेनरमानसोन्मथनमन्था पथा । कुतश्चामन्यघोतानि परिहृतविवेकयत्रणानि  
क्रोधोद्वेगस्वतन्त्राणि वचासि । सा खलु चक्षुष्मत्ता यदुत परपरिग्रहगर्हितेषु  
ननुपायत्व कनत्रेषु । सैव च भुतिमत्ता यत् किल दुर्दातजनदुः प्रलपितेषु पुरुष-  
स्यान्वे भ्रष्टत्वम् । स खलु विक्रामति यस्य निवर्गदुर्मार्गप्रसगमलीमसैरिन्द्रियम-  
लिङ्गुचैर्न मुष्यते हृदयम् । अभिजातजनहारयता च भृशयति मानिनो यशस्वि-  
ताम् । विगीता रणचुविता च विवृणोति पुषामचातुर्यम् ।

किं च—

अमुष्मिन् राजर्षौ प्रशमशमितस्वातकुसृता

न काशोनामीशे तव विगणनासौ गुणवती ।

सुखम यह अविचारित कार्य की प्रवृत्ति क्या है ? आत्मश मनुष्यों के लिये  
अनिष्ट, दुःशिक्षित मनुष्यों के दुष्ट उपदेशों में कान देने का यह व्यसन क्या  
है ? अन्य मनुष्य के गुणों से जिसका चित्त बशोभूत है ऐसी छा में साधारण  
मनुष्यों के द्वारा चलाया हुआ यह आग्रह क्या है ? दुष्ट मनुष्यों की सगति  
द्वारा निर्मल हृदयवाले मनुष्यों का मन्थन करने के लिये मयानी के समान  
यह मार्ग तुमने कहा सीखा है ? विवेक की यन्त्रणा से रहित तथा क्रोध की  
उद्दण्डता से स्वतन्त्र ये वचन तुमने किससे सीखे हैं ? परमार्थ से वही  
चक्षुष्मत्ता है जो कि पर पुरुष की स्वीकृति से निन्दित स्त्रियों में जन्म से  
ग्रन्था रहता है । मनुष्य की वही भुतिमत्ता है जो कि दुष्ट मनुष्यों के दुःख-  
दायक निरर्थक वचनों के विषय में बहिरा होता है । यथार्थ में वही पराक्रम  
दिलाता है जिसका हृदय कुत्सित मार्ग के प्रसंग से मलिन इन्द्रियरूपी  
चोरों के द्वारा नहीं चुराया जाता है । कुलीन मनुष्यों के बीच हँसी होना  
मानी मनुष्य की कीर्ति को नष्ट कर देता है और निन्दित युद्ध की तत्परता  
मनुष्यों की भूर्खता को प्रकट करती है ।

और भी—

अमुष्मिन्—जिन्होंने प्रथम गुण के द्वारा चित्त की समस्त खोटी

पितुश्चैनं नान्यं कलयति मनस्वी तव पिता

सुतानप्युद्वृत्तान्न च वृषभसूनुस्त सहते ॥ १० ॥

अपि च । का चैयं संभावना कौरवेश्वरे ।

सप्ताहं सप्तसप्तिस्थगनकृततमःस्तोमविस्तारमग्ने

मूर्च्छार्पारिप्लवेऽस्मिन् भरतप्रतिबले विकलवे प्लाव्यमाने ।

वर्षन्तः संततांभःप्लुतिपिहितदिशः पुष्करावर्तकाद्या

येनैकेनाक्रियंत ज्वलनशरमुचा भस्मसात्कारकीर्णाः ॥ ११ ॥

अथ च—

पुरस्सरणमात्रेण श्लाघ्यं चक्रं विशां प्रभोः ।

प्रायो दुःसाध्यसंसिद्धौ श्लाघते जय एव सः ॥ १२ ॥

प्रवृत्ति को शान्त कर दिया है ऐसे काशी देश के स्वामी इन राजपि अकम्पन के विषय में तुम्हारी यह अनादर की बुद्धि लाभदायक नहीं है । तुम्हारे विचारवान् पिता इन्हें अपने पिता से अन्य नहीं समझते हैं और भगवान् वृषभदेव के पुत्र भरत महाराज उद्दण्ड पुत्रों को भी सहन नहीं करते ॥ १० ॥

दूसरी बात यह भी है कि तुमने कौरवेश्वर को समझ क्या रक्खा है ?

सप्ताहं—जब भरत महाराज की सेना लगातार सात दिन तक सूर्य के आच्छादन से किये हुए अन्धकार-समूह के विस्तार में मग्न हो मूर्च्छित हो बड़ी बेचैनी से पानी में उतरा रही थी तब आग्नेय वाण को छोड़नेवाले जिस एक जयकुमार ने वरसते हुए तथा निरन्तर जल के प्रवाह से दिशाओं को आच्छादित करनेवाले पुष्करावर्तक आदि मेघों को भस्मकर इधर-उधर बिखेर दिया था ॥ ११ ॥

और भी—

पुरस्सरण—चक्रवर्ती का चक्र तो आगे चलने मात्र सं प्रशंसनीय है परन्तु प्रायः कठिन कार्य की सिद्धि में वह जयकुमार ही प्रशंसा को प्राप्त होता है ॥ १२ ॥

सरलिका—दाणि खु सो खिरवग्जो । तदो किं पडिपण्णं अक्कत्तिणा ।  
( इदानीं खलु स निरवयः । तत किं प्रतिपन्नमर्ककीर्तिना । )

प्रतीहार—ततश्च निरवयवच सतर्जनचरिते क्षत्रियसमे कौरवेश्वरशौर्या-  
तिशयशसनमसहमानः किमपि सावधीरण इव निरवयवभाणिते रोषदूषितधीरर्क-  
कीर्तिधीरनिन्दुरमभाषिण । अहो आर्यस्य कौरवयशःश्लाघने किमप्यनहरीय  
कवित्वम् ।

पश्य—

कथमिव जलभाराकीर्णतूलीषतुल्या,  
क्षुण्विशरणशीला शाश्वतभ्रातिलोला ।  
श्वसनचलननुभा शौर्यभोगावलीनां  
प्रथममिह निधान कौरवस्याबुबाहा ॥ १३ ॥

सरलिका—अब वह सचमुच का निरवय हुआ । फिर अर्ककीर्ति ने  
क्या स्वीकृत किया ?

प्रतीहार—तदनन्तर जब क्षत्रियों का समूह निरवय मंत्री के बचनों  
द्वारा सतर्जित हो रहा था तब कौरवेश्वर के पराक्रम की अत्यधिक स्तुति को  
नहीं सहनेवाला अर्ककीर्ति निरवय मन्त्री के भाषण का अनादर करता  
हुआ क्रोध से दूषित बुद्धि हो धीरता एवं कठोरता के साथ बोला । अहा !  
आपका कौरव के यश की प्रशंसा करने में बहुत भारी कवित्व है ।

देखो—

कथमिव—जलवृष्टि हो जाने के कारण जा बिलरे हुए रई के ढेर के  
समान थे, जलमर में बिलर जाना जिनका स्वभाव था, जो निरन्तर घूमते  
रहने के कारण चञ्चल थे, और वायु के चलने से जो प्रेरित थे ऐसे मेघ  
जयकुमार सम्बन्धो पराक्रम की विरुद्धावली के प्रथम स्थान कैसे हो सकते  
हैं ? ॥ १३ ॥

अथवा किमत्र चर्चया ।

ख्यातः पराक्रमिषु यद्यपि कौरवोऽसौ

सत्यत्र युद्धनिकपे न गिरः प्रमाणम् ।

आर्यस्तु पश्यतु तदस्य विशीर्यमाणं

शौडीर्यमागु युधि शौर्यकथासमुत्थम् ॥ १४ ॥

सरलिका—कहं दुर्विणिदो विश्र हत्थसिक्खं पि ण गिह्णदि । तदो तदो । ( कथं दुर्विनीत इव हस्तशिक्खामपि न गृह्णाति । ततस्ततः । )

प्रतीहारः—अमुं च वृत्तांतमुपलभ्य महाराजः कृतयथोचितकार्यपर्यालोचनो मम हस्ते स्वाभिप्रेतं निवेद्य मामेवार्ककीर्तेर्निसृष्टार्थतया प्रस्थापितवान् । गत्वा च ततोऽहं तत्प्रतीहारनिवेदितस्वागमनश्चक्रवर्तिसूनोः पाश्वंमुपसृत्य समुचितसमुदाचारपुरस्सरमवोचम् । युवराज महाराजस्वामाह—

विनीतो बाल्येपि त्वमसि पितुरेव प्रतिनिधिः

परं प्रेक्षानिघ्नः प्रकृतिमनघां मा स्म विसृज ।

( अथवा इस विषय में चर्चा से क्या मतलब है ? )

ख्यातः—यद्यपि वह कौरव पराक्रमियों में विख्यात है यह ठीक है परन्तु इस विषय में युद्धरूपी कसौटी के रहते हुए मात्र वचन प्रमाण नहीं हो सकते । इसलिये आप शूर-वीरता की कथा से उत्पन्न हुई इसकी वृत्तवत्ता को युद्ध में शीघ्रता से ही विलसती हुई देखें ॥ १४ ॥

सरलिका—क्या उद्दण्ड की तरह आत्मीय जन की शिक्षा को भी सहन नहीं करता ? फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—इस वृत्तान्त को पाकर महाराज अकम्पन ने यथायोग्य कार्य का विचार किया और अपना अभिप्राय मेरे हाथ में निवेदित कर मुझे ही प्रधान दूत बनाकर अर्ककीर्ति के पास भेजा । तदनन्तर मैंने जाकर उनके प्रतीहार के द्वारा अपने आगमन की सूचना दी फिर पास जाकर योग्य शिष्टाचार-पूर्वक मैंने कहा—युवराज ! महाराज ने आपसे कहा है ।

विनीतो—आप अत्यन्त विनीत तथा विवेकी हैं अतः बालक होने पर भी पिता के ही प्रतिनिधि हैं । आप अपनी निदांप्रकृति को न छोड़ें ।

परेषां पैशुन्याज्ज हि च वचनीयान्मलिनता

क्रियद्वा भिन्न मे भरत इति हेमाङ्गद इति ॥ १५ ॥

किं च—

कुतोपि जन्मांतररूढवासना विबोधलब्धास्पदकौतुकेरिते ।

स्वयम्वरेऽस्मिन्नलमन्यया धिया परोपि मुह्यन् भवता निगृह्यताम् ॥ १६ ॥

अपि च—

असिमपि कृषि विद्या शिल्प वाणिज्य वृत्तौ

शिवपदपदवीमप्यन्ततो दर्शयित्वा ।

अपतमसि कृतेऽस्मिन् विश्वधाम्ना युगेऽथ

प्रतिहतनिजवृत्तिर्मा कलिश्च प्रविहत् ॥ १७ ॥

अपि च—

इयं तनूजा मम रत्नमाला गुण्याधिकं त्वां सहस्रीं गुणेन ।

दूसरों की खुशाली अथवा निन्दा से मलिनता धारण करना अच्छा नहीं ।

मेरे लिये भरत अथवा हेमाङ्गद कितने मुझे हैं ! ॥ १५ ॥

और भी—

कुतोऽपि—यह स्वयंवर किसी अन्य जन्म में जमी वासना के स्मरण

से उत्पन्न कौतुक से किया गया है इसके विषय में अन्य बुद्धि करना—

अन्यथा विचार करना व्यर्थ है । प्रत्युत यदि कोई दूसरा पुरुष इसमें मूल

करता है तो वह आपके द्वारा दण्डनीय है ॥ १६ ॥

और भी—

असिमपि—पहले अग्नि, मणि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य इन

छह वृत्तियों को और अन्त में मोक्षपद के मार्ग को भी दिखाकर भगवान्

श्रृंगमदेव ने इस युग को अन्धकार-रहित किया है इसलिये कृतयुग कह

लाता है । इस कृतयुग में अपनी मर्यादा को खण्डित करनेवाला कलि काल

प्रवेश न करे ॥ १७ ॥

और भी—

इयं—यह हमारी पुत्री रत्नमाला जो कि गुणों से आपके अनुरूप है,



अनन्यसाधारण-भागधेयं वरं वृणीतां मदनुज्ञयैव ॥ १८ ॥

सरलिका—भट्टिदारिग्रं रञ्जणमालं जुवराग्रअक्षकित्तिणो पडिच्छंतेण सुविहिदं महाराएण । ( भट्टिदारिकां रत्नमालां युवराजार्ककीर्तेः प्रतीच्छता सुविहितं महाराजेन । )

प्रतीहारः—ततश्च लब्धवाणो निरवद्यः पुनरवोचत् । तदिदमिदानी-  
मदीनमनादीनवमः वेदितं महाराजेन यतः संप्रतिपत्तिरेव युवराजस्योत्तरमिति ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—ततश्च सोल्लुंठं कथितमर्ककीर्तिना । आस्ताम'र्यस्य प्राड्वि-  
वाकतेति । मां चोद्दिश्य कथितम् । अरे योग्यः प्रतिभाति काशीपतिः साधु  
शिक्षयितुम् ।

स्वयंवरव्यतिकरे यौष्माकीणस्य भूपतेः ।

संकेतकूटनिष्कस्य साध्वी कूटस्थतापि सा ॥ १९ ॥

अधिक गुणवान् एवं असाधारण भाग्य से युक्त आपको मेरी आज्ञा से अम्ना  
वर स्वीकृत करे ॥ १८ ॥

सरलिका—युवराज अर्ककीर्ति के लिये राजपुत्री रत्नमाला को देते  
हुए महाराज ने बहुत अच्छा किया ।

प्रतीहार—तदनन्तर अवसर-प्राप्त कर निरवद्य मन्त्री ने फिर कहा कि  
इस समय महाराज ने यह दीनता-रहित निर्दोष प्रस्ताव प्रस्तुत किया है  
इसलिये स्वीकृति ही युवराज का उत्तर होना चाहिये ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने बड़ी उद्दण्डतापूर्वक कहा कि आप  
अपनी बकालत रहने दें और मुझे लक्ष्य कर कहा कि काशीपति शिक्षा  
देने में बहुत योग्य जान पड़ते हैं ।

स्वयंवर—स्वयंवर के कार्य में तुम्हारे राजा संकेत के जाली सिक्का  
हैं आश्चर्य है कि उनकी माया भी अच्छी समझी जा रही है ॥ १९ ॥

किन्तु सधानमतिस्नानमिति द्वे इमे न कापि सभाविते अवतिष्ठेते ।

ततश्च—

प्रयुज्जानो मोहात्कपटमिममस्मात्स्वनुचित

नृपालो युष्माक फलमुचितमस्यानुभवतु ।

अयाथातथ्योत्यस्मिन्गुणघटनोत्तेजितमहः

शरन्य कौरन्य स भवतु शराणां मम युधि ॥ २० ॥

सरलिका—कह पुण्योवि सो एव सिद्धतो । ( कथ पुनरपि स एव-  
सिद्धान्त. । )

प्रतीहार—ततश्च निरवय इदमवोचत् । युवराज ! अतिक्रातोसि ।  
शिक्षेय किञ्चिच्छ्रयताम् ।

साक्षादसि त्व भरतस्य सूनुराद्यस्य पुंसोपि तृतीय एव ।

तन्नाहंसि त्व मनुषशक्तेतो. स्रष्टु युगस्याभिनयप्रतिष्ठाम् ॥ २१ ॥

किन्तु याद रखना चाहिये कि मेरा और छल ये दोनों किसी एक में  
सम्मानित होकर नहीं रहते ।

इसलिये—

प्रयुज्जानो—मांह से हमलोगों के विषय में इस अनुचित कपट का प्रयोग  
करता हुआ दुम्हारा राजा इस कपट के उचित फल का अनुभव करे और  
अनुचित रूप से बढ़ते हुए अग्ने गुणों की घटना से जिसका अहकार बढ़  
रहा है ऐसा वह कौरव—जयकुमार युद्ध में हमारे बाणों का लक्ष्य  
बने ॥ २० ॥

सरलिका—क्या फिर भी वह सिद्धान्त !

प्रतीहार—पश्चात् निरवय मन्त्री ने यह कहा—युवराज ! तुम बहुत  
आगे बढ़ चुके हो । कुछ यह शिक्षा सुनी जावे ।

साक्षादसि—तुम भरत के साक्षात् पुत्र हो और आद्यपुरुष—भगवान्  
ऋषभदेव के भी तृतीय हो हो इसलिये तुम मनुष्य की पताका-स्वरूप  
उन दोनों की अविन्य-प्रतिष्ठा करने के योग्य नहीं हो—ऐसा काम मत

किंच—

त्वं काशिराजस्य सुतां यदीप्सुः सुतापि तुभ्यं प्रतिपादितैका ।  
मा सैनिकास्ते कुशलायुधीतिमंस्थाः प्रभूतः कुरुकाशिवर्गः ॥२२॥ इति ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—ततश्चार्ककीर्तिः ससरंभमवोचत् । यथा आर्यं अस्त्येवैतत् ।

किं तु—

नाहं सुलोचनार्यस्मि क्षात्रो धर्मस्तु पाल्यते ।  
तातस्यापि न विद्वेपो निग्रहे कृटकारिणाम् ॥ २३ ॥

अथ च—

द्वैधीभावं भजतु सहसा संहतो राजवर्गः  
कामं वासौ पततु निखिलः शात्रवे पक्ष एव ।

कं जिये जिससे भरत चक्रवर्ती और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की  
अविनय-प्रतिष्ठा हो ॥ २१ ॥

और फिर—

त्वं काशि—तुम काशीराज की पुत्री के इच्छुक हो सो तुम्हारे लिये  
मी एक कन्या दो गई है । तुम्हारे सैनिक युद्ध में कुशल हैं ऐसा मत समझो  
क्योंकि कुरु और काशी के लोगों का वर्ग भी बहुत बड़ा है ॥ २२ ॥

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—तदनन्तर अर्ककीर्ति ने क्रोध-पूर्वक कश कि जैसा आप  
कहते हैं यह यही है । किन्तु—

नाहं—मैं सुलोचना का इच्छुक नहीं हूँ किन्तु क्षात्र धर्म का पालन  
किया जा रहा है । कपटी मनुष्यों का दमन करने में पिता जी को भी रोप  
नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

इसलिये—

द्वैधीभावं—इकट्ठा हुआ राजसमूह भले ही दां भागों में बँट जावे  
अथवा इच्छानुसार सबका सब राजसमूह शत्रु के पक्ष में ही जा मिले, इससे

किं नरिच्छन्न ननु रिपुशतोन्मायकोनाशदण्डो

सन्नद्धो मे समितिषु मुखावेव साहाय्यकाय ॥ २४ ॥

ततश्च—

जयावाप्युद्भूतप्रमदभरसंवर्धितमद

मदीय पादात् सपदि समरे परयतु भयान् ।

कुरुणां तत्सैन्यं जयविरहदैन्यप्रतिहत

जन स्वैर शोचत्यविनयफलास्वादचकितम् ॥ २५ ॥

सरलिका—अहो ककसदा सहावरत । तदो तदो । ( अहो कर्कशता स्वभाषस्य । ततस्ततः । )

प्रतीहार,—ततश्च निरवद्य. सानुशयविपादमेवमवादीत् । भिक्षुम् । लघूक्तोक्तिमिदं दुर्निनीते मामदीकुर्गता चक्रवर्तिना । यदमुना बहुभाषि शिञ्जितेन जितकाशिता केवल प्रकाशितेति । अर्ककीर्तिना पुनर्दत्तमुत्तर न केवल मे जितकाशितैव, कुरुनपि जितानेव विद्धि इति ।

मेरा क्या लखित हो गया ! ऐकड़ो शत्रुओं को नष्ट करने के लिये यम-  
दण्ड के समान मेरी दो भुजाएँ ही युद्ध में मेरी सहायता के लिये तैयार  
हैं ॥ २४ ॥

अतएव—

जयावाप्यु—आज युद्ध में शीघ्र ही मेरी सेना के समूह को जय-विजय  
की प्राप्ति से उत्पन्न हर्ष के समूह से बढ़ते हुए मद से युक्त देवों और लोग  
कुरुओं की उस सेना को जय-जयकुमार के विनाशजन्य दीनता से नष्ट तथा  
अविनय का फल स्वस्वमे से चकित स्वेच्छानुसार देखें ॥ २५ ॥

सरलिका—अहा, स्वभाव की बड़ी कर्कशता है । फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—फिर निरवद्य मन्त्री ने पश्चात्ताप और विपाद के साथ  
इस प्रकार कहा—बड़े दुःख की बात है, इस अभिमानी के साथ भेंटते हुए  
चक्रवर्ती के द्वारा मैं अपमानित किया गया हूँ क्योंकि अनेक प्रकार से  
समझाये जाने पर भी इसने केवल जितकाशिता—अहंकार ही प्रकट किया  
है । अर्ककीर्ति ने फिर उत्तर दिया कि न केवल मेरी जितकाशिता—काशी  
का जीतना है किन्तु कुरुओं को भी जीता हुआ ही समझिये ।

सरलिका—हं चक्रवर्तितण्यो एवं कुप्येदिति जं सच्चं अन्वहिदं संकेदि मे हिअं । ( हंत चक्रवर्तितनय एवं कुप्यतीति यत्सत्यमप्याहितं शंकते मे हृदयम् । )

प्रतीहारः—अलमत्र तावत् शंकया सोपि मेवेश्वर एव ।

सरलिका—ए आणामि दुव्वंचिआ अत्थं संधीकरोहुं । ( न जानामि दुव्वंचिता अत्र संधीकर्तुम् )

प्रतीहारः—इत्थं च विग्रहैकरुचौ प्रत्यवस्थिते चक्रवर्तिसुते निरवद्यः सनिर्वेदनिश्वासमुत्थाय चित्तावेगमूक एव निरगमत् ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—अहं च तूष्णीक एव निर्गच्छंतं निरवद्यमन्वयाशिपम् ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

प्रतीहारः—निर्गत्य च निरवद्येन लेखापितेनैतद्भृत्तांतेन त्वरितावेयल्ल-

सरलिका—खेद है कि चक्रवर्ती का पुत्र इस तरह कुपित हो रहा है इसीलिये मेरा हृदय किसी बड़े अनर्थ की आशङ्का करता है ।

प्रतीहार—इसमें शङ्का करना व्यर्थ है वह भी तो मेवेश्वर ही है ।

सरलिका—बुरी तरह वञ्चित हुई मैं इस विषय में संतोष करना नहीं जानती ।

प्रतीहार—इस प्रकार युद्ध में ही रुचि रखनेवाला चक्रवर्ती का पुत्र जब विरोध में खड़ा हो गया तब निरवद्य मन्त्री बड़े दुःख के साथ सांस लेकर उठा और चिन्ता के वेग से चुराचाप ही बाहर चला गया ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—मैं भी चुराचाप ही निकलते हुए निरवद्य के पीछे हो लिया ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—वहां से निकल कर निरवद्य मन्त्री ने यह सब समाचार

घनजघाल विद्याधरदूतद्वयं तत्क्षणेव चक्रवर्तिनः पार्श्वं प्रस्थापितम् । मया-  
प्यागत्य यथाकृतं सर्वमेतन्महाराज निवेदितम् ।

प्रतीहार—श्रुत्वा च महाराजः क्षणमिव स्तिमित स्थित्वा सनिर्वेदम-  
वादीत् । कष्टं भोः सकटे पतिताः स्मः ।

सरलिका—तदो तदो । ( ततस्ततः । )

सुत कुरारेकतरस्तयोर्द्वयोः परः पुरोरेव सुतस्य नदनः ।

द्विपद्भवेय कतरस्य वत्सयोर्वरं तदत्राप्रतिपत्तिरेव न ॥ २६ ॥

सरलिका—तारिखं खु तारिखारं हिअअ । ( तादृशं उल्लु तादृशानां  
हृदयम् । )

प्रतीहार—आज्ञापितम्भार्हं महाराजेन । भो महेंद्रदत्त किबहुना । दैव-  
मेवात्र स्वमनीषितमाचरतु । तदिदानीं महत्तनादत्त हेमागद ब्रूहि । निष्का-  
तेषु सग्रामाय विग्रहव्यग्रेषु राजपुत्रेषु सार्यता पुरमाणेषु दुर्गारोधप्रतिहृत्तारि-

लिपिबद्ध किया और शीघ्र ही आकाश के साँपने में समर्प्य दो विद्याधर  
दूतों को उसी क्षण चक्रवर्ती के पास भेजा । और मैंने भी आकर जो  
समाचार जैसा हुआ वह सब महाराज के लिये सूचित किया ।

सरलिका—फिर क्या हुआ ?

प्रतीहार—मुनकर महाराज पहले तो क्षणभर निश्चल बैठे रहे फिर  
बड़े दुःख के साथ कहने लगे कि अरे ! हमलोग सकट में पड़ गये ।

सुतः—उन दोनों में एक तो कुबुका पुत्र है और दूसरा भगवान्  
ऋषभदेव के पुत्र का पुत्र है । इन दोनों बच्चों में मैं किसका शत्रु यन् ?  
इसलिये इस विषय में हमारा चुप रहना ही अच्छा है ॥ २६ ॥

सरलिका—उन जैसे महापुरुषों का हृदय वैसा ही होता है ।

प्रतीहार—और महाराज ने मुझे आज्ञा दी । ओ महेंद्रदत्त ! अधिक  
क्या कहा जाय ? इस विषय में मान्य ही अपने मन की करले । इसलिये  
इस समय तुम मेरी ओर से बेटा हेमादत्त से कहो । युद्ध के लिये उतावले  
राजपुत्र जब युद्ध के लिये बाहर निकल आवें तब नगर की गलियों में दुर्ग के

प्रपंचाः पांचालिकाः । रक्ष्यतामारक्षिकैः स्थिरावस्थानानि शुल्मकस्थानानि ।  
 निखिलीक्रियतां निखिलानि पुरद्वाराणि । दुर्निमेदा व्यतिकीर्यन्तां सुदृढमर्ग-  
 लादंडाः । प्रगुणोक्रियतां गाढतरसंपट्टा अट्टालिकवंधाः । प्रवेश्यतां च  
 प्रतोलीमुखेषु विशिखांतरेषु च सन्नद्धयोधाधिष्ठितास्संनाह्या गंवहस्तिनः ।  
 अवर्त्यतां च राजमार्गेषु संरब्धाश्चवाराणि दंशितगत्राण्यश्वीयानि । स्थाप्यतां च  
 च चत्वरेषु प्रयोग्ययुग्ययोजिताश्चतुरधीसारथ्योसनाद्या रथाः । नियोज्यतां च  
 परितः परिद्वतविपत्तयः पत्तयः । परिहार्यन्तां च सुसंनद्धेनांतर्वंशिकजनेन राज-  
 गृहवाह्यालो । स्वयं च वत्सेन वाराणसीरक्षणे यावत्समरावसानं सावधानेन  
 भवितव्यमिति ।

( नेपथ्ये, कलकलः । )

सरलिका—किं दाणि एदं । ( किमिदानीनेतत् । )

बन्द हो जाने से शत्रु के प्रपञ्चों को नष्ट करनेवाले पंजाबी जवान घुमाए जावें । जिनपर स्थायी ड्यूटी दी जा रही है ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान रक्षकों के द्वारा सुरक्षित किये जावें । नगर के सब द्वार बन्द करदिये जावें । जिनका तोड़ना कठिन है ऐसे आगल मजबूती के साथ जहां तहां दिये जावें । अट्टालिकाओं को सुरक्षा के प्रचुर साधनों से युक्त कर सुरक्षित किया जावे । गलियों के अग्रद्वार तथा उनके भीतरी प्रदेशों में तैयार योद्धाओं से युक्त तैयार हाथी प्रविष्ट किये जावें । राजमार्गों में घुड़सवारों से युक्त एवं जिनके शरीर पर खुरेरा किया गया है ऐसे घोड़ों के समूह घुमाए जावें । चौराहों पर अत्यन्त बुद्धिमान् सारथियों से सहित रथ खड़े किये जावें । सब ओर विपत्ति का निराकरण करनेवाले सिपाही नियुक्त किये जावें । राजवंश के लोग अच्छी तरह सावधान रहें तथा राजमदन के बाह्य मैदान को छोड़ दें और स्वयं घेरा हेमाङ्गद को युद्ध की समाप्ति-पर्यन्त वाराणसी की रक्षा में सावधान रहना चाहिये ।

( परदे के भीतर कलकल शब्द होता है )

सरलिका—यह इस समय क्या हो रहा है !

प्रतीहारः—( विभाव्य ) कथं प्रचलितमेव समामाय राजन्यकेन ।

रूपति हि—

रसति समरमेरी भेरवारावधोरं  
चलितनृपतिसरयोद्योगशखा ध्वनति ।  
प्रसरति च चमना प्रस्तरोऽन्तरालः  
कलकलनिनदोऽयं काहलध्वानगर्भः ॥ २७ ॥

सरलिका—जाब इस उच्चत पिअसहीए सोमालिआए एिबेदेमि ।  
( यावदिम वृत्तत प्रियसखा नवमालिकाया निवेदयामि । )

प्रतीहार—यावदहमपि युवराजहेमागदाय महाराजनियोग निवेदयामि  
( परितो विलोक्य ) अहो महती समरयात्रा ।

तथाहि—

विदधति नृपतीना विश्वतोऽप्यखुवाना

प्रतीहार—( विचार कर ) क्या राजकुमार लोग युद्ध के लिये चल  
ही दिये !

इस समय—

रसति—भयंकर शब्दों के साथ रणमेरी बज रही है, चलते हुए  
राजाओं के युद्ध सम्बन्धी उद्योग को सूचित करनेवाले शत्रु शब्द कर रहे  
हैं और आकाश के अन्तराल की व्याप्त करनेवाला एवं काहल वाद्य के  
शब्द से भिला हुआ सेनाओं का यह कनकज शब्द फैल रहा है ॥ २७ ॥

सरलिका—अब तक मैं यह वृत्तान्त प्रियसखी नवमालिका के लिये  
सूचित कर दूँ ।

प्रतीहार—मैं भी युवराज हेमाङ्गद के लिये महाराज का आदेश  
बतला दूँ । ( सब ओर देखकर ) अहा, बहुत भारी युद्ध की तैयारी है ।

क्योंकि—

विदधति—इस समय निकल कर सब आर व्याप्त हावी हुई राणाओं



धरणिमनवकाशां निष्पतन्त्यो ध्वजिन्यः ।  
विदधति रणनाट्यप्रेक्षकाणां संमंताद्  
गगनमपि विमानान्यद्य वैमानिकानाम् ॥ २८ ॥

( निष्क्रांती )

मिश्रविष्कम्भः

( ततः प्रविशति आकाशयानेन विमानारूढो रत्नमाली मंदारमाला  
पार्श्वतो मन्थरकश्च )

रत्नमाली—प्रिये मंदारमाले चिरादुपस्थितमेतदतर्कितहेतुकं नः  
कौतुकम् ।

कुतः—

एको जयः प्रगुणविक्रमलब्धकीर्ति-  
मानग्रहग्रहिलधीरपरोऽर्ककीर्तिः ।

की सेनाएँ पृथिवी को अवकाश-रहित कर रही हैं और रणरूपी नाटक के  
देखनेवाले देव और विद्याधरों के विमान सब और से आकाश को भी  
अवकाश रहित कर रहे हैं ॥ २८ ॥

( दोनों निकल जाते हैं )

मिश्रविष्कम्भ

( तदनन्तर आकाशयान से विमान में बैठा रत्नमाली, मन्दारमाला  
और पास में मन्थरक प्रवेश करता है )

रत्नमाली—प्रिये मन्दारमाले ! जिसके कारणों की कोई संभावना  
नहीं को ऐसा यह कौतुक हमारे लिये चिरकाल वाद प्राप्त हुआ है ।

क्योंकि—

एको जयः—इनमें एक तो अत्यधिक पराक्रम से कीर्ति प्राप्त करनेवाला  
जयकुमार है और दूसरा मानरूपी पिशाच से आक्रान्त बुद्धिवाला अर्ककीर्ति है

तस्मात्फलितितरामनिमेपतैषा

सप्रेक्ष्य युद्धमिह कौरवपौरवीयम् ॥ २६ ॥

मन्दारमाला—देव कुदो खु खिरबज्जरज्जगिन्वहराणिगहिदसअल  
लोअविग्गे पालअतेवि भारदवरिस अण्डिहदचक्केवि चक्रवट्टिभरहे ईरि-  
साण दुव्विणोआसगमुलहाण परक्कमो राअउत्ताण । ( देव कुतः सखु निर-  
वसराअनिर्वहणनिगृहीतसकललोक्कविअहे पालयत्थपि भारतवर्षमप्रतिहत-  
चक्रेपि चक्रवर्तिभरते ईदशाना दुर्विनीतासगमुलमाना पराक्कमो राजपुनाणाम् । )

मन्थरक—कि करोदु एत्थ महाराअभरहो सहावदुव्विअत्थाण सअ वा  
देवो भारदवरिससिहामणि कैलाससेलं अहिवसतो । ( कि कगेत्तवन्न महाराज-  
भरतः स्वमाधुर्विदग्धाना स्वय वा देवो भारतवर्षशिखामणि कैलासशैल-  
मधिवसन् । )

रत्नमाली—एवमेतत् ।

वैयात्य सहज घृणां दमयितुं नैवापरैः पार्यते

भुजन् भारतवर्षमद्य स हि किं कुर्यादिमानीश्वरः ।

इसलिये यहा जयकुमार और अर्ककीर्ति के युद्ध को देखकर हमारी यह  
अनिमेपता अच्छी तरह सफल होगी ॥ २६ ॥

मन्दारमाला—हे देव ! जब कि निर्दोष राज्य के सचालन से समस्त  
लोगों के विवाद को दूर करनेवाले तथा रोक टोक रहित चक्र के स्वामी  
चक्रवर्ती भरत इस भारतवर्ष का पालन कर रहे हैं तब उद्दण्ड मनुष्यों की  
समिति से सुलभ ऐसे राजपुत्रों का पराक्रम क्यों फैल रहा है ?

मन्थरक—स्वभाव से उद्दण्ड लोगों का, महाराज भरत अथवा भारत-  
वर्ष के शिष्यामणि कैलास पर्वत पर निवास करनेवाले भगवान् श्रृपमदेव  
क्या कर सकते हैं !

रत्नमाली—ऐसी ही बात है ।

वैयात्य—मनुष्यों की सहज घृणा का दूसरों के द्वारा दमन नहीं किया  
जा सकता । इसलिये इस समय भारतवर्ष का पालन करनेवाले चक्रवर्ती  
भरत इनके प्रति क्या करें ? और देखो, समवसरण सभा में विराजमान

१० वि० की०

पश्य स्थाणुरपि श्रुतीरुपदिशन्नास्थाय दिव्यां सभां

कैलासाचलमौलिमन्त्रभगवानध्यास्त एवेश्वरः ॥ ३० ॥

मन्दारमाला—किं बहुणा आरोविदा सोहगस्व अंतिमतुलं अकंपण-  
सोवासिणी । ( किं बहुना । आरोपिता सौभाग्यस्यांतिमतुलामकंपनसुवासिनी । )

मन्थरकः—देव दक्ख दक्ख कत्थइ गिरंघसरअसमअतुरअणिअरकठोरखु-  
रपादखंडणंवाड्ढदा कत्थइ समददो सरभसचलंतविअडगुडिअगंधसिधुरणिवह-  
चलणचंगडणसमुप्पइआ । कत्थइ गिरंतरचरंतपाइचफ्फअपरिवट्ठणसमुट्ठिदा ।  
कत्थइ अविच्छिण्णगच्छंतसंदणचक्कुक्केरंडणविवड्ढिदा अधावेइ मही-  
अलवलोट्ठिदा सअलं वि दिसावलअं मज्झूलीजालोली । ( देव पश्य पश्य  
कुत्रचिन्नरंघसरयसमदतुरगनिकरकठोरखुरघातखंडनवर्धिता कुत्रचित्समंततः सर-  
भसचलद्विकटक्रूरगंधसिधुरनिवहचरणसंमर्दसमुत्पतिता कुत्रचिन्नरंतरचरत्तदा-  
तिचक्रपदपरिवर्तनसमुत्थिता, कुत्रचिदविच्छिन्नगच्छत्स्यदनचक्रोत्करकर्पणवि-  
वर्धिता अंधापयति महीतलवलोत्थिता सकलमपि दिशावलयं मध्यधूली-  
जालालिः । )

रत्नमाली—( विलोक्य ) ।

होकर श्रुतियों का उपदेश देनेवाले भगवान् आपभदेव भी यहां कैलास पर्वत  
की शिखर पर विद्यमान हैं ही ॥ ३० ॥

मन्दारमाला—अधिक क्या कहा जाय ? अकम्पन की बेटी सौभाग्य  
की अन्तिम तुला पर चढ़ी हुई है ।

मन्थरक—देव ! देखो-देखो कहीं अवकाश-रहित, वेगशाली  
अहंकारी अश्व-समूह के कठोर खुरों के घात से खुदने के कारण बढ़ी हुई,  
कही सब ओर वेग से चलते हुए विशाल एवं दुष्ट मदोन्मत्त हाथियों के  
समूह-सम्बन्धी चरणों के संमर्द से उड़ी हुई, कहीं निरन्तर चलते हुए पैदल  
सैनिकों के समूह-सम्बन्धी पैरों के परिवर्तन से उठी हुई और कहीं लगातार  
चलते हुए रथ-सम्बन्धी पहियों के समूह से खुदने के कारण वृद्धि को प्राप्त  
हुई पृथिवी तल की सेना से उठी मध्यलोक की धूलि का समूह समस्त  
दिशाओं के समूह को अन्धा कर रही है ।

रत्नमाली—( देखकर )

चमूविमर्दक्षतमूतलोत्थितो  
रजीकृतागेषदिनेशदीधिति ।

रज.प्रतान. प्रगुण प्रकाशयन् ॥ ३१ ॥ ( १ )

किंच—

ख्यातः पूर्वं जगति समरो मत्कृते मूर्त्ताना  
काचित् कन्या प्रति रणमिदं तद्यशो मे प्रमार्ष्टि ।  
इत्युद्भूतात् प्रकृतिमुत्तमात् स्त्रीषु सा यत्नवैरात्  
कापि क्षोणी, घनतमरजरञ्जना गच्छतीव ॥ ३२ ॥

मन्दारमाला—अहो को एतय अक्काकति को वा कोरवेसरो । ( अय कोनाककीर्ति, का वा कोरवेश्वरः । )

रत्नमाली—नय्यमागत सर्वमेतदिदित्वा वाराणसी प्रति प्रहितो मन्दर ।

( प्रविश्य )

चमू—सेना के सभ्य से लुटे हुए पृथिवीतल से उठा और सूर्य की समस्त किरणों को धूलिमय करता हुआ यह धूलि का समूह ( समस्त लोक में ) व्याप्त हो रहा है ।

और मी—

ख्यात—यहलें, सभार में राजाओं के जितने युद्ध हुए हैं वे सब मेरे लिये ही हुए हैं परन्तु यह युद्ध किसी कन्या को लक्ष्य कर ही रहा है अन् मेरे यश को मिटा रहा है इस तरह स्त्रियों के विषय में उत्पन्न हुए स्वभाव-सुजनम सौनिया वैर से ही मानों पृथिवी अत्यधिक धूलि के छल से कहीं रुठ कर जा रही है ॥ ३२ ॥

मन्दारमाला—अहो, इनमें अर्ककीर्ति कौन है ? और कोरवेश्वर कौन है ?

रत्नमाली—ओ, सब समाचार जान कर यह मन्दर आ गया जिसे वाराणसी मेजा था ।

( प्रवेश कर )

मन्दरः—जयतु देवः ।

रत्नमाली—अग्नि मंदरक किमधिगताखिलप्रवृत्तिरसि ।

मन्दरः—देव सर्वमेव विदित मे कर्तव्यं जनस्य ।

रत्नमाली—तेन हि शृणुमः ।

मन्दरः—देव किं बहूना ।

जित्वां कौरवमाहवे नृपसुतां हतुं प्रतिज्ञातवा-

नौद्वत्येन स पौरवः शमयितुं तस्योद्धतिं कौरवः ।

द्वैतेस्मिन् प्रशमी स काशिनृपतिः प्रोज्झन् द्वयोः पक्षतां

संप्रेक्ष्यात्मन औचितीं दुहितरं रक्षन् पुरेऽवस्थितः ॥ ३३ ॥

रत्नमाली—अहो जामातृत्वमपि कौरवेश्वरस्य नावेक्षितं माध्यस्थ्यैकरु-  
चिना काशीपतिना । अथ सर्वमन्यद्राजकं कथमवृत्तत । अथवा किमत्र  
प्रश्नेन । न खलु हातुं प्रभवन्ति चक्रवर्तिसूनोः पक्षतां सर्वेष्वुर्वाभूतः ।

मन्दर—जय हो देव की ।

रत्नमाली—अग्ने ! मन्दरक ! क्या सब समाचार जान लिये ?

मन्दर—सुभे लोगों का सभी कर्तव्य विदित हो चुका है ।

रत्नमाली—तो हम सुनते हैं ।

मन्दर—देव ! अधिक क्या कहा जाय ?

जित्वा—उस अर्ककीर्ति ने उद्दण्डता के कारण युद्ध में कौरव को  
जीतकर राजपुत्री को हरने की प्रतिज्ञा की है । और जयकुमार ने उसकी  
उद्दण्डता को शान्त करने की प्रतिज्ञा ली है । इस द्वन्द्व के समय शान्त-  
परिणामी काशीनरेश दोनों का पक्ष छोड़ अपनी योग्यता का विचार कर  
पुत्री की रक्षा करते हुए नगर में स्थित हैं ॥ ३३ ॥

रत्नमाली—आश्चर्य है कि माध्यस्थ्यभाव में रुचि रखनेवाले काशी-  
नरेश ने इस बात का भी विचार नहीं किया कि जयकुमार हमारे दामाद  
हैं । अच्छा बाकी सब राजा किस प्रकार हैं ? अथवा इसमें पूछने की क्या  
बात है ? सभी राजा चक्रवर्ती के पुत्र का पक्ष छोड़ने के लिये समर्थ नहीं  
हो सकते ।

मन्दर—एवमेतत् । किन्तु एक उज्जयिनीनिर्जयतश्चिरविरूढसौहार्दचो-  
दित कौरवस्य पक्षता प्रत्यवादि ।

रत्नमाली—बलीया हि प्रमविष्णुताया अपि सौहार्दम् ।

मन्थरकः—अथ किं पटिवक्ष्य विज्ञाहरेहि । ( अथ किं प्रतिपन्न  
विद्याधरै । )

मन्दर,—

विशा प्रभोरात्मजमर्ककीति पैतृष्वसेयं सुनमि, प्रपन्न ।

मेघप्रभोऽभूत्प्रविचित्य मातृगुणोत्तमस्य जयस्य गृह्य ॥ ३४ ॥

रत्नमाली—युक्तमेतत् । क पुनग्न्ये ।

मन्थर—

स यत्राभूद्विद्याऽरमुकुटसचट्टरूपण-

कणत्पीठोकोणस्सुनमिरधिपो राजवगिरे ।

उदीच्या भूपोपि त्वरितमथ सम्भूय सकल-

स्तदायत्तस्तत्तत्स्वयमजनि विद्याधरजन ॥ ३५ ॥

मन्दर—ऐसी ही बात है किन्तु एक उज्जयिनी के राजा जयन्त ने  
चिरकालीन मित्रता से प्रेरित होकर जयकुमार का पद लेने की घोषणा  
की है ।

रत्नमाली—सचमुच ही प्रमुखा की अपेक्षा मित्रता बलिष्ठ होती है ।

मन्थरक—अच्छा, विद्याधरों ने किसका पद स्वीकृत किया ?

मन्दर—

विशा—सुनमि, चक्रवर्ती के पुत्र अर्कनीति के पद में गया है क्योंकि  
वह उसकी बुद्धि का लङ्का है और मेघप्रभ इस बात का विचार कर कि  
जयकुमार भीसी का लङ्का है, जयकुमार के पद में गया है ॥ ३४ ॥

रत्नमाली—यह तो ठीक है और दूसरे लोग किधर रहे ?

मन्थर—

स यत्रा—विद्याधरों के मुकुट समूह की टक्कर से जिसकी पाद चौकी  
का कोना शब्द कर रहा है—ऐसा—विजयार्थ गिरि का स्वामी वह सुनमि

रत्नमाली—तदप्युपपन्नम् ।

मन्दरः—ततश्च सर्वेपि निर्वाणारस्यः समासाद्य समस्थिरां निरुत्खातिनी-  
मपंककंटकादिदूषितां युद्धभूमिं सुविभक्तकक्षपक्षोरस्थान्यनीकानि व्यूह्यामी  
समवस्थिताः । पश्यतु च देवः ।

चक्रव्यूहं विभज्यास्ते योसौ रथमधिष्ठितः ।

स चक्रवर्तिनस्सूनुरर्ककीर्तिः पराक्रमी ॥ ३६ ॥

विभज्य मकरव्यूहं योसौ स्यंदनमास्थितः ।

स कौरवो जयः कांत्या साक्षान्मकरकेतनः ॥ ३७ ॥

इतोपि—

विभज्य गरुडव्यूहमध्यास्ते सुनमी रथम् ।

मेघप्रभोऽमुं व्यूहेन दुर्जयं विजिगीषते ॥ ३८ ॥

जिस ओर हुआ उसी ओर उत्तर श्रेणी का राजा तथा उन दोनों के अधीन  
रहनेवाला समस्त विद्याधरों का समूह शीघ्र ही मिलकर स्वयं एकत्रित हो  
गया है ॥ ३५ ॥

रत्नमाली—वह भी ठीक है ।

मन्दर—तदनन्तर वाराणसी से बाहर निकल कर ये सब सम, स्थिर,  
ऊँची-नीची भूमि से रहित तथा कीचड़ और कण्टक आदि से अदूषित युद्ध-  
भूमि में जा पहुँचे और जिनमें कक्ष, पक्ष तथा छाती आदि के स्थानों का  
अच्छी तरह विभाग किया गया है ऐसे सैन्य-व्यूहों की रचना कर खड़े हो  
गये हैं । देखिये आप ।

चक्रव्यूहं—जो यह चक्रव्यूह का विभाग कर रथ पर बैठा हुआ है वह  
चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति है ॥ ३६ ॥

विभज्य—और जो यह मकर व्यूह का विभाग कर रथ पर सवार है  
वह कान्ति से साक्षात् कामदेव के समान कुरुवंशी राजा जयकुमार  
है ॥ ३७ ॥

इस ओर भी—

विभज्य—गरुड व्यूह का विभाग कर सुनमि रथ के ऊपर बैठा है और

इतोपि—

सुकैतुः प्रविभज्यास्ते व्यूह पारिपतगन्धम् ।

त व्यूहा सर्वतोभद्रं जयतो विजिगीषते ॥ ३६ ॥

मन्थरक—कह इमेहि समञ्जालवज्जतकसिकसालजअपटिसत्वसिग काहला तुरुतुरीडमरुअदिमिलडिडिममहलदुन्दुमिकरडडडहट्टुडुडुडुडुकाभेरीम-गापहुदिभूरिवज्जमडतुमुलकोलाहलबहलशिगोसणिडिग्वविअणुडिअकोऊहल-पेल्लिदेदि भडति डकिअसअलगाअयामाअपेरतो परोप्पराहि विमुक्को दुवेहि बल्लेहि सगामणाडअपुव्वरगकुसुमजलिसरणिअगे । ( कथमेताभ्यां समकाल-वाद्यमानकास्यकास्यतालजयघटाशलशृङ्गकाहलतुरुतुरीडमरुडकिमिलडिडिमम-दलदुन्दुमिकरडपटहट्टुडुडुडुडुकाभेरीमगाप्रभृति भूरिवाद्यमाडतुमुलकोलाहल-बहलजिबोपनिर्विघ्नोत्पादिनकौतूहलप्रेरिताभ्यां भटिति स्थगितसकलगगना-भोगपर्यंतः परस्पराम्बां विमुक्को द्वाभ्यां बलाभ्यां समामनाटकपूर्वरागकुसुमाज-लिशरनिकरः । )

मन्दर—देव पश्य पश्य ।

मेघमम दु ख से जीतने योग्य उस मुनमि की व्यूह के द्वारा जीतना चाहता है ॥ ३६ ॥

इस और भी—

सुकैतुः—सुकैतु पारिपतङ्गक व्यूह का विभाग कर लका हुआ है और जयन्त सर्वतोभद्र व्यूह की रचना कर उसे जीतना चाहता है ॥ ३६ ॥

मन्थरक—क्या एक साथ बजते हुए कास्य, कास्यताल, जयघटा, शल, शृङ्ग, काहल, तुर, तुरी, डमरुक, डिमिल, डिडिम, मर्दल, दुन्दुमि, करड, पटह, डुडु, कुडु, डका, मेरी और मझा आदि अनेक वादित्रों के प्रचण्ड कीलाहल के जोरदार शब्दों से निर्विघ्नपूर्वक उत्पादित कौतूहल से प्रेरित हुई इन दोनों सेनाओं ने परस्पर समामरूपी नाटक के पूर्व-ज्ञ-नामक प्रारम्भिक प्रकरण की पुष्पाञ्जलि-स्वरूप वाद्यों का समूह छोड़ ही दिया !

मन्दर—देख ! देखो देखो !



निशितधवलधारास्तिग्मरोचिर्मरीचि-

प्रतिफलितफलान्तवेगदीर्घोपलब्धाः ।

निविडमभिपतन्तस्संततोल्काकराला

गगनमनवकाशं पत्रिणश्चित्रयन्ति ॥ ४० ॥

( विलोक्य ) कथमधुना—

इपूणामन्योन्यप्रतिहतिषु लब्धप्रसूतिभिः

स्फुटज्योतिश्चक्रस्वलनविनिकीर्णोद्गुरुचिभिः ।

स्फुरन्तीभिः प्लाप्लपितशरपक्षाभिरभितः

स्फुलिगाभिव्यामस्फुटमनलवृष्टिं नटयति ॥ ४१ ॥

मन्दारमाला—कहं दाणिं सरसहस्वारिदसत्तिराससंघट्टभीषणो चलन्त-  
दोघंटघडाकरालो पञ्चटन्ततुरग्रच्छटभयंकरो श्रोवडंतसंदणसंदोहभश्राणवो  
वटटेदि रोमहस्सणो जुद्धसंमदो । ( कथमिदानीं शरसहस्वारितशक्तिराशसं-  
घट्टभीषणः चलद्विपघटाकरालः पर्यटत्तुरगच्छटाभयंकरोऽवपतत्स्यंदनसंदोह-  
भयानको वर्तते रोमहंपणो युद्धसंमदः । )

निशित—जो पैनी एव सफेद धाराओं से युक्त हैं, जिनके अग्रभाग में -  
सूर्य की किरणें प्रतिबिम्बित हो रही हैं, जो बड़े, वेग से आ जा रहे हैं, जो  
बड़ी सघनता से पड़ रहे हैं तथा जो विस्तृत उल्काओं से भयंकर दिख रहे  
हैं ऐसे वाण आकाश को अवकाश-रहित कर रहे हैं ॥ ४० ॥

( देखकर ) क्या इस समय ?

इपूणा—जिन्होंने वाणों की टक्करों में प्रसार प्राप्त किया है, जो  
प्रकाशमान ज्योतिश्चक्र के टकराने से बिलखे हुए नक्षत्रों के समान कान्ति  
से युक्त हैं, और जिन्होंने गर्मों से वाणों के पड़ जलाकर नष्ट कर दिखे हैं  
ऐसे सत्र ओर फैलते हुए तिलगों से आकाश ऐसा जान पड़ता है मानों  
स्पष्ट रूप से अग्निवर्षा का अभिन्नय ही कर रहा हो ॥ ४१ ॥

मन्दारमाला—क्या इस समय हजारों वाणों के द्वारा रोके हुए शक्ति  
और पाश नामक शस्त्रों के संघटन से भीषण, चलती हुई गजघटा से-  
विकराल, धूमते हुए घोड़ों के समूह से भयंकर और दौड़ते हुए रथसमूह से-  
युद्ध का दौर हो रहा है ?

मन्दरः—

अयमिह सुभटानां शौर्यमारोद्धटानां  
रणरसरसिकानां वर्तते वर्धते च ।

शरशतविनिपातचतुरणसर्चामिसारः

प्रचुरसमभिहारस्साप्रत सप्रहारः ॥ ४२ ॥

मन्दारमाला—अग्हो भीषणाद सराअरस । ( अग्हो भीषणता सार-  
रायस्य । )

रत्नमाली—कयमुदग्रसपेटकठोरः समाम् । तथाहि—

क्षुब्ध्याघूर्णय कुट्टय क्षिपदहन्यारथ सधानय  
भिधि चिह्नवि मथान ताडय जहि व्यावर्तधापातय ।

विद्धयास्फालय भज राघ विकिर व्याकुर्य घर्षोद्धरे-

त्येव प्रायमिहोत्तरद्वय इव व्याजायते व्योमनि ॥ ४३ ॥

मन्थरक—( अय क एष प्रखरहानसलिलनिभरदुर्दिन विंध्यशिलरस-  
मुत्तुङ्गदीर्घांग प्रतिपन्नसैन्यरुधिरद्विगुणशृङ्गारितोऽम्बुजांग मातगमारुहोऽ-  
वधीरितदुःखवेदनोऽकंकर्तिबलस्यामेधरो मवति । )

मन्दर—इधर यह इस समय पराक्रम के सार से उद्भट, रण-सम्पन्नभी-  
रस के रसिक योद्धाओं का सैकड़ा बाणों के पतन से सबलोगों के आवागमन  
को नष्ट करनेवाला अत्यधिक मारकाट से युक्त युद्ध हो रहा है ॥ ४२ ॥

मन्दारमाला—अगह, युद्ध की बड़ी भयकरता है ।

रत्नमाली—क्या युद्ध रोपपूर्ण बाणी से कर्कश है ! क्योंकि

क्षुब्ध्याघूर्णय—टुकड़े टुकड़े कर दो, धुमा दो, कूट दो, फेंक दो,  
जला दो, राख दो, मिला दो, मेद दो, छेद दो, मय दो, पीटो, मारो,  
लौटाओ, पटक दो, वेध दो, पछाड़ दो, मोड़ दो, रोक दो, बिखेर दो,  
खींच दो, घसीट दो, और ऊपर की उछाल दो । प्रायः इसी प्रकार के वचन  
यहां उचरित होते हुए आकाश में व्याप्त हो रहे हैं ॥ ४३ ॥

मन्थरक—अब यह कौन झरते हुए मदजल के निर्भर से दुर्दिन को  
प्रकट करनेवाले, विन्ध्याचल की शिलर के समान ऊँचे और लम्बे  
शरीर से युक्त तथा शत्रु-सैनिकों के रुधिर से शृङ्गार किये हुए उज्ज्वल

मन्दरः—नन्वेप स्वयंवरकलहोपदेशप्रथमोऽध्यायः कुलूतेश्वरो दुर्मर्षणोऽसौ ।

ख्यातः संख्यपटोयसां मुखपटोमुत्तिप्य दत्त्वा प्रिय-

व्याहारानधिमस्तकं करतलास्फालेन संभावयन् ।

संग्रामावसंरप्रधाननिविडश्चोतन्मदश्चोतसं

सोत्सेकोज्ज्वलितांकुशः करटिनं प्रोत्साहयत्याहवे ॥ ४४ ॥

अहो अस्य पराक्रमप्रक्रमः । यद्यनुरूपमस्य निर्वहणमपि स्यात् ।

भोः पश्य पश्य ।

चरति युधि विलोहिताननत्विपमधिरुह कुलूतभूपतिः ।

हरितमलघुसत्त्वमुन्नतं पवनजवं गजमांगरेवकम् ॥ ४५ ॥

मन्थरः—को एस जिण्णखंभदीहरपरुसमुण्डादंडसहेलाअट्टसम्महिद-

शरीर से सहित हाथी पर वेग तथा दुःखानुभव को परवाह न करता हुआ अर्ककीर्ति की सेना का अग्रसर हो रहा है ?

मन्दरः—जो, यह स्वयंवर-सम्बन्धी कलह के उपदेश का पहला अध्याय कुलूत का स्वामी दुर्मर्षण है ?

ख्यातः—जो कि रणवांकुरों में प्रसिद्ध है तथा मुख के परदा को कुछ ऊपर की ओर उठाकर प्रिय वचन देकर मस्तक पर हस्ततल के आस्फालन से सन्मानित करता हुआ युद्ध-समय के प्रधान अन्य हाथियों से युक्त चूते हुए मद को भरानेवाले हाथी को गर्व के साथ देदीप्यमान अंकुश को उभार कर युद्ध के लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ४४ ॥

इसके पराक्रम का प्रारम्भ आश्चर्यकारक है, काश, इसकी समाप्ति भी इसी के अनुरूप हो ।

अरे देखो देखो !

चरति—जिसके मुख की कान्ति लाल लाल है, जो हरे रङ्ग का है, जिसका पराक्रम बहुत भारी है, जो अतिशय ऊँचा है, और वायु के समान वेगशाली है ऐसे आद्भरेवक हाथी पर सवार होकर यह कुलूत का राजा दुर्मर्षण युद्ध में घूम रहा है ॥ ४५ ॥

मन्थरक—जीर्ण लम्बे के समान दीर्घ और कठोर शृण्डादण्ड के अनायास संचार से घोड़ों के समूह को मर्दित करनेवाले, चारों पैरों के द्वारा

सैधवनिवह चतुष्पादपीडणमद्भुतचित्रपादनक रत्नसपहजणहृत्पिदठत्थिजूर्ह  
गधगद्द आरुदो कुलदेसर अभिबुज्जदि । ( क एष जीर्णस्तंभदीर्घरूप-  
शुद्धादडसहेलार्णसमर्दितसैधवनिवहं विशालपादपीडनमर्दितपादातिक रस-  
प्रभजनारहस्तिरहस्तिरूप गधगजैद्रमासुद. कुलेश्वरमभियुध्यते । )

मन्दरः—एष खलु कौरवेश्वरशरीरनिर्विशेषो नद्यावर्तो नाम प्रियसल ।  
रत्नमाली—अहो नद्यावर्तस्य कृतहस्तता ।

तथादि ।

मूर्ध्न स्फोटयति द्विषां क्षिपणिभिलोहान् क्षिपन् गोलकान्  
कुम्भैः कृतर्ति शक्तिभिर्विंशसति प्रासैर्विपर्यस्यति ।

पर्यायेण करद्वयार्पितघनुर्विध्वक् शरान् वर्षति  
व्यूहानेष विसास्थया विघटयन् विक्रान्त्य विभ्राम्यति ॥ ४१ ॥

मन्दर—देव पश्य पश्य ।

सैनिकों को पीसनेवाले एव बेगमाली बाण से हाथियों के समूह को दूर  
हटानेवाले गन्धगाज पर बैठा हुआ यह कौन कुलूत नरेश से युद्ध कर  
रहा है ?

मन्दर—यह कौरवेश्वर के शरीर के समान उनका नन्द्यावर्त नामका  
प्रिय मित्र है ।

रत्नमाली—अहा, नन्द्यावर्त की बड़ी कुशलता है—इसका हाथ बहुत  
सधा हुआ है ।

क्योंकि—

मूर्ध्न—यह बन्दूकों के द्वारा लोहे के गोलों की फेंकता हुआ शत्रुओं  
के मस्तक फोड़ रहा है, मालों से उन्हें छेद रहा है, शक्ति नामक शस्त्रों से  
काट रहा है, प्रास नामक शस्त्रों से उलटा कर रहा है, कम कम से दोनों  
हाथों में घनुष लेकर चारों ओर बाण-वर्षा रहा है तथा व्यूहों को मुरार के  
समान विघटित करता हुआ बड़ी बोरता के साथ घूम रहा है ॥ ४६ ॥

मन्दर—देव ! देखो, देखो !

ततश्चाव्दच्छायं प्रघनचतुरं भूरि परितः

स्रवंतं स्रोतांसि प्रवलमखिलश्रान्तिसहनम् ।

असौ नद्यावर्तस्त्वरयाति कलिगोद्वमिभं

कुलूतानामीशं प्रसममभियोक्तुं प्रकुपितः ॥ ४७ ॥

मन्थरकः—कहं दूरदो एव्व रुंदावत्तकरविमुक्केण विद्धो वाणेण कुलू-  
देसरस्स दाहिणो भुग्रसिग्रो । ( कयं दूरत एव नद्यावर्तकरविमुक्तेन विद्धो  
वाणेन कुलूतेश्वरस्य दक्षिणो भुजशिखरः । )

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

रिपुशरमुखखंडिताद्भुजात् समरखरस्य कुलूतभूपतेः ।

क्षरति रुधिरपूर्णसारणी सृतिरिव वीररसस्य निस्तृता ॥ ४८ ॥

मन्थरकः—कहं अरणपेक्खिदवाणवादेण परोप्परदंतभीडणखडक्कार-  
मुहरं भडंति संघट्टिदो गेश्रो रुंदावत्तगएण । ( कथमनवेक्षितवाणवातेन  
परस्परदंतोत्पीडनकटात्कारमुखरं भट्टिति संघट्टितो गजो नद्यावर्तगजेन । )

रत्नमाली—हंत भोः ।

ततश्चाव्द—उस और कोप से युक्त नन्यावर्त, कुलूत नरेश से हठात्  
युद्ध करने के लिये मेघ के समान काले, युद्ध-निपुण, मद को भरानेवाले,  
अतिशय बलवान्, और सब प्रकार की थकावट को सहनेवाले कलिङ्ग देशज  
हाथी को शीघ्रता करा रहा है ॥ ४७ ॥

मन्थरक—क्या दूर से ही नन्यावर्त के हाथ से छोड़े हुए वाण से  
कुलूत नरेश की दक्षिण भुजा का शिखर खण्डित हो गया है ?

मन्दर—देव ! देखो, देखो,

रिपुशर—युद्ध में तीक्ष्ण कुलूत नरेश की शत्रु के वाण के अग्रभाग  
द्वारा खण्डित भुजा से रुधिर की पूर्ण बढ़ी मोटी धारा ऐसी निकल रही  
है मानो वीर रस का प्रवाह ही निकल रहा हो ॥ ४८ ॥

मन्थरक—क्या वाण के प्रहार की परवाह न करनेवाले कुलूत नरेश  
ने परस्पर दांतों की टक्कर से कटाकट शब्द करता हुआ अग्रना हाथी  
नन्यावर्त के हाथी के साथ शीघ्र ही भिड़ा दिया है ?

रत्नमाली—अरे दुःख की बात है ।

प्रहृतो यो मुखादन्तान्नद्यावर्तस्य दतिना ।

दती सीदति कौलूतं हेषयन् खर्वितापर ॥ ४९ ॥

मन्दारमाला—हृत्पि पादितो एव एषो हृत्पिसामनेन । ( हत पातित एव एष हस्तो सामनेन । )

मन्दरः—आशसोचितमेव लब्धं कौलूतेन । भूयतामस्य युयुत्सो सीत्से-  
क वच ।

अवश्य मर्तव्य कतिचिदतिषाहापि दिवसा-

नल विद्युल्लेखाविलसितविलोलेः कदसुभिः ।

प्रमूत क्रीणतु प्रयनविपणौ विक्रमपणौ-

येश स्यास्तु ज्योत्स्नागुचिरणरुचिव्यप्रमनस ॥ ५० ॥

मन्थरकः—तेन हि सुटुटु शिउऊट इमिणा र्ण उइर्ध । ( तेन हि सुटुटु निव्युद्धमनेन ननूचितम् । )

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

प्रहृतो—नद्यावर्त के हाथी ने जिसे मुख और दातों से चीट पहुँचाई है ऐसा दूसरों को पराजित करनेवाला हाथी अपने स्वामी कुलूतेश्वर को लज्जित करता हुआ दुखी हो रहा है ॥ ४९ ॥

मन्दारमाला—हाय, यह हाथी तो सामन्त के द्वारा गिरा ही दिया गया ।

मन्दर—कुलूत नरेश ने सभावना के उचित ही फल प्राप्त कर लिया । अञ्घ्रा, इस युद्धामिलापी के अहंकार पूर्ण वचन सुनो ।

अवश्य—हे रण की इच्छा से व्यग्र चिन्तितों सेमिकी । कुछ दिन दिताने के बाद भी मरना तो अवश्य ही है अतः बिजली की कौद के समान अत्यन्त चञ्चल नीच प्राणों से क्या काम होनेवाला है ? उनकी इच्छा छोड़ो और युद्धरूपी बाजार में पराक्रमरूपी पैसों से अत्यधिक, स्थायी तथा चाँदनी के समान निर्मल यश को खरीदो ॥ ५० ॥

मन्थरक—इसने योग्य बात ही कही ।

मन्दर—देव । देखो, देखो ! --

भूयिष्ठमग्नशरसंचयसततांगः

शेते करी रदनरुणधरः परासुः ।

विभ्रच्छरीरमधिकोच्छ्रितिकोप्यपूर्वः

सर्वाङ्गसंगशललः शलली यथैव ॥ ५१ ॥

मन्थरकः—अह को एस गमनजवेण सबदो संगरंगण दीसंत आजा-  
णअं तुरगरअण आरुढो करालकरवालवावढकरो अक्ककिच्चिलं लोलावेदि ।  
( अथ क एप गमनजवेन सर्वतस्संगरांगणं दृश्यमानमाजानेयं तुरगरस्तमा-  
रुढः करालकरवालव्यापृतकः अर्ककीर्तिवलं लोलापयति । )

मन्दरः—अयमपि विशारदनामा नन्द्यावर्तसमः कौरवेश्वरस्य ।

रत्नमाली—किं नाम दुष्करमनयोत्सुहृदा कौरव्येण ।

मन्दरः—

मुजाविमौ द्वौ कुरुनंदनस्य सुदुर्जयौ विक्रमसूत्रधारी ।

स्वयंगृहीताहवचेष्टिताव्यामाभ्याममुष्याह्रियते युयुत्सकाः ॥ ५२ ॥

भूयिष्ठ—अत्यधिक मात्रा में गढ़े हुए बाणों के समूह से जिसका शरीर  
व्याप्त हो रहा है तथा जिसको खींचे दृष्ट गई हैं ऐसा यह मृत हाथी  
ऐसा शयन कर रहा है मानों अधिक ऊँचे शरीर को भारण करनेवाला  
एवं सम्पूर्ण शरीर में लगे हुए शलल—कांटों से युक्त कोई अनोखा सेही  
ही हो ॥ ५१ ॥

मन्थरक—अब यह कौन गमन के वेग से रणांगण के सब ओर  
दिखाई देनेवाले उत्तम अश्वरत्न पर सवार हुआ हाथ में भयंकर तलवार  
लिये अर्ककीर्ति की सेना को चञ्चल कर रहा है ?

मन्दर—यह भी विशारद नाम का है तथा कौरवेश्वर—जयकुमार  
के लिये नन्द्यावर्त के समान है ।

रत्नमाली—इन दोनों के मित्र जयकुमार के लिये क्या कठिन है ?

मन्दर—

मुजाविमौ—पराक्रम के सूत्रधार स्वरूप ये दोनों कौरवेश्वर की अत्यन्त  
दुर्जेय भुजाएँ हैं । स्वेच्छा से युद्ध की चेष्टा को स्वीकृत करनेवाले इन दोनों  
मित्रों के द्वारा कौरवेश्वर की युद्धेच्छा हरी जा रही है ॥ ५२ ॥

रत्नमाली—अहो श्लाघनीय शौर्यनातुर्यक विशारदस्य ।

अस्य हि—

द्धिनत्ति स्वच्छद सरसकवलीच्छेदमधुना

तुरगान्मातृगान् प्रचुरमभितोषि प्रतिभटान् ।

किरन् पेशीराशास्वभिहतिरटत्कीकसतती-

नृशसो निस्त्रिशस्त्रिशयुवतीत्रासरसद ॥ ५३ ॥

मन्थरकः—अब जो एव अप्पडिहदगदपसर गवशाण्य पेशलती विषा-  
न्द अभिजुङ्गदि । ( अब क एव अप्रतिहतगतिप्रसर गवधारण प्रेरयन् विशा-  
न्दमभियुष्यते । )

मन्दरः—एव दारार्ण सकर्ण्य । पर्यतु देव ।

महामोदमद युद्धसहमादस्य पीवरम् ।

दारार्णोऽन्येति दारार्ण गज वाजिपुरोपणम् ॥ ५४ ॥

रत्नमाली—अहो, विशारद की शूरवीरता और चतुराई दोनों ही प्रशंसनीय हैं ।

अस्य हि—देवाङ्गनाओं की भयानक रस प्रदान करनेवाला इसका क्रूर कृपाण इस समय चारों ओर खड़े हुए शशुखीय पाड़ों और हाथियों का अधिक सर्या में सरस कदली वृक्ष के समान स्वतन्त्रनापूबक छेद रहा है तथा परसर की टकर से जिनका हड्डियों का समूह शब्द कर रहा है ऐसी भास की पेशियों को सब दिशाओं में फेंक रहा है ॥ ५३ ॥

मन्थरकः—अब यह कौन बेरोक आगे बढ़ते हुए मदसावी हाथी की प्रेरित करता हुआ विशारद के साथ लूट रहा है ?

मन्दरः—वह दारार्ण का राजा सकर्ण्य है । देखिये आप ।

महामोदः—जिसके मद से अत्यधिक मुगन्धि फैल रही है, जो युद्ध की सहन करनेवाला है, मोटा है तथा घोड़ों के समूह को नष्ट करनेवाला है ऐसे दारार्णदेशीय हाथी पर खार होकर यह दारार्ण का राजा सकर्ण्य सामने आ रहा है ॥ ५४ ॥



मन्थरकः—कहं दूरदो एव विसारदेण संकरिप्रसण्णगञ्जं उद्दिशिअ विमुक्तो कञ्चतजीहादीहरो पासो । ( कथं दूरत एव विशारदेन संकर्षणगज-मुद्दिश्य विमुक्तः कृतांतजिहादीर्घः प्रासः । )

मन्दरः—हंत भोः ।

मग्नेन निर्याणपथे सदंढप्रासेन भिन्नः प्रथमं प्रभिन्नः ।

प्रयाति निर्याणमसौ विनिघ्नन् दंती दशार्णाधिपतेर्भदांधः ॥ ५५ ॥

मन्थरकः—हद्धि हद्धि । ( हा धिक् हा धिक् । )

रत्नमाली—कथमुपेक्षित एव विशारदेन वाहनविकलो दाशार्णः । साधु विशारद साधु मानभगेद्वहनवैवधिकोसि ।

मन्थरकः—अथ को एस अवरो गंधगआहिरूढो तं एव विशारदं अभिजुज्जदि । ( अथ क एषः अवरो गंधगजाधिरूढस्तमेव विशारदमभियुज्यते । )

मन्दरः—एष सौराष्ट्रो भीमः ।

मन्थरक—क्या विशारद ने संकर्षण के हाथों को लक्ष्य कर दूर से ही यमराज की जिह्वा के समान दीर्घ भाला फेंका है ?

मन्दर—हाय, दुःख की बात है ।

मग्नेन—जो पहिले ही प्रमेद को प्राप्त था जिसके गण्डस्थल में पहले से ही मदस्त्राव का जिद्र था तथा श्रव ढोह के पास नेत्र के समीप गड़े हुए दण्डयुक्त भाले से जो पुनः प्रमेद को प्राप्त हुआ है ऐसा यह दशार्ण देश के राजा का मदान्ध हाथी गमनागमन को रोकता हुआ भाग रहा है ॥ ५५ ॥

मन्थरक—हाय धिक्कार हो धिक्कार हो ।

रत्नमाली—क्या विशारद ने वाहन से रहित दशार्णश्वर की उपेक्षा ही कर दी ? ठीक विशारद ठीक, तुम मान का भार धारण करने के लिये वैवधिक हो अर्थात् काँवर को धारण करनेवाले हो ।

मन्थरक—अब मदोन्मत्त हाथी पर सवार हुआ यह बूत्तरा कौन उसी विशारद से जूझ रहा है ?

मन्दर—यह सौराष्ट्र का राजा भीम है ।

मन्दारमाला—हृदि हृदि अजगरभोगभीमेषु मुडादडेण वेडिदो  
विशारदतुरगमो भीमगहदेशे । ( हा धिक् हा धिक्, अजगरभोगभीमेन  
शुडादडेन वधितो विशारदतुरगमो भीमगर्भेद्रेण ।

रत्नमाली—अहो विशारदस्य वैशारयम् ।

अमेन हि—

खड्गेन हेलोद्भ्रमितेन पद्म काढाकुरच्छेदननिर्विवधम् ।

आमूलमालूनसदतहस्तो भीमस्य हस्ती विहृतो विहस्त ॥ ५६ ॥

मन्दर—कय मुत्तकन्दनमसो परिवृत्त्य प्रपलायते । देव पश्य पश्य ।

सौराष्ट्रस्यैष सौराष्ट्र करी लघु पलायते ।

बलवानपि सप्रामे हीन शिञ्जापराहमुखः ॥ ५७ ॥

मन्थरक—अप को एसो आगच्छदि गिव चदगुअरपरिहगुरुअदत-  
गल आसिधिलमासलंग परकमककस पराबदसरिस चेदिककस गअ आरुदो  
कोरबधल अलकरेहुं । ( अथ क एय आगच्छतीव चन्दनपरपरिगुरुकदता-

मन्दारमाला—हाय धिक्कार हो धिक्कार हो, भीम के गजेन्द्र ने अज-  
गर के शरीर के समान मयकर सूड़ से विशारद के घोड़े को लपेट लिया है ।

रत्नमाली—अहा, विशारद की चतुराई देखो ।

इसके द्वारा—

खड्गेन—अनायास घुमाई हुई तलवार से जिसके दाँत और सूड़  
मृणाल की तरह जड़ से बिलकुल काट दिये गये हैं ऐसा भीम का हाथी  
बेहाय हुआ घायल हो गया है ॥ ५६ ॥

मन्दर—क्या यह चिह्लाता हुआ लौट कर भाग रहा है ! देव !  
देखो, देखो ।

सौराष्ट्रस्यैष—सौराष्ट्र देश के राजा का यह सौराष्ट्रदेशीय हाथी शीघ्र  
ही भाग रहा है सो ठीक है क्योंकि बलवान् हाने पर भी शिञ्जा से रहित  
व्यक्ति युद्ध में हीन रहता है—खरा नहीं उतरता है ॥ ५७ ॥

मन्थरक—जिसके दातरूपी आगल चन्दननगर के आगल के समान  
भारी है, जिसका परिपुष्ट शरीर लमड़ा है, जो पराक्रम से कठोर है, तथा  
११ वि० की०

गलमशिथिलमांसलांगं पराक्रमकर्कशमैरावतसदृशं चेदिकरुशं गजमारुढः  
कौरववलमलंकर्तुम् । )

मन्दरः—

असौ कुरूगामनवग्रहश्चरन्निरंमदो नाम पताकिनीपतिः ।

उदेति मेघेश्वर एष संसदं दधद् विभिदन् प्रतिपत्तभूभृतः ॥ ५८ ॥

मन्थरकः—का इमो पडिहदपटियक्खमणोरहं रभसतुलिदपत्तरहं रहं  
आरुढो इमं अभिजुज्झदि । ( क एषः प्रतिहनप्रतिपत्तमनोरथं रभसतुलितरव-  
रथं रथमारुढ इममभियुध्यति । )

मन्दरः—एष खलु बाहुवलिमनुमहावली ।

रत्नमाली—

विमतमथनक्रोधाविष्ट विशंकटकंकट-

स्थपुटघटितस्फांतोरस्कं गृहीतशरासनम् ।

शरधिपरिणद्धांसप्रांतं कृतांतभयंकरं

वपुरिदमहो श्लाघ्य वश्यां करोति जयश्रियम् ॥ ५९ ॥

ऐरावत के तमान है ऐसे चेदिदेशीय हाथी पर सवार हुआ अब यह कौन  
कौरवेश्वर की सेना को अलकृत करने के लिये आ रहा है ?

मन्दर—यह चेरोंक टोक चलने वाला कुरुओं का इरंमद नामका सेना-  
पति है । यह अभ्युदय का प्रात होने वाले जयकुमार के विषय में हर्ष को  
धारण करता है तथा शत्रुगंजाओं के खण्ड-खण्ड करता है ॥ ५८ ॥

मन्थरक—शत्रुओं के मनोरथों को नष्ट करने वाले तथा वेग से गरुड  
की तुलना करने वाले रथ पर चढ़ा हुआ यह कौन इरंमद से जुझ रहा है ?

मन्दर—यह बाहुवली का पुत्र महावली है ।

रत्नमाली—

विमत—जो शत्रुओं को नष्ट करने वाले क्रोध से युक्त है, विशाल कवच  
से जिसका चौड़ी छाता ऊँची नीची हो रही है, जिसने धनुष ले रक्खा है,  
जिसके कन्धों के समीप तरकश बंधे हुए हैं, तथा जो यमराज को भी भय  
उत्पन्न कर रहा है ऐसा इसका यह प्रशंसनीय शरीर विजयलक्ष्मी को वशी-  
भूत कर रहा है ॥ ५९ ॥

मन्दारमाला—इदि इदि । निविडपसरखिरतरओगाहिअअउव्वनट्ठि-  
अमवाउरासरिच्छाहि सद्धणो कुमारेण कोरवसेणावइस्स वारणा वाणवारा-  
घोरणीहि । ( हा धिक् हा धिक् । निविडपसरनिरतरावगाहितापूर्वयष्टियमवा-  
गुरासद्वाम्भि सद्धञ्ज कुमारेण कोरवसेनारतेवाराणो वाणवारावोग्गाम्भि । )

रत्नमाली—अहो प्रागल्भ्यमस्य करिण ।

निविडमभिपतती वाणवृष्टिं प्रताच्छन्  
सरभममुपपद्य कोधनिर्वन्धरीद्र ।

सरयितुरगसूत शङ्खयोस्त्रिप्य तूलो-

षयनिष रथमेव क्षितयान् वारणैश्च ॥ ६० ॥

मन्यरक —अहो अन्नेर एसा खु सइजति रहादो लहु पडिब विवित्तो  
घणुनहि अउठिअ सुअठिदा महावट्ठे कुमारो । ( अहो आश्चर्यमेव लहु  
सइशक्ति, ग्याल्लनु पतिता निवित्त घणुपट्टेमाअन्न सुअठिपतो महोठ्ठे  
कुमार । )

मन्दारमाज्ञा—दिट्ठि अउवदसरारो कुमारो । ( दिट्ठया अउउयार  
कुमार । )

मन्दारमाला—हाथ बिकर हा, गिरार हा, कुमार महाबली ने सयन  
समूह के साथ निरन्तर प्रवेश करने वाली अमूर्त लाठियों अथवा यमराज के  
जाश के समान बाणों की सन्तति में कौरव-मेनारति के हाथों को आच्छादित  
कर दिया है ।

रत्नमाली—अहा, इस हाथों की सामर्थ्य देखो ।

निविड—कोध के सम्बन्ध से अत्यन्त रोद्र यह हाथी सयन रूप से पड़तो  
हुई वाणवृष्टि का भेजता हुआ उठ वेग से आगे बढ़ा और आगे बढ़ कर  
इसने रथ के मालिक, घाटे तथा सारथि के सहित रथ को कई के ढेर के  
समान सड़ से उठा कर दूर फेंक दिया ॥ ६० ॥

मन्यरक—अहा आश्चर्य है कि शक्ति के सहित यह कुमार यौन ही  
रथ में दूढ़ कर अकेला ही घणुपट्टे का पकड़ कर धृष्टिकी पर लड़ा हो  
गया है ।

मन्दारमाला—सीमाग्न से कुमार अक्षय शरीर है—इसके शरीर में  
कोई चोट नहीं आई ।

मन्दरः—कथमिरमदद्विरदेनापि सर्वाङ्गसंगिसायकप्रोतशरीरः प्रहारमूर्च्छितः प्रसार्य पूर्वकायं भूमौ निपण्णः ।

मन्थरकः—कहं इमो बुदिण्णरत्तचंदणथासअभूसिदंगो ओदिण्णो खंदादो सिंधुरस्स । ( कथमेप उदीर्णरत्तचंदनस्थासकभूपितांगोऽवतीर्णः स्कंधात् सिंधुरस्य । )

रत्नमाली—द्वयोरपि वाहनभंग इति कृतमेतत् ।

मन्दरः—

सप्तच्छदामोदसखं मदांभः-

शिलीमुखाः काममपुः परासोः ।

तानद्य निर्घाट्य कटांतलग्नान्

शिलीमुखास्तीक्ष्णमुखाः पिवन्ति ॥ ६१ ॥

रत्नमाली—अथ कावेतौ प्रजविवाजिपृष्ठाधिरूढौ समरसंमर्ददुर्दमौ परस्परं युंजाते सवयस्कौ राजकुमारौ ।

मन्दर—क्या समस्त शरीर में गड़े हुए बाणों से जिसका शरीर व्याप्त हो रहा है ऐसा यह इरमद का हाथी भी प्रहार से मूर्च्छित हो शरीर के पूर्व-भाग को फैला कर पृथिवी पर पड़ा हुआ है ?

मन्थरक—क्या दिये हुए लाल चन्दन के तिलक से जिसका शरीर सुशोभित हो रहा है ऐसा यह इरमद के हाथी के कन्धे से नीचे उतर आया है ?

रत्नमाली—दोनों की सवारी भङ्ग हुई यह बराबरी रही ।

मन्दर—

सप्तच्छदा—इस मृत हाथी के सप्तपर्ण के समान सुगन्धित मदजल का शिलीमुख—भ्रमरों ने पहले अच्छी-तरह पान किया था अब गण्डस्थल के समीप लगे हुए उन शिलीमुखों—भ्रमरों को दूर हटा कर पाने मुखवाले शिलीमुख—बाण उस मदजल का पान कर रहे हैं ॥ ६१ ॥

रत्नमाली—वेगशाली घोड़े की पोठ पर बैठे तथा युद्ध-सम्बन्धी मार-काट से अजेय, समान अवस्था वाले ये कौन दो राजकुमार परस्पर भिड़ रहे हैं ?

मन्दर.—देव ।

अर्ककीर्त्यवरजस्तुरगस्थ- स्वैर्यशौयसदृश तुरगस्थम् ।

सजयतमजितजय पन कौरवानुजमसावभियुङ्क्ते ॥ ६२ ॥

रत्नमाली—न परस्पर हीयेते रणकर्मणि कुमारौ ।

मन्दर.—देव इत पश्यतामन्यदाश्चर्यम् ।

अन्योन्याधातभग्नस्विररदनमुखौ ससजत्पूर्वकाया-

वष्टभस्तब्धवेगी समतुलितबलौ यन्त्रणासकृहस्तौ ।

मर्माविच्छिन्नवक्त्रक्षतिमयित्तनू प्राप्य विक्रातिकाष्ठा-

मुक्तावी दतिनौ द्वौ कथमनिपतिवौ तिष्ठतोऽन्तमुद्वृतम् ॥ ६३ ॥

इत पश्य ।

मर्मसु हता अपि शूरा प्रायोऽपगमनमनिच्छवः केचित् ।

धीरा स्वर्गं धीरा प्रापन् प्रायोपगमनेन ॥ ६४ ॥

मन्दर—देव ।

अर्क—यह घोड़े पर बैठा अर्ककीर्ति का छोटा भाई अजितजय, दृढ़ता और शूरता में अपनी तुलना करने वाले घोड़े पर बैठे कौरवैश्वर-जयकुमार के छोटे भाई सजयन्त से भिड़ रहा है ॥ ६२ ॥

रत्नमाली—दोनों कुमार रणकौशल में एक दूसरे से कम नहीं हैं ।

मन्दर—देव । इधर यह दूसरा आश्चर्य देखिये ।

अन्योन्या—परस्पर के प्रहार से जिनके मजबूत दांत और मुख भग्न हो गये हैं, परस्पर मिलते हुए मस्तक के आश्रय से जिनका वेग रुक गया है, जिनका बल एक बराबर है, जिनकी एक सूँझें दूसरे को पीड़ा पहुँचाने में सलग्न हैं, मर्मवेधी शस्त्रों के अप्रमाण के प्रहार से जिनके शरीर घायल हो रहे हैं और आ पराक्रम की चरम सीमा को प्राप्त कर शूरता दिखला रहे हैं ऐसे दो हाथी अन्तर्मुद्वृत तक किसी तरह बिना पड़े खड़े हैं ॥ ६३ ॥

इधर देखो,

मर्मसु—मर्म-स्थानों में ताड़ित होने पर भी प्रायः अपगमन—पलायन की इच्छा न रखने वाले कितने ही धीर वीर शूर अनुप्रायः प्रायोपगमन सन्यास मरण के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं ॥ ६४ ॥

मन्दारमाला—हरडे मंदरअ ! गिरंतरूपइअखुरप्पकडप्पप्रसप्पगुत्तण-  
हस्थलदुप्पेक्खो अप्पडिरदरअ अहिरहं अहिरोहिअ अक्ककित्तवलं चमक्करंतो  
कि एस कुमारजअतो । ( सखे मंदरक निरंतरोत्पतितत्तुरप्रसमूहप्रसर्पट्टुव्यन्नभः  
स्थलदुःप्रेक्ष्योऽप्रतिहतरमाधरयमविरुह्यार्ककीर्तिवलं चमत्कुर्वन् किमेव कुमार-  
जयंतः ।

मन्दरः—एवम् ।

अवेहि सैन्यं द्विपतां जयंतममुं मघोनस्तनयं जयंतम् ।

न व्यज्यते यस्य जवादिपूणामाधानसंधानविमोक्षकालः ॥ ६५ ॥

रत्नमाली—अहो उग्रता समरक्रमंयुग्रकुलकुमारस्य ।

मन्थरकः—कि एस अण्हिट्टदप्पट्टाविदवाणतटसंघट्टखंडिदवइरित्तरा-  
सारो तिहुअण्णेक्कल्लरहिअो इमं अभिजुज्जंतो कुमारसुकेदू । ( किमेपोऽनिष्ठित-  
प्रत्यापितवाणाग्रसंघट्टखंडितवैरिशरासारस्त्रिभुवनैकरथिकः इममभियुध्यन्  
कुमारसुकेतुः । )

मन्दारमाला—मित्र मन्दरक ! निरन्तर ऊपर की ओर पड़ते हुए  
बाणों के समूह से व्याप्त आकाश के कारण जिसका देखना भी कठिन हो  
रहा है ऐसा अखण्डवेगशाली रथ पर चढ़कर अर्ककीर्ति की सेना को चकमा  
देता हुआ क्या यह कुमार जयन्त है ?

मन्दरः—ऐसी ही बात है ।

अवेहि—इसे तुम शत्रुओं की सेना को जीतने वाला मघवा का पुत्र  
जयन्त जानो । वह जयन्त कि वेग के कारण जिसके बाणों के रखने मिलाने  
और छोड़ने का काल प्रकट नहीं होता है ॥ ६५ ॥

रत्नमाली—अहा, उग्रवंश के कुमार जयन्त के युद्धकार्य में बड़ी  
तीक्ष्णता है ।

मन्थरक—क्या यह इससे युद्ध करता हुआ, समाप्त न होनेवाले छोड़े  
हुए बाणों के अग्रभाग के संघट्टन से शत्रुओं की बाणवर्षा को खण्डित  
करनेवाला त्रिभुवन का अद्वितीय रथी कुमार सुकेतु है ?

मन्दरः—

अवेहि विद्वेपिभयैकहेतुमम् मुनेतु हरिवशहेतुम् ।  
द्विपाकरोत्याशु विलक्ष्यता य शरै शितानामपि तच्छराणाम् ॥ ६६ ॥

रत्नमाली—मन्ये नाम् परस्परस्य जेतु प्रमत्त ।

मन्दर—इतो दृशना छुनगुल बेधाघर युद्धम् । एष खलु लोहार्गला-  
धिपतिरनर्गलचोद्यमानवातप्रमोप्रतममहाज्वतुरगमोह्यमानमधिरुद्ध स्यदनम-  
भिप्रेषयनि विद्याधराधिराजमधिरथ मुनमिम् ।

मन्दारमाला—वह एकदो सबानि विज्जाहरलोथो एहदो अ एकनो  
मेहप्यहो । हदि हदि कि एतय हादि । ( कयमेकनस्सवोदि विद्याधरलोक  
एकतइचैको मेप्रमः । हा बिक् हा बिक् किमत्र भविष्यति । )

मन्थरक—कर समसधानमुच्चनहेदिशुवहक्वालेदसन्नदिसादको  
विमुक्किलकिनासहनहुर भक्तिवद्दरिद रिज्जाहरण बज हिम्रदश्रतो एभि-  
णदण एव अहिलुइदि मेहप्यहो । ( कय समसधानमुच्चमानहेतिनिवहक्व-  
लितसकनदिशाचको विमुक्किलकिनाशब्दमधुरं भटित्पवतीर्य विद्याधराणा  
बल हिण्डयन् नमिनदनमेवामियुध्यति नेप्रम । )

मन्दरः—

अवेहि—इसे तुम शत्रुओं के भय का एक कारण, हरिवश की पताका  
स्वरूप मुकेतु जानो । वह मुकेतु जो कि अपने बाणों के द्वारा शीघ्र ही  
शत्रुओं के पैने बाणों को भी लक्ष्य से अग्र कर देता है ।

रत्नमाली—मैं तो मानती हूँ कि ये दोनों परस्पर एक दूसरे को जीतने  
में समर्थ नहीं हैं ।

मन्दर—इधर विद्याधरों का छुनपूर्ण युद्ध देखिये । यह लोहार्गल का  
राजा निरन्तर प्रेर्यमाण वातप्रमो—मृग के समान महावेगशाली घोड़ों से  
सींचे जानेवाले रथ पर सवार हो रथ पर आरुढ़ विद्याधराधिराज मुनमि के  
सन्मुख सेना के साथ आक्रमण कर रहा है ॥

मन्दारमाला—क्या एक ओर सभी विद्याधर लोग और एक ओर  
अकेला मेघप्रम । हाय बिकार हो, हाय बिकार हो, यहा क्या होगा ?

मन्थरक—क्या रखते ही साथ छोड़े हुए बाणों के सन्ध से दशों  
दिशाओं के समूह को व्याप्त करनेवाला मेघप्रम, छोड़े हुए किलकिला शब्द



रत्नमाली—अहो स्थैर्यं वीरव्रतचर्यायां मेघप्रभस्य ।

मन्दरः—किमुच्यते ।

चरत्यमुष्मिन् बलशौर्यविक्रमेन राजते कश्चन राजते गिरौ ।

हरो करीन्द्रक्षतजांबुधूपणप्रयुद्धगृध्नावपरे यथा मृगाः ॥ ६७ ॥

मन्दारमाला—हृदि हृदि । अणारदणिसरंदवाणधारापूरंददिट्ठग्हेहिं पग्परणिरंघसंदट्ठेहिं महारहाहिट्ठदेहिं रहसहस्सेहिं सव्वदिसाअक्कं वेट्ठिअो सम एव्वणमिणंदणो । ण आणे किं एत्थ होहिइ । (हा धिक् हा धिक् । अना-रतनिस्सरद्वाणधारापूर्यमाणदृष्टिपथैः परस्परनीरन्ध्रसंदष्टैर्महारथाधिष्ठितैः रथ-सहस्रैः सर्वदिशाचक्रं घेष्टितो सगमेव नमिनंदनो । न जाने किमत्र भविष्यति ।)

रत्नमाली—प्रिये नैतद्रथसहस्रं मेघप्रभस्यैवायमघरितालातचक्रभ्रमस्य स्यदनस्य स्यंदः ।

मन्दारमाला—अग्हे अच्छेरं जं कहिदं पि ण विस्ससंति लोअणाइ ।

से मनोहर शीघ्र ही उतरे हुए विद्याधरो के सैन्य को खदेड़ता हुआ नमि के पुत्र के साथ युद्ध कर रहा है ।

रत्नमाली—अहा, मेघप्रभ की वीरव्रतचर्या—युद्ध में बड़ी दृढ़ता है ।

मन्दर—क्या कहा जावे ?

चरत्य—गजराज के रुधिर रूपी जल के चूसने से जिसकी लालसा बढ़ रही है ऐसे सिंह के विचरण करने पर जिस प्रकार मृग शोभा नहीं पाते उसी प्रकार विजयार्थ पर्वत पर बल, शौर्य और विक्रम के साथ इस राजा के विचरण करने पर कोई दूसरा राजा शोभा नहीं देता ॥ ६७ ॥

मन्दारमाला—हाय, हाय, निरन्तर निकलते हुए बाणों की धारा से जिन्होंने दृष्टिपथ को पूर्ण कर दिया है, जो परस्पर सघनरूप से घिसघिस कर चल रहे हैं तथा जिनपर महारथी योद्धा बैठे हुए हैं ऐसे हजारों रथों ने नमि के पुत्र को एक साथ सब ओर से घेर लिया है । नहीं जानती कि यहां क्या होगा ?

रत्नमाली—प्रिये ! यह हजार रथ नहीं हैं किन्तु अलातचक्र के भ्रमण को तिरस्कृत करनेवाले मेघप्रभीय रथ का ही यह संचार है ।

मन्दारमाला—अहा बड़ा आश्चर्य है कि नेत्र इस कही हुई बात पर

( अहो आश्चर्यं यन् कथितमपि न विश्वसतः लोचने । )

मन्दरः—अरे किं एद विश्वसत्तदापिच्छुगुच्छसपहो पकराजजबूकलश्यामलो फलसामलो नीलकठकठप्पहाकपुरो अआलोपट्टिडबहुलपकलदोसाकसयो अजणधूलीपुजसच्छओ राहुबिंसहस्ससपादमीसयो तमिस्सगुहातिमिहगार-गहोरो सत्तमपाआलोदरदुरालोओ पसप्पइ गअणअण अतदो एव्व शुमिण-दणस्स । ( अरे किमेतत् विकसत्तापिच्छुगुच्छसप्रम पकराजजबूकलश्यामलः नीलकठकठप्रमाकर्षुरः अकालोपस्थिनबहुलपक्षदापाकृष्णः अजनधूलीपुञ्ज-सदृशः राहुबिंसदक्षसगतमीपण तमिस्रागुहातिमिरोद्याग्मभीरः सतमपाता-लोदरदुरालोक प्रसर्पति गगनागच्छ अतत एव नमिनदनस्य । )

मन्दारमाला—( समय ) हद्दि हद्दि । किं येद । ( हा थिक् हा थिक् । किं नु पतत् । )

मन्दरः—अहो आश्चर्यम् ।

दृश्यते कथलयन्निव क्षणाद् विश्वमेव सचराचर जगन् ।

अधकारनिकर समुत्पतन्निद्रनीलमणिमेचकच्छविः ॥ ६८ ॥

मो विश्वास नहीं करते ।

मन्थरक—अरे यह क्या मिले हुए तापिच्छ पुष्पो के गुच्छक के समान पके हुए जामुनों के समान श्याम, मयूरग्रीवा की प्रभा के समान चित-करा, असमय में उदस्थित कृष्णपक्ष की रात्रि के समान काला, अश्वन-धूलि की राशि के समान, हजारों राहुओं के आक्रमण के समान मथकर और तमिस्रागुहा के अन्धकार के उद्गार के समान गभीर, सतम नरक का मध्यवर्ती अन्धकार नमिपुत्र के समीप ही आकाशरूपी आगन में फैल रहा है ।

मन्दारमाला—( भयसहित ) हाय हाय, यह क्या है ?

मन्दर—अहा, बड़े आश्चर्य की बात है ।

दृश्यते—इन्द्रनीलमणि के समान काली कान्ति वाला उठना हुआ यह अन्धकार का समूह ऐसा दिखाई देता है मानो चर-अचर वस्तुओं के सहित समस्त ससार को क्षण भर में निगले जा रहा हो ॥ ६८ ॥

रत्नमालो—( विभाव्य ) देवि तामसमलमासूत्रितं सुनमिना ।

अथ हि—

क्षणेन मूर्च्छामिव तामसास्त्रं प्रयच्छतीदं प्रसभं जनस्य ।

तमःप्रभावस्तिमितावकाशमाकाशमाशाविनिवेशशून्यम् ॥ ६६ ॥

मन्थरकः—हु किं रोद जुग्रंतआलजलहरणिवह्वरिसज्जंतजलणजा-  
लोलिकरालो धगधगंतघोलिरुज्जलजालाजालजडिलजंतगअणपेरंतो एक्क-  
लोअं दसदिसाअवकं दंसअंतो सव्वंपि दिट्ठिवहं ओवाहेदि साहाणाहो ।  
( हतं किमेतत् युगांवकालजलधरनिवहवर्ष्यमाणज्जलनज्वालावलीकगालो  
धगधगुद्धूर्णनोज्ज्वलज्वालाजालजडिलितगगनपर्यंतः एकलोकमिव दशदिशा-  
चक्रं दर्शयन् सर्वमपि दृष्टिपथमतिवाहयति स्वाहानाथः । )

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

जनस्याक्ष्णां तीक्ष्णं तिमिरमिव संरोधि तिमिरं

प्रमार्जन्तूर्जस्वी प्रभृत इव सार्जेन रजसा ।

रत्नमाली—( विचार कर ) देवि ! सुनमि ने तामस अस्त्र चलाया है ।

इस समय

क्षणेनि—यह तामस अस्त्र मनुष्यों को ज्वरदंती क्षणभर में मानों  
मूर्च्छा प्रदान कर रहा है तथा इस समय आकाश, अन्धकार के प्रभाव से  
संकीर्ण एवं दिशाओं के विभाग से शून्य हो गया है ॥ ६६ ॥

मन्थरक—हाय, क्या यह प्रलयकाल-सम्बन्धी मेघ-समूह के द्वारा  
वरसायी जानेवाली अग्नि-ज्वालाओं के समूह से भयंकर, धक-धक शब्द के  
साथ निकलती हुई ज्वालाओं के समूह से आकाश के छोर को व्याप्त करने-  
वाली तथा दशों-दिशाओं के समूह को एक लोक की तरह दिखाने वाली  
अग्नि दृष्टिपथ को उल्लंघित कर रही है ?

मन्दर—देव ! देखो, देखो !

जनस्या—जो मनुष्यों के नेत्रों को रोकनेवाले प्रगाढ़ तिमिर रोग के  
समान अन्धकार को साफ कर रहा है, सागौन वृक्ष के बुरादे से भरे हुए के  
समान अतिशय बलवान है और फैलती हुई सैकड़ों ज्वालाओं से जिन्होंने  
आकाश की सीमा को व्याप्त-ग्रस्त कर रक्खा है ऐसा यह आग्नेय वाण,

समुत्सर्पज्वालाशतकवलितन्योमपरिवि-

र्विना काष्ठाभेद पतति शर एतानधिरुहन् ॥ ७० ॥

रत्नमाली—निर्मुक्तमाग्नेयमस्त्र मेघप्रमेय ।

अत्र हि ।

जनयत्यनेकपाना पाकल इव पावक. पर दयधुम ।

सूकल इय दुष्टहय सर्वोस्माद्विभ्यदुद्धमति ॥ ७१ ॥

मन्थरक.—दन्त देव कत्यइ चलपद्माश्रावनिवीजिओ हस्तिदग्धजाला-  
जालआपुदितओ कत्यइ करिकण्ठआलचालगुत्ताविओ घोलकुलिभाभ्रानिगिओ  
कत्यइ चलतजालासिहुडुमारो कत्यइ बलतधूमग्गमधगिओ करितुरअरहिमगु-  
अग्निवहविदावणो दहइ दहणो इयो पोरवाण बल । ( पश्य देव कुत्रचिच्च-  
लपताकावलीबीजित. हस्तिदग्धज्वालाजालपुजित कुत्रचित् करिकण्ठाल-  
चालनोत्थापित धूर्णमानस्फुलिंगकानिगित कुत्रचिच्चलज्वालाशित्वोडुमारः  
कुत्रचित् बलधूमोद्गमावकारितः करितुरगरधिमनुजनिवहविद्रायण दहति  
दहन् अथ पोरवाणा बलम् । )

इन सब पर आरुढ़ होता हुआ बिना किसी दिशामेद के एक साथ पड़ रहे हैं ॥ ७० ॥

रत्नमाली—मेघप्रम ने आग्नेय बाण को छोड़ा है ।

इस अस्त्र में

जनयत्य—अग्नि, पाकल-हाथियों के ज्वर के समान हाथियों को बहुत भारी दाह उत्पन्न कर रहा है और सभी दुष्ट घोड़े सूकल नामक घोड़ों के रोग विशेष से मुक्त हुए के समान इससे भयभीत होते हुए उद्भ्रान्त हो रहे हैं ॥ ७१ ॥

मन्थरक—देव ! देखा, जो कहीं चञ्चल पताकाओं की पक्ति से दबा किये जाने के कारण हाथियों के समान बड़ी मोटी ज्वालाओं के समूह से युक्त है, जो कहीं हाथियों के कानों की फटकार के कारण उड़ते हुए तिलगों से आलिङ्गित है, जो कहीं लपलपाती हुई ज्वालाओं के अग्रभाग से मयकर है, और जो कहीं उठते हुए धुएँ की उत्पत्ति से अन्धकारयुक्त है ऐसा हाथी

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

उप्लुप्यन्नलकास्थिनालविगलन्मज्जाद्रवोद्रेचित-

ज्वालाजालजटाललोलदनलव्यासंगपीडांगकाः ।

प्लोपोत्पिडितकन्धराविलुठनाकाण्डस्फुटोत्थापिताः

सन्त्रासं पिशिताशिनां च विदधत्यद्वा कवधा अमी ॥ ७२ ॥

रत्नमाली—अहो विश्वमश्नाति वैश्वानरः । एष हि ।

धूमैः श्यामलयन् प्रलिप्य गगनं निष्ठापयन्नातपं

ज्वालासंततिभिर्नवान् विरचयन् धूम्याभिरंभोधरान् ।

उत्पातोपगतोपरागबहलव्यादेहसंदेहदः

सप्ताचिः कवलीकराति विलिहन् विवं सहस्राचिपः ॥ ७३ ॥

मन्दरः—

मेघप्रभस्यैव जय ब्रवीति धूमध्वजः पौरवसैन्यघाती ।

नमैः सुतस्यापि पराजयाय पतन् ध्वजस्योपरि धूम एषः ॥ ७४ ॥

घोड़ा, रथी और मनुष्यों के समूह को खदेड़ता हुआ यह अग्नि पौरवों  
अर्ककीर्ति के पक्ष के लोगों की सेना को जला रहा है ।

मन्दर—देव ! देखो देखो ।

जलते हुये नलकास्थि की नाली से बहती हुई मज्जा द्रव से बड़ी हुई ज्वाला  
के समूह से भयङ्कर लपटो वाली अग्नि से जिनके अङ्ग जल रहे हैं । और  
जलने से पिण्डाकार कन्धराओं के हो जाने से अनवरत में ही उठाने हुये  
कवच मांसाशियों ( जीवों ) को निश्चय त्रास पहुँचा रहे हैं ॥ ७२ ॥

रत्नमाली—अहा, यह अग्नि तो सबको खा रही है ।

धूमैः—जो धुएँ से लित कर आकाश को श्याम कर रही है, घाम को  
समाप्त कर रही है, धुएँ से युक्त ज्वालाओं के समूह से नये-नये मेघों को रच  
रही है, और जो उत्पात के लिये उपस्थित उपराग ( दिशाओं में अत्यधिक  
लाली छा जाना ) के अत्यधिक विस्तार का संदेह उत्पन्न कर रही है ऐसी  
यह अग्नि सूर्य के विम्ब को चाटती हुई अस्त कर रही है ॥ ७३ ॥

मन्दर—

मेघप्रभस्यैव—इधर अर्ककीर्ति की सेना का घात करती हुई यह

रत्नमाली—कयमकांडवृष्टया विभाष्यते सहसा विभावसु । नूनमुत्सृष्टं  
वाक्यमस्य नमिसूनुना ।

मन्दारमाला—असौ अच्छेरं । ( अहो आश्चर्यं । )

रत्नमाली—

प्रावृट् प्रवर्तयति चारुचलत्लापा-

नुच्चैस्त्रिषानवितरां शिक्षिन. सुखाट्टान् ।

निर्मूलनिर्दलितधूमशिखाकलापः

प्रावृट्यय । त्वह् शिक्षी प्रलय प्रयात ॥ ७८ ॥

मन्थरकः—कह एस रूपदंडवलसलिललट्टिसहसससहृदयिस्तेसजलशि-  
हिषिपद्वयाम्बुदो पजलतलवूणदयोरभामुरविन्दुलिजालजटिलो कञ्जनीमसिक-  
सणसजलजलहरशिबहभरिबजतसिद्धपहदतो सतदुखरतयणिदशिग्योसमीसणो-  
वज्जनडणमूढिदविअडमहीहरसिहरपम्मारो खिम्मकम्मतभग्गुलीमण्यरहसभाव-  
णिजसतमसो पवसतमिदुणहिअअविदारणकरपत्तो पउत्तो वारिसारत्तो । ( कथ-  
मेप रौप्यदंडवलसलिलयट्टिसहससशयितनिश्रोपजलनिधिनितनाद्भुत प्रवृ-  
लजावूनदरथूलभामुरविदुयुजालजटिल. कजलमपिकुण्णसजलजलवरनिवहभि-  
पमाणसिद्धपथप्पात, सततोखरस्तनितनिर्घोषमीपखो वज्रतनमोदितविकटम-

अग्नि मेघप्रभ की जय को कह रही है और उधर स्वजा के ऊपर पड़ता हुआ  
यह धुवां नमिसुत की पराजय के लिये हो रहा है ॥ ७४ ॥

रत्नमाली—क्या असमय की वृष्टि के द्वारा अग्नि अकरमात् बुझाई  
जा रही है । जान पड़ता है नमिपुत्र ने वाक्य अस्त्र छोड़ा है ।

मन्दारमाला—अहा, आश्चर्य है !

रत्नमाली—

प्रावृट्—अन्य वर्षा श्रुत, जिनकी सुन्दर पंखु हिल रही है, जिनकी  
कनगी ऊपर की ओर उठी हुई है तथा जो मुख से आर्द्र हैं ऐसे शिखी—  
मयूरी को चलाती है—प्रकट करती है परन्तु इस वर्षा श्रुत में त्रिषका धुआ  
रुन शिखाओ—कसंगियों का समूह अद्व सहित नष्ट हो चुका है ऐसा यह  
शिखी—अग्नि प्रलय की प्राप्ति हो रही है ॥ ७५ ॥

मन्थरक—क्या यह वह बरसात आ गई है जो चांदी के दण्ड के

हीधरशिखरप्राग्भारो निर्भरोद्भ्रांताभिसारिकामनोरथसंभाव्यमानसंतमसः प्रव-  
सन्मिथुनहृदयविदारणकरपत्रः प्रवृत्तः वर्षरात्रः । )

रत्नमाली—

नभसोऽयं कालत्वं रचयति वहलो बलाहकव्यूहः ।

जरठशिखिकंठकालः कालीमपि करोति नभ एव ॥ ७६ ॥

अपि च ।

सौदामिन्य इमा विभांति शिखिनः पूर्वं निगीर्णांशिखा

रोमंथायितुमिच्छया सुहुरथोद्गीर्णा इवांभोधरैः ।

किंचांतः कवलीकृतो जलधरैर्वैश्वानरो दुर्जर-

स्तत्क्रोडानि विपाट्य बाढमशनिच्छद्या विनिर्गच्छति ॥ ७७ ॥

समान सफेद हजारों जलधाराओं से समस्त समुद्र के आ पड़ने का संशय उत्पन्न होने से आश्चर्यपूर्ण है, तपाये हुए सुवर्ण के समान मोटी देदीप्यमान विजलियों के समूह से व्याप्त है, काजल और स्याही के समान काले सजल मेघों के समूह में जिसमें आकाश में अन्धकार भरा जा रहा है, जो निरन्तर प्रकट होनेवाला मेघ-गर्जना में भयंकर है, वज्रगत के कारण जिसमें बड़े बड़े पर्वतों के शिखरों के अग्रभाग टूट टूट कर गिर रहे हैं, जिसमें अन्यधिक मात्रा में घूमने वाली अभिसारिकाओं—व्यभिचारिणी स्त्रियों के मनसूयों ने सघन अन्धकार को आदर प्राप्त हो रहा है तथा जो प्रवासां को पुरखों के हृदय को विदारण करने के लिये कर्षित के समान है ।

रत्नमाली—

नभसोऽयं—बृद्ध मयूर के कण्ठ के समान कृष्णवर्ण यह अत्यधिक मेघों का समूह आकाश को काला कर रहा है या आकाश हा काला—  
वनधटा को भी उत्पन्न कर रहा है ॥ ७६ ॥

और भी

सौदामिन्य—वे विजलियां ऐसी जान पड़ती हैं मानो मेघों के द्वारा पहले निगली हुई अग्नि की वे शिखाएं-ज्वालाएं हैं जिन्हें वे रोमन्थ की इच्छा से बार बार बाहर निकालते हैं । और मेघों ने पहले तो अग्नि को

मन्दरः—कथं प्रावृषमप्यतिशेते वानरदिहितसृष्टिरियं वृष्टिः ।

अथ हि—

निर्यत्कुरगनिकुरम्बकगणितानि ।

क्षुम्बन्ति सप्रति रुदवरुदवक्रानि ।

कादविनीनिविडनिष्पतद्वनूपुराः

फूलकपोभिभरिताः सरितः सरत्यः ॥ ७८ ॥

रत्नमाली—कथम् ।

रत्याड्धरसाध्मणस्सपुलक निमग्नवक्त्रेण्यमी ।

यूनः साध्मसु कामिनीस्तनतटेऽप्यासज्जयतः सदा ।

व्योम्न सोमसु केतकीसुमनसामन्ध्याः परागच्छटा

क्षुण्ण्यत्प्रोषितधैर्यभस्मवधला प्रोग्मति क्षमत्मानवाः ॥ ७९ ॥

खा लिया परन्तु वह हजम नहीं हो सकी इसलिये वज्र के बहाने उन मेघों के मध्यभाग को काटकर अग्नी तरङ्ग बाहर निकल रही हैं ॥ ७७ ॥

मन्दर—समस्त सृष्टि को अग्ने भीतर कग्नेशाली यह वृष्टि क्या वर्षा श्रुत को भी मातकर रही है ?

क्योंकि इस समय—

निर्यत्कुरङ्ग—लोग निकलते हुए काटों के समूह से व्याप्त कदम के फूलों के समूह का क्षुब्धन कर रहे हैं—उन्हें स्थिर रहे हैं और मेघमाला से अव्यधिक मात्रा में पड़ते हुए जल के पूर से युक्त नदियाँ किनारों को कवने वाली लहरों से पूर्ण होकर बह रही हैं ॥ ७८ ॥

रत्नमाली—क्या ?

रत्याड्धर—जो समीप के विस्तार से गरमाये घुरा पुरुषों को गर्म पत्र उन्हीं में निमग्न चूलुकों से युक्त स्त्रियों के स्तनों में सदा सलग्न किया करता है ऐसी वरसात की भ्रम्रा वायु—वृष्टि के साथ चबने वाली ठण्डी ठण्डी वायु आकाश की सीमाओं में प्रवासी मनुष्यों के जलने हुए धैर्य का भस्म के समान सफेद केतकों के फूलों को सफेद सफेद पराग को छोड़ रही है ? ॥ ७९ ॥



कथमसौ रभसोद्वाहितसकलजलधरः समुद्रेजयति सैनिकान् कल्यांतपवन-  
कल्पः प्रभञ्जनः । नूनं व्यापारितं वायव्यमस्त्रं मेघप्रभेण ।

मन्दारमाली—( समयम् ) हं किं खेदं । ( हंत किमेतत् । )

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

घनौघं शैलीयं क्रकच इव संतेजनकटु-

दृढाघातप्रौढो दलयति तिरश्चीनमृजु च ।

तरन् धारासारं प्रसभमथ संचूर्ण्य कणशः

पुरस्तादाशानां सपदि पवनोऽसौ विकिरति ॥ ८० ॥

मन्थरकः—कहं शिम्मूलपहुटमेहजूहो शिस्सेसप्पमुसिदसलिलधारासारो  
वहसोन्मूलिदधप्रपडपेक्खोलणपेक्खणिज्जो हेलालूसिदराअन्धत्तचित्तलिअग-  
अणपगिसरो कडिणसिलाणिट्टरुप्पादणिग्घखो शिग्घादशिग्घादघग्घरघोरघोसु-  
पिडणभप्पेदसेण्णकण्णकुहरो वडवडयदि सगरगणं समीरणो । ( कथ-  
निर्मूलप्रभृष्टमेघयूथः निःशेषप्रमुपितसलिलधारासारः रभसोन्मूलितध्वजपटप्रै-  
न्वोलनप्रेक्षणीयः हेलापर्यस्तिराजद्वत्रचित्रितगगनपरिसरः कठिनशिलानिष्ठु-  
रोत्पातनिघूर्णः निर्भातनिनादघर्घरघोरघोपोत्पीडनवभिरितसैन्यकर्णकुहरः वड-  
वडायति संगरांगणं समीरणः । )

क्या वह वेग से समस्त मेघों को उड़ा देनेवाली, प्रलयकाल की वायु  
के समान तीव्र आंधी सैनिकों को भयभीत कर रही है ! जान पड़ता है  
मेघप्रभ ने वायव्य अस्त्र चलाया है ।

मन्दारमाली—( भय सहित ) हाय यह क्या है ?

मन्दर—देव ! देखो, देखो ?

घनौघं—तीक्ष्णीकरण की क्रिया से तीक्ष्णपैनी की हुई करोंत के  
समान मजबूत प्रहार करने में समर्थ यह वायु पर्वत पर विद्यमान मेघसमूह  
प्रहार करने में समर्थ यह वायु पर्वत पर विद्यमान मेघसमूह को कभी तो  
तिरछा चीर रही है और कभी सीधा । यह वायु मूसलधार वर्षा को जब-  
दस्ती हर कर तथा उसके कण-कण बराबर चूर्ण कर शीघ्र ही दिशाओं  
के आगे बिखेर रहा है ॥ ८० ॥

मन्थरक—जिसने मेघों के समूह को निर्मूल नष्ट कर दिया है, जिसने

रत्नमाली—

जलदपटल दूराद् दूरीकृतध्रममाहृत

पिबति पवनो नून वात्यामुखै प्रविदारितै ।

इदमपि पुनः शके निर्मूलयन्नयमनुदान्

धनलवमपि प्रावृट् स्वागामिनीषु न लप्स्यते ॥ ८१ ॥

( विभाव्य ) कथमुपसहृतमेव चरितार्थमनेन वायव्यमस्त्र । साधु लोहा-  
गलाधिपते साधु जानासि निराक्रोश पराक्रमितुम् ।

मन्दरः—देव इह कृतार्थं चक्षुषी । अत्रहि—

तरंगैराध्मान रथ इव पितुर्व्यन्तरजये

समुद्र निर्मुद्र जितमकरसधाररभस ।

जलधारा की वर्षा को सम्पूर्ण रूप से अपहृत कर लिया है, जो वेग से उखाड़ी हुई खजाओ के बलों के इधर उधर उड़ने से दर्शनीय मालूम होती है, अनायास उड़ाये हुए राजाओं के छत्रों से जिसने आकाशतट को चित्रित कर दिया है, जो कठोर शिलाओं को निष्ठुरता के साथ उठाने में निर्दय है, और द्रुम गर्जना के मयकर घर्घर शब्द के उत्पीड़न से जिसने सैनिकों के कर्पा बुझो को बाहरा कर दिया है ऐसी तीव्र आबी मुद्र के मैदान को नष्ट भ्रष्ट कर रही है ।

रत्नमाली—वायु सबमुच फैलाये हुये बबण्डर रूपा मुखों से, जिनका भ्रमण करना दूर कर दिया गया है ऐसे दूर से खींच कर लाये हुए मेघ समूह का पान ( समाप्त ) कर रहा है जिससे गह भी सका ही रही है कि यह ( बबण्डर ) नेत्रों को निर्मूलन करता हुआ आगामी वर्षा ऋतु में मेघ का लेश मात्र भी प्राप्त नहीं कर सकेगा ॥ ८१ ॥

( विचार कर ) क्या इसने काम पूरा करने वाले वायव्य अस्त्र का सकाच कर लिया है ? ठीक लोहागल नरेश, ठीक, तुम क्रोधरहित पराक्रम दिखाना जानते हो ।

मन्दर—देव ! इस और नेत्रों को कृतकृत्य करो ।

इस आर—

तरङ्गै—जिस प्रकार लवण—समुद्र के अधिष्ठाता मागध नामक व्यन्तर को जीतने के समय मगर-मच्छों के संचार-सम्बन्धी वेग को जीतता हुआ भरत चक्रवर्ती का रथ लहरों से प्रहार करनेवाले अनुपम समुद्र को विधेदित

१२ वि० की०

कुरूणां निमिन्दन् भटिति मकरव्यूहमधुना

रथः सम्राट्सूनोर्विघटयति वेगप्रतिभयः ॥ ८२ ॥

रत्नमाली—( विलोक्य ) कथमभियुक्तौ परस्परेण कौरवपौरवौ ।

मन्दरः—कथं प्रतिपिध्य सैन्ययुद्धमेकतुलाघातमेतौ कर्तुं प्रवृत्तौ ।

रत्नमाली—यावदीपदवतारितविमानाः परस्परव्याहारमनयोः शृणुमः ।  
( विमानावतारनाटितकेन तिष्ठन्ति )

मन्दरः—कथमित्यमाह पौरवः । अयि कौरव—

म्लेच्छानां समरे कुरोः स्वजनतां तातेन संपश्यता

वीराणां प्रथमेष्वहंप्रथमिकावद्धप्रतिज्ञेष्वपि ।

वद्ध्वा वीररसानभिज्ञभवतो द्राग्वीरपट्ट कृता

कीर्तिस्तां विततोत्थितामपहरत्यद्यार्ककीर्तिः कुधा ॥ ८३ ॥

मन्दारमाला—अहो गरिट्ठा दिट्ठि ठिआ पोरवस्स । ( अहो गरिष्ठा दृष्टिः स्थिता पौरवस्य । )

करता था उसी प्रकार इस समय वेग से भय उत्पन्न करनेवाला सम्राट्-पुत्र-  
अर्ककीर्ति का रथ शीघ्र ही कौरवों के मकरव्यूह को भेदता हुआ विघटित  
कर रहा है ॥ ८२ ॥

रत्नमाली—( देख कर ) क्या जयकुमार और अर्ककीर्ति परस्पर  
भिड़ गये ?

मन्दर—क्या सैनिकों के युद्ध को रोक कर दोनों एक सदृश घात  
करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं ?

रत्नमाली—जब तक विमानों को कुछ नीचे उतार कर इन दोनों के  
पारस्परिक वार्तालाप को सुनें ।

( विमान नीचे उतारने का अभिनय कर खड़े होते हैं )

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने ऐसा कहा कि हे कौरव ।

म्लेच्छानां—म्लेच्छों के युद्ध में कुरूओं की आत्मयीता को देखते हुए  
पिता जा ने 'मैं पहले प्रहार करूँ—मैं पहले प्रहार करूँ' इस तरह प्रतिज्ञा-  
वद्ध श्रेष्ठ वीरों के विद्यमान रहते हुए भी वीर रस से अनभिज्ञ आपके लिये  
शीघ्र ही वीरपट्ट बाँध कर जिस कीर्ति को उत्पन्न किया था आज सुविस्तृत  
होकर उठी हुई कीर्ति को अर्ककीर्ति क्रोध से अग्रहृत करता है ॥ ८३ ॥

मन्दार माला—अहा, अर्ककीर्ति की दृष्टि बढ़ी गुरुतर है ।

मन्दर—कथमित्थमाह कौरव । अयि पैतृकानीकप्रपचनिरीक्षणप्रज्ञीव  
अयतामयमय ।

शीताशोरिव तीक्ष्णाशुं तव मामुपसर्पते ।

वाणैः स्पृष्टस्य पक्षस्य प्रणाशः प्राशु जायते ॥ ८४ ॥

रत्नमाली—अहो स्यैयं कुरुकुलकुमारस्य । कथसकोपोत्तेकमाह पौरव ।  
रे रे अनिवदप्रलापिन् ।

अर्ककीर्तिरसावर्कः सोमस्त्व सोमवशाजः ।

अमुमास्फुटतो मूढ तच्चैव प्रत्युत क्षय ॥ ८५ ॥

अपि च,

रे सन्नद्धतया विप्रम्य सनस्त किमसि विस्मृत बाहनिक्षुदनिषेवनम् ।  
ननु तूष्णीमेवास्ते ममेयममर्षिणी सर्वाप्यज्ञौहिणी ।

मन्दर—कथा जयकुमार ने इस प्रकार कहा—हे पिता की सेना का  
विस्तार देखने मात्र से उन्मत्त अर्ककीर्ति, यह बाण सुनो ।

शीताशो—जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख जाने वाले चन्द्रमा का प्रणाश  
हो जाता है उसी प्रकार मेरे सम्मुख आनेवाले बाणों से स्पृष्ट दुग्धारे पक्ष  
का शीघ्र ही नाश हो जानेवाला है ॥ ८४ ॥

रत्नमाला—अहो, कुरुवश के कुमार की यही स्थिरता है । क्या  
अर्ककीर्ति ने क्रोध और अहंकार के साथ कहा कि रे रे असमर्थ बोलने वाले ।

अर्ककीर्ति—यह अर्ककीर्ति सूर्य है और चन्द्रवश में उलझ हुए ठुम  
चन्द्रमा हो इस लिये रे मूर्ख । अर्ककीर्ति के सम्मुख आते हुए दुग्धारे ही  
क्षय होगा ॥ ८५ ॥

और भी,

अरे तैयारी के साथ पराक्रम दिखा कर भयभीत होवा हुआ तू  
क्या मूल गया है कि सैनिकों का युद्ध बंद किया गया है ! देख, क्रोध से  
भरी हुई मेरी सभी सेना चुन-चाप ही खड़ी है ॥

तदद्य—

शासितुं कामभीशस्त्वामेकको मम सायकः ।

शोभायै दिक्परोणाहृहिणी मम वाहिनी ॥ ८६ ॥

रत्नमाली—आहो पुरुषिकामसहमानः कथं सानुतापमाह कौरवः । अयि स्वयंवरमर्यादाविभेदज्ञखर्वितदुर्विनयगर्वित शोचनीय इदानीं भवादृशैः पुत्रैर्महाराजभरतः ।

कुतः ।

स्खलन्मरीचिश्चरितादहिंसितात्तपांसि पाखंडकृद्ग्रजस्ते ।

त्वमर्ककीर्तिः पदवीमकीर्तेर्गतोसि भिदन् गृहमेधिवृत्तिम् ॥ ८७ ॥

रत्नमाली—युक्तमाह कौरवः ।

मन्दरः—कथमवधीरणाधीरमाह पौरवः । अयि मूर्ख प्रक्रान्तमपि न स्मरसि न खल्वियमनुनयगोष्ठी । तदिदानीम्—

इस लिये इस समय,

शासितुं—तुम्हारा शासन करने के लिये तो मेरा एक बाण ही अच्छी तरह समर्थ है । दिशाओं के विस्तार को घेरने वाली मेरी सेना सिर्फ शोभा के लिये है ॥ ८६ ॥

रत्नमाली—क्या अहंकार को नहीं सहनेवाले जयकुमार ने पश्चात्ताप के साथ कहा कि हे स्वयंवर की मर्यादा को तोड़नेवाले एवं अत्यधिक उद्दण्डता से गर्वीले ! इस समय आप जैसे पुत्रों से महाराज भरत शोचनीय हो रहे हैं ।

क्योंकि—

स्खलन्—पाखण्ड को करनेवाला तुम्हारा बड़ा भाई अहिंसापूर्ण चरित्र से भ्रष्ट हो तप को भेदता हुआ अकीर्ति के मार्ग को प्राप्त हुआ है और तू अर्ककीर्ति गृहस्थ की वृत्ति—आचार को भेदता हुआ अकीर्ति के मार्ग को प्राप्त हुआ है ॥ ८७ ॥

रत्नमाली—कौरव ने ठाँक कहा ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने तिरस्कारपूर्वक कहा—अये मूर्ख ! प्रकृत बात का भी स्मरण नहीं रखता है यह अनुनय की गोष्ठी नहीं है । इस लिये इस समय,

नमस्तु शरमहस्रोद्गारसरममीमः

परुषपविनिपातस्फारविस्फारधीर ।

हठविघटितशत्रुसत्रियव्यूहवधः

स्समरनिकृतिचढ. सामि कोदढदढ. ॥ ८८ ॥

मथरक —अहो अविनवसहो सहाओ । (अहो अविलवसह स्वभाव ।)

मदर —कथमित्थमाह कोम्ब\* । अहो अनात्मनीन न जामात्मात्मानम् ।

अविचारिताचरणनिप्नो हि पुमानचिण्ण विगदुपध्वतामास्मिधुते ।

वदिदानीम्—

येऽमी रथं से परिवारयते भवत्परिभ्राणकृतोऽष्टचक्राः ।

निहन्मि तानेप शरैरमोघैस्त्य चावदात्यदयसिचेद्युयुत्सा ॥ ८९ ॥

मदर.—कथ निहता एष कौत्वेणाष्टाभिश्चशरैरकंकीर्तिरपरादिणोऽष्टचक्रा ।

रत्नमाली—कथमधुना—

नमस्तु—जो हजारों बाणों के उगलने की क्रिया से भयकर है, कठोर घमनात से होनेवाले विशाल शब्द के समान आस्पतालन के विशाल शब्द से धीर है, जिसने शत्रु राजाओं की व्यूह-रचना को हठपूर्वक विघटित कर दिया है तथा जो युद्धसम्बन्धी भाषा से अत्यन्त कुपित है ऐसा धनुष-दण्ड आवा नम्रामृत हा ॥ ८८ ॥

मन्थरक—अहा, विलम्ब को न सहनेवाला स्वभाव है ।

मन्दर—क्या जयकुमार ने इस प्रकार कहा कि हे अपना हित न जाननेवाले ! तू अपने आगको नहीं जानता है । बिना विचारे कार्य करने-वाला पुरुष शीघ्र ही निनत्ति की अधीनता को प्राप्त होता है ।

इस लिये इस समय,

येऽमी—आगकी रक्षा करने वाले जो ये अष्टचन्द्र तुम्हारे रथ को घेरे हुए हैं यह मैं अमोघ बाणों से उन्हें नष्ट करता हूँ समझ दे कि तब तक तुम युद्ध की दृष्टि को छोड़ दोगे ॥ ८९ ॥

मन्दर—क्या जयकुमार ने अकंकीर्ति के रथ की रक्षा करनेवाले अष्टचन्द्र आठ बाणों के द्वारा नष्ट कर ही दिये ?

, रत्नमाली—क्या इस समय,

अष्टचंद्रविनिपातविलक्षो नष्टचंद्रतिथिनिष्प्रभ एषः ।

चक्रवर्तितनयस्य रथोद्य कुंठिताखिलमनोरथ आस्ते ॥ ६० ॥

मन्दरः—कथं पुनरप्याह कौरवः । अयि युयुत्सासमुत्सुक अव्युत्पन्नोसि रणकर्मणि ।

ततश्च ।

इदानीमत्यस्ति त्वयि भरतसूनौ मम घृणा

क्षमात्युद्वृत्तेषु द्रविणमिह नः पैतृकमिदम् ।

ब्रज स्वैरं युद्धात् स्वगृहमथवा प्रेतभवनं

गतिस्तार्तीयकी न पुनरिह काप्यस्ति भवतः ॥ ६१ ॥

रत्नमाली—अनुकरोति सोमप्रभं प्रशमेन मेघेश्वरः ।

मन्दरः—कथं क्रोधोद्धतिसापख्यमाख्यत्पौरवः ।

कथमपि रणं प्रत्याख्याय स्थिरीकृतजीवितः

क पुनरधुना कौरव्य त्वं पलायितुमीहसे

अष्टचन्द्र—अष्टचन्द्रों के नष्ट हो जाने से लजित, अमावास्या के समान प्रभाहीन एवं समस्त मनोरथों से रहित यह चक्रवर्ती के पुत्र—अर्क-कीर्ति का रथ खड़ा है ॥ ६० ॥

मन्दर—क्या जयकुमार ने फिर भी कहा है—हे युद्ध की इच्छा से उत्सुक ! तुम युद्ध के कार्य में अव्युत्पन्न हो ।

इसलिये—

चूंकि तुम भरत के पुत्र हो अतः तुम पर मेरी दया अब भी विद्यमान है । अविनीत जनों पर क्षमा करना यह हमारा पैतृक धन है अतः तुम इच्छानुसार युद्ध से अपने घर चले जाओ या फिर यमराज के घर जाओ यहां आपकी तीसरी कोई भी गति नहीं है ॥ ६१ ॥

रत्नमाली—जयकुमार शान्ति द्वारा पिता सोमप्रभ का अनुकरण करता है ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध की उद्दण्डता से दुर्वचनों के सहित उत्तर दिया है ?

कथमपि—अरे कौरव्य ! किसी तरह रण का निषेध कर अपनी जान

वरसि लुठति मे नो सौभाग्यविक्रमदायिनो

मम तु विशिखार्शिद्धदत्येते स्वयंवरमालिकाम् ॥ ६२ ॥

रत्नमाली—कथमुपहासोल्लासमाह वीरव । अहो ते दुष्करकारिता यत्कु-  
सुमान्यपि छेत्तुमातिष्ठसे ।

मन्दरः—कथं क्रोधोत्तेकमाह वीरव । किंच अनास्थयोपेक्षितविभ्रम मा  
गणयसि तन्मुग्धसुकुमार समरविदग्ध ।

नाय सोयधरोऽस्थिरश्चलघपुर्नैतद्वियस्कामुं

नेय प्रक्षयिणी तडिन्प्रलघवा नैतेप्यपा विद्व ।

जेताह भवतोर्ककीर्तिरलघुस्थेमेदमस्मद्गु-

र्व्याहानो विमुखेयमस्य विशिखार्श्वंते प्रहारोन्मुप्य ॥ ६३ ॥

रत्नमाली—अहो परगुणाम्यसूया वीरवस्य ।

बचाते हुए तुम अब कहा भागना चाहते हो ? हमारे वज्र स्थल पर सौभाग्य  
और विक्रम को देनेवाली माला थोड़े हो लटक रही है किन्तु तुम्हारे वज्र-  
स्थल पर जो स्वयंवर माला लटक रही है उसे ये मेरे बाण अभी हार  
छेदे डालते हैं ॥ ९२ ॥

रत्नमाली—क्या जबकुमार ने उपहासपूर्ण विनोद के साथ कहा कि  
अहा, यह तो तुम्हारी बड़ी बढातुरी है कि फूलों को भी छेदने के लिये तैयार  
खड़े हो ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध और अहंकार के साथ कहा कि  
अनादर से पराक्रम की उपेक्षा करनेवाले मुझकी तू भोला सुकुमार सम-  
झता है और अपने आपको रणबाकुरा ।

नाय—यह अस्थिर मेघ नहीं है यह चञ्चल आकाश—धनुष नहीं है, यह  
नश्वर विजली नहीं है और ये अतिशय छोटी जल की बूँदें भी नहीं हैं ।  
किन्तु मैं आपको जीतने वाला अर्ककीर्ति हूँ, यह बहुत भारी मजबूती से  
युक्त हमारा धनुष है, यह हानि से रहित इसकी डोरी है और ये प्रहार  
करने के लिये समुल्ल बाण हैं ॥ ९३ ॥

रत्नमाली—अहो, अर्ककीर्ति को दूसरे के गुणों में ईर्ष्या है ।



मन्दरः—कथमवगणनादारुणमाह कौरवः । अयि भो भरतपुत्र साधु शिञ्चितोसि नटविभीषिकायां यद्गौररसोदारप्रयोगेष्वसमर्थस्तत्रभवानित्यमेवं विकस्यसे ।

रत्नमाली—अहो सरसानि धीराणां मानावष्टम्भसोल्लासानि स्वत्वको-  
वाक्यानि ।

मन्दरः—कथं क्रोधोत्सेकसंवद्वितभ्रुकुटिभीषणभालपीठकठोरमाह पौरवः ।  
अरे दुर्मानमदनोन्मत्त, निर्मर्याद, दुर्वादमुखर, कुरुकुलपासन, वाढमद्य विम-  
र्यस्तप्रकृतिरसि । यत्सुगृहीतनामधेयं तातमप्युपहासविरसं विभापसे । तत् किं  
बहुना ।

तातस्सेवैकवश्यः स्वजनयति कुरूनित्युपेक्षाप्युदस्ता

ताताधिचेपवद्यं मुखकुहरमिदं मृष्यते नार्ककीर्तिः ।

मन्दरः—क्या जयकुमार ने अनादर से कठार उत्तर दिया । अये  
भरतपुत्र ! ( पक्ष में नाट्याचार्य के पुत्र ! ) तुम नट की विभीषिका में  
अच्छी तरह शिञ्चित हो । यही कारण है कि तुम वीर रस के उदार प्रयोगों  
में असमर्थ होकर इस तरह अपनी प्रशंसा आप किये जा रहे हो ।

रत्नमाली—अहा, वीरों के अहंकार-पूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर बड़े सरस  
होते हैं ।

मन्दरः—क्या अर्ककीर्ति ने क्रोध की अधिकता से उत्पन्न पोंह से  
ललाट-तट को भीषण एवं कठोर करते हुए कहा कि अरे अहंकारी !  
कामोन्मत्त ! मर्यादारहित ! अशब्दों से मुखर ! कुरुकुल-कलंकी ! सच-  
मुच ही आज तू विपरीतस्वभाव हो गया है इसी लिये तो पूज्य पिता जी  
के प्रति भी उपहास से विरस शब्द बोल रहा है । अतः अधिक कहने से  
क्या ?

तातः—एक सेवा से वश में हो जानेवाले पिता कुरुओं को स्वजन के  
समान मानते हैं इस कारण से अवतक जो उपेक्षा की जाती रही है उसे  
भी नष्ट कर दिया है । पिता की निन्दा का उच्चचारण करनेवाले इस मुख-  
गर्त को अर्ककीर्ति सहन नहीं करेगा ! अतः जबड़ों में लगी हुई दोनों  
धाराओं के द्वारा ऊपर के अर्धमस्तक को खण्डित कर देनेवाला, यह

सुकप्रातावलग्नोल्लुठदुमयशिखाखडितोर्ध्वार्धमूर्धा

भल्ल प्रदोषमल्लः शमयतु तव जीवमौखयमेप ॥ ६४ ॥

मथरक—हत विमुक्त एव पौरवेण कञ्चतदाढाकरालधारापेरतो रभ-  
सुप्पङ्गुभीसणसगिहो सणमल्लो ( हत विमुक्त एव पौरवेण कृतांतदष्टाकराल-  
धारापयंत रभसोत्तनमीप्रणशरवान् मल्ल । )

मन्दारमाला—कह अद्रपह एव कौरवेण सहसुम्पोक्कवसम्पोठरिदेहि  
सरणिअरेहि चुण्णिदो सो मल्लो । ( कथमर्घपय एव कौरवेण सहसोन्मुक्तसमु-  
द्भूतैः शरनिकरैः चूर्णितः ॥ मल्ल । )

मन्दर,—न तावन्माश्रमेव केतुदडाग्रमपि ललित पौरवस्य । साधु कौरव्य  
साधु । इत्यमाह च कौरवः । अरे अरे पौरव पश्य पश्य ।

ललद्दयटाजिह्वोल्लुठनरञ्जिताक्रदविरस

शिरःकेसोरेतज्जिपतति पुरस्तात्तव मुञ्चि ।

विमुक्तव्यालोलध्वजपटशिखाकेशनिचय

मदीयाखच्छिन्न तव च निधन मान्युपदिशात् ॥ ६५ ॥

शत्रुओं के लिये मल्ल-स्वरूप हमारा भाला ही तुम्हारे पागलों जैसे प्रज्ञाप  
को शान्त करे ॥ ९४ ॥

मन्यरक—खेद है कि जिसकी धाराओं का पर्यन्तभाग यमराज की  
डाढ़ों के समान मयकर है तथा जिसका फलक वेग से उत्पतन के कारण  
अत्यन्त भयावह है ऐसा भाला अककीर्ति ने छोड़ ही दिया ।

मन्दारमाला—क्या जयकुमार ने सहसा छोड़े और धारणा किये हुए  
बाणों के समूह से उस भाले को अर्धमार्ग में ही चूर चूर कर डाला ।

मन्दर—उतना ही नहीं, अर्ककीर्ति के ध्वजदण्ड के अग्रभाग को भी  
खण्डित कर दिया है । ठीक कौरव्य ठीक । और कौरव—जयकुमार ने इस  
प्रकार कहा—अरे अरे पौरव—देख देख ।

ललद्—जो हिलते हुए घण्टास्त्रों जिहा के सञ्चलन से उत्पन्न आक-  
न्दन से विरस है, चञ्चल ध्वजपट के बहाने जिसकी जोड़ी के बालों का  
समूह बिखर रहा है, तथा जो तुम्हारे मावी मरणा की खजना दे रहा है ऐसा

रत्नमाली—कथं सर्वत्राप्यतिशेते कौरवः ।

मन्दरः—कथं पुनरप्याह क्रोधसंरम्भैरवः पौरवः

रे रे कौरव संप्रति क्षणक्षणं दत्तक्षणो निर्भयः

स्वैरं विक्रमिणां वचांसि पठितान्यावर्तयावर्तय ।

निष्पर्यायविनिष्पतच्छरशताच्छत्रांश्च पश्य क्षणात्

त्वं तूष्णीं कवचं गुणं धनुरिपून् वाहान् ध्वजं सारथिम् ॥ ६६ ॥

रत्नमाली—अहो दुर्भरः प्रतिज्ञाभरः ।

मन्दरः—इत्थमाह कौरवः ।

संधातुमेकतममुत्सहते पृषत्कं

यावद्भवान् धनुषि वाञ्छितसंग्रहारः ।

अस्मत्पतन्निमुखलूनतया तवेयं

तावद्विधा भवती पश्य शरासनज्या ॥ ६७ ॥

यह तुम्हारी पताका का शिर—अग्रभाग मेरे बाणों से कट कर, तुम्हारे सामने पृथिवी पर पड़ रहा है ॥ ९५ ॥

रत्नमाली—क्या जयकुमार सभी विषयों में आगे बढ़ रहा है ?

मन्दर—क्या क्रोध के संरम्भ से भयंकर अर्ककीर्ति ने फिर भी कहा ?

रे रे—रे रे कौरव ! इस समय तुझे अवसर दिया गया है इसलिये निर्भय हो कर, तू ने शूर-वीरों के जितने वचन पहले पढ़े हैं तू उन्हें इच्छानुसार प्रत्येक क्षण दुहरा ले । फिर क्षणभर में ही तरकश, कवच, डोरी, धनुष, बाण, घोड़े, ध्वजा और सारथि को एकसाथ छोड़े हुए सैकड़ों बाणों से खण्डित देख ॥ ६६ ॥

रत्नमाली—अहा, बड़ी कठिन प्रतिज्ञा है ।

मन्दर—क्या कौरव ने इस प्रकार कहा ?

संधातु—प्रहार की इच्छा रखते हुए आप जब तक धनुष पर एक बाण रखने के लिये उत्साहित होते हैं तब तक देखो, आपकी धनुष की यह डोरी हमारे बाण के अग्रभाग से कट कर दो टुक हुई जाती है ॥ ६७ ॥

मन्थरक—कह द्विष्ट एव पौरवधनुस्त्रिजणी कौरवदुराप्येण । ( कथं-  
द्विष्टैव पौरवधनुस्त्रिजणी कौरवदुराप्येण । )

रत्नमाली—युगपदेव कौरवस्य प्रतिज्ञा च साधन सन्नम् ।

मन्दर—देव—

परय कोदहृदहोऽयमर्ककीर्तेर्गतौजस ।

निर्जोषमिति जातः शत्रुणा समरे हतः ॥ ६८ ॥

मन्थरक—कह भक्तिय पौरवर्हं आरुदेण गहीदो कौरवेण विलम्बतु-  
हियको अककित्ति । पलाइर्द च समतदो पौरवबलेण । उरिपदो अ कौरवस्व  
जयकोलाहलो । पौरवो बाहुबुध्दवटिट्या पासेण कह सण्दो कि कुणहसि  
आसकेमि । ( कथं भट्टिति पौरवरयमारुडेन गहीत कौरवेण विलम्ब-  
त्प्याकं अर्ककीर्तिं पलायितं च समततः पौरवबलेन । उत्पितश्च कौरवस्य  
जयकोलाहलः । पौरवो बाहुयुगलवर्तिना पारोण कयसन्नद किं करोत्याशके । )

मन्दरः—कथमात्मन एव मस्तके निगदितोऽर्ककीर्तेर्दमदमोलि ।

मन्थरक—क्या कौरव के बाण से अर्ककीर्ति के धनुष की डोरी कट  
ही गई ?

रत्नमाली—कौरव की प्रतिज्ञा और उसकी सिद्धि दोनों एक साथ  
सम्पन्न हो गई ।

मन्दर—देव,

पश्य—ओजहीन अर्ककीर्ति का यह धनुषदण्ड युद्ध में शत्रु के द्वारा  
हत होकर निर्जोष—डोरीरहित ( पक्ष में प्रसारित ) होने से निश्चेष्ट हो  
गया है ॥ ६८ ॥

मन्थरक—क्या शीघ्रता से अर्ककीर्ति के रथ पर चढ़े हुए जयकुमार ने  
लज्जा के कारण चुप बैठे हुए अर्ककीर्ति को पकड़ लिया ? अर्ककीर्ति की  
सेना खर और भाग गई और जयकुमार की विजय का कोलाहल उठ खड़ा  
हुआ ? दोनों मुजाओं में वर्तमान पाश से बंधाहुआ अर्ककीर्ति अब क्या  
करेगा मुझे इस बात की आशंका हो रही है ।

मन्दर—क्या अर्ककीर्ति का कपटस्त्री ब्रह्म अपने ही मस्तक पर पड़ा ?

रत्नमाली—अहो कौशलं कौरवस्य ।

मन्दरः—आह च कौरवः ।

अयमयमिह युद्धावद्गर्धोद्धतानां

भुजवलमदभारं स्वैरमद्यावरोप्य ।

नियमयति भुजौ द्वौ भारतस्यार्ककीर्ते-

युधि कुरुपतिसूनुर्मोचयन्त्वेतदीयाः ॥ ६६ ॥

मन्थरकः—सर्वे एहि दिव्यश्रणा, दिग्गसाहुकारोपहारा कौरवेश्वर-  
स्स उवरि मुंचंति मंजुगुंजंतमहुश्रणिद्विज्जंतमश्रंदगिस्संदगिम्महिअवहल-  
गुरुपरिमलवासिज्जंतगश्रणाभोगांविअसत्तसंतानमंदारहरिचंदगणमेरुपरिजाद-  
भूइठ्ठा पुप्फविट्ठि । ( सर्वेपीदानों दिव्यजना दत्तसाधुकारोपहाराः कौरवेश्वर-  
स्योपरि मुंचंति मंजुगुंजन्मधुकरनिकरनिर्विश्यमानमकरंदनिप्यंदनिर्मथितवहल-  
गुरुपरिमलवास्यमानगगनाभोगां विकसत्संतानमंदारहरिचंदननमेरुपरिजातभू-  
यिष्ठां पुष्पवृष्टिम् । )

मन्दरः—तेन हि वयमपि तथा कुर्मः ।

रत्नमाली—अहा, जयकुमार की बड़ी कुशलता है !

मन्दर—श्रीर कौरव ने कहा

अयमय—इस युद्ध के मैदान में यह कुरुपति का पुत्र जयकुमार युद्ध  
की आकाक्षा से उद्धत लोगों के बाहुबल के गर्व के भार को आज अच्छी  
तरह उतार कर भरत के पुत्र अर्ककीर्ति की दोनों भुजाओंको बांध रहा है  
इसके पक्ष के लोग आकर छुड़ावें ॥ ६६ ॥

मन्थरक—इस समय सभी दिव्यजन साधुकार का उपहार देते हुए  
कौरवेश्वर—जयकुमार के ऊपर वह पुष्पवृष्टि छोड़ रहे हैं, जिसने मनोहर  
शब्द करनेवाले भ्रमर-समूह के द्वारा उपभुक्त मकरन्द के निप्यन्द की  
अत्यधिक सुगन्धि से आकाश के प्राद्वण को सुवासित कर दिया है तथा जो  
खिलते हुए सन्तानक, मन्दार, हरिचन्दन, नमेरु और पारिजात के फूलों से  
परिपूर्ण है ॥

मन्दर—तो हम लोग भी वैसा ही करें ।

( सर्वे साधुकारमुखराः पुष्पवर्षं नाटयति )

मन्दर — देव पश्य पश्य ।

सुरकरविनिर्मुक्तां व्यक्तापदानाविकल्पिनीं

बहति सुमनोवृष्टिं सिद्धाश्विन पतिता जय ।

नृपतिषु बहुष्वभ्यर्च्यैव स्थितेषु जयभ्रिया

विदितगुण एवान्या न्यस्तां स्वयंवरमालिकाम् ॥ १०० ॥

रत्नमाली—

परा जयमसौ प्राप्ता कौरवस्य पताकिनी ।

पराजयमसौ प्राप्ता पौरवस्य पताकिनी ॥ १०१ ॥

मन्दर — देव पश्य पश्य ।

कुरुनरपतिपायान्ननिष्पन्दबाहु-

धिघटितनिजसैन्यः शोभते नार्ककीर्तिः ।

इयमपि दिक्सातम्भानिपर्यस्तविधा

सपितकरसहसा शोभते नार्ककीर्तिः ॥ १०२ ॥

( सब साधु साधु शब्द का उच्चारण करते हुए पुष्प वर्षा करते हैं । )

मन्दर—देव । देखो, देखो,

सुरकर—प्रसिद्ध गुणों का धारक जयकुमार देवों के हाथ से छाड़ी, एक प्रकट पराक्रम की संचित करनेवाली, आकाश से पतित पुष्प-वृष्टि को ऐसा धारण कर रहा है मानों प्रार्थना करके बहुत से राजाओं के स्थित रहते हुए विजय-लक्ष्मी के द्वारा डाली हुई दूसरी स्वयंवर माला को ही धारण कर रहा हो ॥ १०० ॥

रत्नमाली—परा—कौरव—जयकुमार की यह उत्कृष्टसेना विजय को प्राप्त हुई और पौरव—अर्ककीर्ति की वह सेना पराजय को प्राप्त हुई ॥ १०१ ॥

मन्दर—देव, देखो देखो

कुरु—इधर कुरुराज—जयकुमार के पास से बढ़ होने के कारण जिसकी मुजाय निश्चेष्ट है तथा जिसकी अपनी सेना तितर-बितर हो गई है ऐसा अर्ककीर्ति मुखोमित नहीं हो रहा है और उधर दिनाम्न के समय होने वाली म्लानि से जिसका विम्ब भीचे को ओर ढल गया है तथा जिसकी हज़ार

रत्नमाली—( विलोक्य ) कथमधुना—

कौरव्यहेतिनिहतप्रतिपक्षभूभृद्-

वक्षःक्षरत्क्षतजपूरसमुक्षिता दमा ।

संध्यानुरागकपिशा वरुणस्य चाशा

धत्तः परस्परममू प्रतिविशोभाम् ॥ १०३ ॥

कथं निर्व्यूढसंगरसंगरांगणाद्विनिवृत्तः कौरवः ।

अथ च—

मदद्विपानां करवारिसिक्ता मदांबुसिक्ता ह्यफेनसांद्राः ।

अमी रणादथ परागतानां समोरणाः श्रान्तिमपाहरन्ति ॥ १०४ ॥

मन्दारमाला—कहं समत्ता समरजत्ता । ( कथं समाप्ता समरयात्रा । )

मन्दरः—देव पश्य पश्य ।

निष्पिष्टद्विपदक्ष सांद्ररुधिरव्यालेपतान्यत्कराः

प्रक्षुण्णप्रतिपक्षदन्तिपिशितप्रक्लिन्नदन्तगर्गलाः ।

किरणों नष्ट हो गई हैं ऐसी सूर्य की कीर्ति भी सुशोभित नहीं हो रही है ॥ १०२ ॥

रत्नमाली—( देखकर ) क्या इस समय,

कौरव्य—जयकुमार के शस्त्रों से खण्डित शत्रुराजाश्रों के वक्षःस्थल से भरते हुए रुधिर के पूरसे सिक्त भूमि और संध्या की लाली से रक्त वर्ण पश्चिम दिशा दोनों ही परस्पर प्रतिविम्ब की शोभा को धारण कर रही हैं ॥ १०३ ॥

क्या प्रतिज्ञा पूरी कर जयकुमार युद्ध के मैदान से लौट गया है ? और इस समय,

मदद्विपानां—मदस्तावी हाथियों के सूंड के जल से सीची, मदरूप जल से सीची और घोड़ों के फेन से सान्द्र ये हवाएं रण से लौटे हुए लोगों की थकावट को दूर कर रही हैं ॥ १०४ ॥

मन्दारमाला—क्या युद्धयात्रा समाप्त हो गई ?

मन्दर—देव, देखो देखो,

निष्पिष्ट—जिन्होंने शत्रुओं को पीस डाला है, गाढ़े गाढ़े खून के लेप

पते श्रेणिकृता विशति नगरद्वारावकाशेक्षिणः

प्रोन्मीलन्मणितोरणां रणमुखाद्वाराणसीं वारणा ॥ १०५ ॥

रत्नमाली—यावदिदानीं वयमपि—

प्रगुणरणविमर्दप्रेक्ष्यप्रीतिवद्धं

प्रविघटयितुमहस्ताप्रत सप्रयाम् ।

समवसरणभूमि पूतकैलासमीलिं

प्रणिहितगणनाथोपस्थिता भूतभर्तुः ॥ १०६ ॥

मन्तरकः—यदाजापयति देवः । इति

( निष्काता सर्व )

इति श्रीहस्तिमल्लेन विरचिते सुलोचनानाटके कौरवपौरवीयो

नाम चतुर्थोऽङ्क समाप्तः ॥ ४ ॥

से जिनकी सूझ बेचैन हैं, जिनके दातरूपी आगल चूर चूर किये हुए शत्रुओं के हाथियों के मांस से गोले हैं, तथा जो नगर के द्वार पर अवकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं ऐसे वे पक्तिवद्ध हाथी रणप्रभाग से वापिस आकर जगमगाते हुए मशिमय तोरणों से युक्त वाराणसी में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १०५ ॥

रत्नमाली—जब तक हम लोग भी इस समय,

प्रगुण—युद्ध की बहुत भारी मारकाट के देखने की प्रीति से बाचे हुए पाप को नष्ट करने के लिये कैलास की शिखर को पवित्र करनेवाली एवं सावधान गयाधरों से युक्त भगवान् कृपभदेव की समवसरण भूमि की ओर चलते हैं ॥ १०६ ॥

मन्तरक—जो आप आशा दें ।

( सब निकल गये )

इस प्रकार हस्तिमल्ल के द्वारा विरचित सुलोचना नाटक में

कौरवपौरवीय नामका चौथा अङ्क समाप्त हुआ ॥ ४ ॥





## पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

( ततः प्रविशति कंचुकी )

कंचुकी—अहो निर्भरं प्रीणाति ममांतःकरणं विजयेन वर्धमानः परमृपति-  
मानघस्मरः कुमारमेवेश्वरः ।

तथाहि—

प्रमदरभसादुद्यद्गद्गद्यते नितरां वचो  
गुणयति गुरुं गात्रस्यानंदधुर्मम वेपथुम् ।  
तिरयतितरां वाष्पोत्पीडः प्रमोदहृतोक्षिणी  
स्वयमपि जरा नूनं जीर्यत्यसौ बहुलीकृता ॥ १ ॥

सर्वथा भाजनं मंगलानां सुमंगला काशोराजसुता । ( परिक्रम्यात्मानं  
निर्वर्ण्य ) अहो वैरूप्यं वार्धकस्य ।

---

( तदनन्तर कंचुकी प्रवेश करता है )

कञ्चुकी—अहा, विजय से बढ़ते हुए तथा शत्रुराजाओं के मान को  
नष्ट करनेवाले कुमार मेघेश्वर मुझे अत्यधिक संतुष्ट कर रहे हैं ।

जैसे कि—

प्रमद—हर्ष-सम्बन्धी वेग से उत्पन्न होते हुए वचन अत्यन्त गद्गद हो  
रहे हैं । हर्ष, मेरे शरीर के भारी कम्पन को कई गुना कर रहा है । हर्ष से  
उत्पन्न हुआ आंसुओं का समूह नेत्रों को तिरछा कर रहा है और ऐसा जान  
पड़ता है कि यह अत्यधिक वृद्धावस्था स्वयं ही जीर्ण हुई जा रही है ॥ १ ॥

उत्तम मङ्गलों से युक्त काशोराज की पुत्री सुलोचना सब प्रकार से  
मङ्गलों का पात्र हुई । ( धूम कर तथा अपनी ओर देख कर ) अहा बुढ़ापे  
की बड़ी विरूपता है ।

यथासि वेपथूदधूतवारवाणच्छलात्स्वयम् ।

चङ्गीयेव पलायते सोद्रेग तनुवैकृतम् ॥ २ ॥

अथवा कुरुनदनविजयोत्सवदर्शिनः प्रवयस्त्रयमपि मे श्रेयसे । यावदहमिदमेव स्थित्वा यथा न कोपि प्रवेक्ष्यति तथा द्वारदेशं रक्षामि । ( इति उपविशति )

( ततः प्रविशति प्रतिहारी )

प्रतीहारी—दिट्ठिआ मुसविदो देव्वेण कोरववसो जदो जेहुणा अक्क-  
कित्ति रंमेण पडिण्णिउत्तो कोरवेसरो । सुद च मए पेत्तूण अक्ककित्ति पविट्ठो  
वाराणसि कोरवेसरो सभावणापुरसर वा राअउलणिअठे णिवेसिदो कासी-  
राएणात्त । तदो अ उव्वेल्लवल्लफलपलिदा आअदमिह विअएण वड्ढत कोर-  
वेसर दट्ठूण दट्ठीण मुह लहिहु । इअ च अगदो वाराणसी । जाव पयि-  
सेमि । ( प्रवेशनाटितकेन ) अहो रमणिज्जदा रअणिमुहस्स । ( दिष्ट्वा मुस-  
ण्णतो दैवम कोरववशो यतो जित्त्वाकंकीर्तिं प्रतिनिवृत्तः, कोरवेश्वर । श्रुतं च  
मया एहीत्त्वाकंकीर्तिं प्रविष्टो वाराणसीं कोरवेश्वरस्समायनापुरस्सरं वा राज-  
कुलनिकटे निवेशितो काशीराजेनेति । ततश्च उद्वेल्लवात्पलप्रेरिता आगता-

ध्यामि—कम्पन से काँपते हुए कवच के छल से ऐसा जान पड़ता है  
मानों शरीर का विकार देख कर अवस्थारूप पद्मी धबकाहट के साथ उड़कर  
भागने जा रहे हैं ॥ २ ॥

अथवा मैं कुरुपुत्र के विजयोत्सव को देख सका अतः मेरा बुढ़ापा भी  
कल्याण के लिये ही हुआ । मैं यहीं स्थित रह कर जिस तरह कोई प्रवेश न  
कर सके उस तरह द्वार प्रदेश की रक्षा करता हूँ ( इतना कह कर बैठ  
जाता है )

( तदनन्तर प्रतीहारी प्रवेश करती है )

प्रतीहारी—सौभाग्य से दैव ने कुरुवश की अच्छी रक्षा की जिससे कोर-  
वेश्वर अकंकीर्ति को जीत कर वापिस लौट आये हैं । मैंने सुना है कि अकं-  
कीर्ति को पकड़ कर वाराणसी में प्रविष्ट हुए कोरवेश्वर—जयकुमार को  
काशीराज ने बड़े सम्मान के साथ राजकुल के निकट ही ठहराया है । तद-  
नन्तर अत्यधिक प्रालम्बभाव से प्रेरित हुई मैं विजय से बढ़ते हुए कोरवेश्वर

स्मि विजयेन वर्धमानं देवं कौरवेश्वरं दृष्ट्वा दृष्टयोःमुखं लब्धुम् । इयं चाग्रतो वाराणसी । यावत्प्रविशामि । अहो रमणीयता रजनीमुखस्य । )

अज हि ( अथ हि )—

पउमेसु अद्विगिम्मीलिदेसु कुमुदेसु ईसिविअसिदेसु ।  
पिअइ ईसमअरंदं पयोसपवणो अ भमलआ घडिआ ॥ ३ ॥  
( पद्मेण्वर्धनिमीलितेषु कुमुदेष्वीपद्विकसितेषु ।  
पिवतीपन्मकरंदं प्रदोषपवनश्च भ्रमराश्च घटिताः । )

तहहि—( तथाहि )

इमा वेला एत्थ विलासिणीणं । ( इयं वेलात्र विलासिनीनाम् । )

सत्थो चंदणकदमो थणअले तंवूलवासो मुहे  
कप्पूरवभहिआ अणच्छसरसा कंठं हि कत्थूरिआ ।  
णेहोल्ले चिहुरम्मि मल्लिकुसुमा, कालाअरुद्धूविण  
सोरव्भं तरुणीअणस्स लहदे अंगेसु सोहग्गअ ॥ ४ ॥  
( शस्तश्चंदनकदमः स्तनतटे तां वूलवासो मुखे  
कर्पूराभ्यधिकोऽनच्छसरसां कंठे हि कस्तूरिका ।

के दर्शन कर नेत्रों का सुख प्राप्त करने के लिये आई हूँ । यह आगे वाराणसी है अतः प्रवेश करती हूँ ( प्रवेश का अभिनय कर ) अहा, रात्रि के प्रारम्भ-भाग की बड़ी रमणीयता है—बहुत सुहावना समय है ।

इस समय—

पउमेसु—कमल अर्ध-निमीलित हो रहे हैं और कुमुद कुछ कुछ विकसित हो रहे हैं, उनपर इकट्ठे हुए भौरें और सायंकालिक पवन थोड़ा-थोड़ा मकरन्द का पान कर रहे हैं ॥ ३ ॥

क्योंकि—

यह समय तो यहां स्त्रियों का है—

तथो—तरुण स्त्रियों के स्तन-तट पर उत्तम चन्दन लग रहा है, मुख में कपूर से युक्त पान का निवास हो रहा है, गले में काली एवं ताजी कस्तूरी लगी हुई है, तैल से चिकने तथा कृष्णागरु से सुवासित केशों में मालती के

स्नेहाद्रै चिकुरे मलिकाकुमुमानि कालागरूढभिते,  
सौरभ्य तद्वर्णोजनस्य लभते अग्रेषु सौभाग्यक ॥ )

किंच । बहुमाण्यासपचाञ्चअकुमुममहावाण्या मअण्यस्स दोणिण्वअणि-  
रत्था जत्थ तत्थ पसरति एकोवाअपत्तिहिअअवआरधआवरोहतीव तिमिरा-  
वरणणिल्लुकवाहल्लसकुइअ अगणगण । आलिगतीव परोपर वासर-  
दूरविहडिदाओ आअन्धुमाण्यसतमसदददट्टहत्थाओ दिशाबहूओ दीसति  
पडिक्खणवड्डततमणिवहाओ निमिरवाहिणीओन्व रूपिणीओ शशरवीहिओ  
उज्जलति ददटाविअमम्महतिरिहलग्गविनोहिआओ महंगअणगणताराओ धरे  
धरे दीविआओ ( पुरो विलोक्य ) ( बधूमाननाशप्रदायककुमुममहावाणा  
मदनस्य दीर्घचयनिरस्ता यत्र तत्र प्रसरन्ति एकोत्सातप्राप्तिद्वृताषकारण्वजा-  
धरोहतीव तिमिरावरणणिल्लुक्कवाहल्लसकुचित गगनागण । आलिगतीव  
परस्पर वासरदूरविषट्ठिता आगमिण्यत्सतमसदददट्टहत्था दिशाबह्व ।  
दृश्यंते प्रतिक्ष्णवर्धमानतमोनिबहा तिमिरवाहिन्य इव रूपिण्य नगरी-  
धीष्य\* । उज्ज्वलति ददटापितमन्मथशरफनाप्रविलोकिता । महोगगना-  
गणतारा गृहे गृहे दीपिका । )

फूल मुखोमित हो रहे हैं और सारे शरीर में मुग्धि सौभाग्य की प्राप्ति कर  
रही है ॥ ४ ॥

और—श्रियों के मान-नाश की सूचित करनेवाले पुण्यरूपी महाबाण काम-  
देव की भुजाओं के सनूह से छूट कर यत्र तत्र फैल रहे हैं । एक उत्साह की  
प्राप्ति से हृत अन्धकाररूपी घञ्जा अन्धकाररूप आवरण से विस्तार के लुप्त हो  
जाने के कारण सङ्कुचित आकाशरूपी आगम में मानों नीचे की ओर उतरती  
आ रही है । दिन के समय दूर तक बिजुझी हुई दिशाओं की झिझा आगे आने  
वाले गाढ़ अन्धकाररूपी दण्ड की हाथ में धारण कर मानों परस्पर आभिज्ञान  
ही कर रही हैं । जिनमें प्रतिक्ष्ण अन्धकार का सनूह उड़ रहा है ऐसी नगरी  
की गलिया मूर्तिपुष्प अन्धकार की नदियों के समान दिखाई देती हैं । अच्छी  
तरह तराये हुए कामदेव के बाण की अनी के समान लाल एवं श्वरीरूपी

एदं खु समरावसाणसमूसुअणिस्सरंतसुलहपरिश्रणं महाराअउलं, ता पविसेमि । (प्रविश्यावलोक्य च) एसो खु अअओ सो मत्तादो पडिहागट्ठाणे उवविट्ठो चिट्ठदि । जाव इमादो सअलं उत्तंतं उवलहेमि । (उपसृत्य) अअअ वंदामि । ( एतत्खलु समरावसानसमुत्सुकनिस्सरत्सुलभपरिजनं महाराजकुलं । तत्प्रविशामि । एष खत्वार्यः सः मत्तातः प्रतीहारस्थाने उपविष्टः तिष्ठति यावदस्मात्सकल वृत्तातमुपलभामि । आर्य वंदे । )

कंचुकी—( विलोक्य ) कथं भद्रसेना । स्वस्ति भवत्यै । अथ कुतस्त्वं इयत्या वेलया स्वं देशं परित्यज्यागता ।

प्रतीहारी—हरिसेण अ विसादेण अ । ( हर्पेण च विपादेन च । )

कंचुकी—विप्रतिपिद्धमेतत् । व्याख्यानत एवात्र विशेषप्रतिपत्तिः ।

प्रतीहारी—हरिसो दाव कोरवेसरस्स विजआदो । ( हर्पस्तावत्कौरवेश्वरस्य विजयात् । )

आकाशाङ्गण के तारों के समान दीपक घर घर में जल रहे हैं । ( अगे देख कर )

यह युद्धसमाप्ति में उत्सुक, बाहर निकलते हुए, सुलभ परिजनों से युक्त महाराज अकम्पन का राजभवन है, इसलिये इसमें प्रवेश करता हूं । ( प्रवेश कर तथा देख कर ) यह मेरे पूज्य पिता प्रतीहार के स्थान पर बैठे हुए हैं अतः इनसे सब समाचार मालूम करती हूं । ( पास जाकर ) आर्य ! वन्दना करती हूं ।

कञ्चुकी—( देखकर ) क्या भद्रसेना है ? भला हो आपका । हा, यह तो कह, इस समय अपना स्थान छोड़ किसलिये आई है ?

प्रतीहारी—हर्प से और विपाद से भी ।

कञ्चुकी—यह तो विरुद्ध बात है, व्याख्यान से ही यहाँ विशेष का निश्चय हो सकता है ।

प्रतीहारी—हर्प तो कौरवेश्वर की विजय से हो रहा है

कचुकी—नेन दुग्मत्रण विपादहेनु व्याचक्ष्व ।

प्रतीहारी—चक्रवर्तिमुदसस अककिचिखो अदिक्मेण अवाहिद सवेदि हिअअ । ( चक्रवर्तिमुनस्याककीर्तिगतिमेणात्याहित शक्ते हृदयम् । )

कचुकी—युक्तमेवैतत् । किन्तु देवेन पुनरस्मासु प्रसीदता विपादस्यानेपि हर्ष आदिष्टः ।

प्रतीहारी—( सहर्षं ) अज किं सच्च मणासि । ( आर्य किं तस्य भणसि । )

कचुकी—महती सा कथा । उपविश्य श्रूयताम् ।

प्रतीहारी—तेरा हि विजयेण बड्डत कुमार पेक्खिअ एसा आअच्छेमि । ( तेन हि विजयेन वर्धमान कुमार प्रेक्ष्य एषा आगच्छामि । )

कचुकी—मद्रसेने निद्रायत इदानीं युद्धपरिधातो वेवः । कथितश्चाहं नद्यावतसौधानकीमात्रपरिजनेन देवेन, दीपतामियमेका रात्रिर्मे निद्रायितस्य । तस्माद्यु रक्षता द्वारदेश इति ।

कचुकी—यह नहीं पूछना है, विपाद का कारण कहो ।

प्रतीहारी—चक्रवर्ती के पुत्र अर्ककीर्ति के अपमान से हृदय अनिष्ट की आशङ्का करता है ।

कचुकी—यह आशङ्का गीना उचित ही है किन्तु हम लोगोंपर प्रसन्न रहनेवाले देव ने विपाद के स्थान में भी हर्षका ही आदेश दिया है ।

प्रतीहारी—( हर्ष के साथ ) आर्य ! क्या सच कह रहे हैं ?

कचुकी—वह कथा बहुत बड़ी है बैठकर, सुनी जाय ।

प्रतीहारी—तो मैं विजय से बढ़ने हुए कुमार को देख कर अभी हाल आती हूँ ।

कचुकी—भली मद्रसेना ! इस समय युद्ध में धके हुए देव नींद ले रहे हैं और नभ्यावर्त तथा सौधानकि मात्र परिजन से युक्त देव ने मुझसे कहा भी है कि नींद की इच्छा रखनेवाले मेरे लिये यह एक रात्रि दी जाय इस-लिये दरवाजे की अच्छी तरह रक्षा की जाय ।

प्रतीहारी—तेणं हि पतोहं जाव देवस्स पडिवालेमि । ( तेन हि प्रबोधं यावदेवस्य प्रतिपालयामि । )

कंचुकी—तेन हि स्वैरमुपविश्यताम् ।

प्रतीहारी—जं भवं आणवेदि ( उपविश्य ) अज वलीअं खु मे कौऊ-हलं समरावसाणादो परं कीरिसो एत्थ उत्तंतोत्ति जाणिदुं । ता भणाहि । ( यद्भवानाज्ञापयति । आर्यं वलीयः खलु कौतूहलं समरावसानात् परं कीदृशोऽत्र वृत्तांत इति ज्ञातुं । तस्मात् भणस्व । )

कंचुकी—तेन हि श्रूयताम् ।

प्रतीहारी—अवहिदग्धि । ( अवहितास्मि । )

कंचुकी—युद्धे यदा तावन्निगृहीतार्ककीर्तिः कौरवेश्वरः प्राविजद्वाराणसीं तदैव वाराणसीपतिस्सविपादं च ससंभ्रमं कोपसृत्य वैचित्त्यविधुरोऽवोचत् ।

शोचम्यवाढं चिरजीवितस्य चिरात्तदेतत्फलमद्य लब्धम् ।

वद्धोऽर्ककीर्तिस्समरे द्विपेति श्रुतं च दृष्टं च मया यदद्य ॥ ४ ॥

प्रतीहारी—तो जय तक देव जागते हैं तब तक प्रतीक्षा करती हूँ ।

कंचुकी—तो फिर अच्छी तरह बैठ जाओ ।

प्रतीहारी—जो आप आज्ञा दें ( बैठ कर ) आर्य ! युद्ध की समाप्ति के बाद यहां क्या कैसा समाचार रहा यह जानने के लिये मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है, इसलिये कहिये ।

कञ्चुकी—तो सुनो ।

प्रतीहारी—सावधान हूँ ।

कंचुकी—युद्ध में अर्ककीर्ति को पकड़ कर जिस समय कौरवेश्वर ने वाराणसी में प्रवेश किया उसीसमय वाराणसी के राजा अकम्पन महाराज विपाद और संभ्रम के साथ पास आकर वेचैनी से दुखी हांवे हुए बोले ।

शोचस्यवाढं—लम्बी आयु के विषय में व्यर्थ ही शोक करते हो क्योंकि लम्बी आयु का फल आज प्राप्त कर लिया । वह फल यह कि आज मैंने यह सुना और देखा कि अर्ककीर्ति युद्ध में शत्रु के द्वारा बांधा गया ॥ ५ ॥

प्रतीहारी—महानुभावो काशीराजो नैख अककित्तियो पराभवं असह-  
माणो ण गहिजदि । ( महानुभाव काशीराज येनाककित्तं पराभवमसहमानो  
न गृह्यते । )

कचुकी—एवमेतत् ।

न जातु जामानुरसो जयस्य पराक्रम. काशिपतिं धिनोति ।

धुनात्त सूच्यैयशसोऽर्ककीर्ते रकीतिरेषा भरतात्मजस्य ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—एवमेतत्, तदो तदो ( ततस्ततः । )

कचुकी—एवमेतत् । अयं सावित्रेणमयोचत् कौरवेश्वर काशीराज ।

यथा—

यद्धुं भयानात्मन ण्व यधु नार्हस्यशक्त भरतस्य सूनुम् ।

धिमुच्यतामेव तदाशु यथात् स मुच्यता मुच्य तवापि मोहः ॥७॥

अथ च ।

सुतोऽयमाशो ननु चक्रवर्तिनस्तुतायमानेवमवतस्म ण्व हि ।

इति त्वया हिम्भ न हत चित्तित पितु. कुरोर्नानुकरांपि चेष्टितै ॥ ८ ॥

प्रतीहारी—काशीराज महानुभाव उत्तुष्ट पुत्र है जिससे कि उन्हें  
अर्ककीर्ति का पराभव सहन नहीं हो रहा है ।

कचुकी—यह बात ऐसी ही है ।

न जातु—जामाता जयकुमार का वह पराक्रम काशीनरेश का कमी भी  
समुष्ट नहीं करता किन्तु उत्तुष्ट यशस्वी भरतपुत्र अर्ककीर्ति की यह भारी  
अपकीर्ति उन्हें काय्यत कर रही है ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—ऐसी ही बात है फिर क्या हुआ !

कचुकी—फिर काशीराज ने डांट दिग्गते हुए कौरवेश्वर से कहा ।

यद्धुं—आप अपने ही भाई भरतपुत्र को नि.शुद्ध होकर बाँधने के  
लिये योग्य नहीं हैं इसलिये यह शीघ्र ही बन्धन से छूट जाय न केवल यही  
बन्धन से छूट जाय, हे मूर्ख ! तुम्हारा वह मोह भी छूट जाय ॥ ७ ॥

और मा,

सुतोऽय—'निश्चय से यह चक्रवर्ती का प्रथम पुत्र है इसका अपमान  
होने पर चक्रवर्ती ही अपमानित होंगे' हे बालक ! खेद है कि तूने इस बात



प्रतीहारी—सिक्खेदव्वं सिक्खिन्दो देव्वो कासीराएण । तदो तदो ।  
( शिक्षितव्यं शिक्षितो देवः काशीगजेन । ततस्ततः । )

कचुकी—ततश्च पुनरपि काशीराजः पौरवं चोद्दिश्य सोमालंभमवोचत् ।

अस्थानाभिनिवेशवद्भ्रमरोत्साहेन तावत्त्वया  
प्रेक्षापूर्वविधायिनापि न कृतं क्षात्रोचितं पौरव ।  
मोहादित्थमतिक्रमं विदधता संभावनीये जने  
सत्यं कौरव तत्त्वयापि न कृतं यत्तद्विवेकोचितम् ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—साहु महागज साहु सोहसां ते अणुसासयां । तदां तदो ।  
( साधु महाराज साधु शोभन ते अनुशामनं । ततस्ततः । )

कंचुकी—अत्रांतरे निग्वद्यप्रेषितो विद्याधरदूतो चिन्तागतिमनोगती चक्र-  
वर्तिसकाशादागतो लेखकस्तौ गगनतलादवतगिष्ठाम् ।

का विचार नहीं किया । तू अपनी चेष्टाओं से पिता कुरु का अनुकरण नहीं  
कर रहा है ॥ ८ ॥

प्रतीहारी—काशीराज ने राजा जयकुमार के लिये शिक्षा देने योग्य  
वात की शिक्षा दी । फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—तदनन्तर फिर भी काशीनरेश ने अर्ककोर्ति और जयकुमार  
को लक्ष्य कर उलाहना के साथ कहा—

अस्थ ना—हे पौग्व ! यद्यपि तुम विचारपूर्वक काम करनेवाले हो  
तथापि अयोग्य हट से युद्ध के लिये उत्साहित होकर तुमने जो किया है वह  
क्षत्रियों के योग्य नहीं किया और हे कौरव ! आदरणीय जन के विषय में  
अज्ञानवश इस प्रकार के अपराध को करते हुए तुमने भी जो किया है वह  
विवेक के योग्य नहीं किया ॥ ६ ॥

प्रतीहारी—ठीक महाराज ठीक । आपका अनुशामन बहुत अच्छा है ।  
फिर क्या हुआ ?

कंचुकी—इसी बीच में निरवद्य मन्त्री के द्वारा भेजे गये चिन्तागति  
और मनोगति नाम के दो विद्याधर-दूत चक्रवर्ती के पास में हाथ में पत्र लिये  
आकाश से नीचे उतरे ।

प्रतीहारी—कपदि मे हिन्यन्न कीरिषी एतव चक्रवर्तिष्ठो पडिपत्तिस्सि ।  
( कपते मे हृदय कीदृशा अत्र चक्रवर्तिन प्रतिपत्तिरिति । )

कचुकी—मद्रे मा मैषा । स लल्लु दिव्यमाउप सम्पक् पश्यति ।

प्रतीहारी—( सहर्षं ) अब मण्णाहि कीरिसा लेइत्यो । ( आर्य भणस्व कीदृशो लेखार्थः । )

कचुकी—आस्ता तावद्विस्तारः । अयतां पुनः कौरवंशवराय प्रहितस्य लेखार्थस्य सार ।

प्रतीहारी—कह विअ । ( कथमिव । )

कचुकी—

यथार्ककीर्तिचिनयात्प्रमाद्यन्निरस्ततद्र मम शासनीय ।

तथोत्पद्यप्रस्थित एव मोहात् स्वयार्पि पथ्ये पथि घतनीय ॥१०॥

प्रतीहारी—दाणिं नु म उस्सासद हिअएणा, परिता नु महापुरिसा  
शाम । अब तदो तदो । ( इदानीं गल्लु मे उच्छ्वसित हृदयेन इदृशा लल्लु  
महापुरुषा नाम । आर्य ततस्वत । )

प्रतीहारी—मेरा हृदय तो काय रहा है कि इसविषय में चक्रवर्ती का क्या अभिप्राय है ।

कचुकी—भली बेटी । हर बात । दे दिठ्ठपुरुष अच्ची तरह देखते हैं ।

प्रतीहारी—(हर्ष के साथ) आर्य । कहो कि लेख का अर्थ कैसा था ?

कचुकी—पिस्ता रहने दो, कौमोेश्वर के लिये भेजे हुए लेखार्थ का सार सुनो

प्रतीहारी—कैसा ?

कचुकी—

यथार्थ—जिमप्रकार विषय से प्रमाद करता हुआ अर्ककोर्नि आलस्य-  
रहित हात्तर मेरे लिये शासन करने योग्य है उसीतरह मोहवश उन्मार्ग में  
प्रस्थान करने वाला यह अर्ककीर्ति तुम्हारे द्वारा भी हिन्कारी मार्ग में लगाने  
के योग्य है ॥ १० ॥

प्रतीहारी—अब मेरे हृदय ने सास ली । सन्मुख हो महापुरुष ऐसे  
होते हैं । आर्य फिर क्या हुआ ?

कंचुकी—श्रूयतां च काशीराजाय प्रहितस्य लेखस्यार्थः ।

प्रतीहारी—कहं विप्र । ( कथमिव । )

कंचुकी—

यद्युष्माकमसौ वचांसि शिरसाभ्यर्थ्यानि शेषास्थया

व्यामोहादतिलंघतेऽस्म तदयं पुत्रोऽर्ककीर्तिर्ननु ।

अप्यस्मिन् भवतां न कर्तुमुचितोपेक्षा समीक्षावतां

मंदाज्ञो भवति प्रमाद्यति जने को वा विनेये सुधीः ॥ ११ ॥

ततश्च ।

न द्वेष्टि मेघेश्वरमर्ककीर्तिर्मेघेश्वरो द्वेष्टि न चार्ककीर्तिम् ।

यथा सुहृद्भूय विवांतवैरौ तथा भवद्भिः प्रतिबोधनीयौ ॥ १२ ॥

प्रतीहारा—कहं असाधारणो काशीराज चक्रवर्तिणो बहुमाणो । ( कथ-  
मसाधारणः काशीराजे चक्रवर्तिनः बहुमानः । )

कंचुकी—किमुच्यते काशीराजः खल्वसौ ।

कञ्चुकी—अब काशीराज के लिये भेजे हुए लेख का अर्थ सुनिये ।

प्रतीहारी—कैसा ?

कञ्चुकी—शेषाक्षतों के समान आदरपूर्वक शिर से धारण करने योग्य आपके वचनों का अर्ककीर्ति ने मोहवश जो उलझन किया है सो यह अर्ककीर्ति निश्चय से आपका पुत्र है इसके विषय में आप जैसे विचारशील पुरुषों को उपेक्षा करना उचित नहीं है । प्रमाद करने वाले शिष्यजन में ऊपर कौन बुद्धिमान् मन्दाज्ञ होता है—आज्ञा देने में आलसी होता है ॥ ११ ॥

इसलिये,

न द्वेष्टि—जिस तरह अर्ककीर्ति न मेघेश्वर से द्वेष करे और न मेघेश्वर अर्ककीर्ति से द्वेष रखे किन्तु मित्र होकर दोनों वैररहित हो जावें उस तरह आपके द्वारा समझाने के योग्य हैं ॥ १२ ॥

प्रतीहारी—काशीनरेश में चक्रवर्ति का कैसा आसाधारण आदरभाव है ?

कञ्चुकी—क्या कहना है ? सचमुच ही वह काशीनरेश हैं ।

यो हि—

भक्तिं समस्तदुरितापहृतिप्रगल्भां  
धत्ते सदैव परमेश्वरिणि योगनिष्ठ ।

न्यामोहसशयविपर्ययबोधवुद्धि—

स्तत्त्वं विवेचयति सत्त्वरितैकतान ॥ १३ ॥

प्रतिहारी—अब बुद्धिगतलोहत्वेण किं परिहरेण कार्शराएण । ( आर्य  
बुद्धिगतलोहत्वायेन किं प्रतिपन्न कार्शराजेन । )

कंचुकी—किमन्यत् । सबहुमानयमिष्टुतवान् महाराजमरत । यथा—  
शर्म दधानो हृदि योगिदुर्लभ गुणैः कियद्वा पितुरेव हीयते ।

तदस्य सच्चित्य चरतु साधवस्सुदुष्टव वृत्तमदुष्टवृत्तयः ॥ १४ ॥

पुनरपि तमुद्दिश्यावोचत् ।

स्वय्येप नस्तार्चजनीनसूनौ यशम्बतीहात्र न भाति हर्ष ।

किमन्यदेते पितर यथा ते स्वामात्मशीचाय यथा स्मराम ॥ १५ ॥

भक्ति—ध्यान में लीन रहनेवाले जो कार्शीनरेश सदा ही समस्त  
पापों के नष्ट करने में समर्थ भक्ति परमेश्वरी में वारण करते हैं और अनध्यव-  
साय, सशय तथा विपर्यय रहित ज्ञान से युक्त ही सम्यक्चरित्र का पालन  
करते हुए तत्त्व का विवेचन करते हैं अर्थात् सम्प्रदर्शन सम्प्रज्ञान और  
सम्यक् चरित्र से युक्त हैं ॥ १३ ॥

प्रतीहारी—आर्य । लेखार्य को समझकर कार्शीराज ने क्या विचार  
स्थिर किया ।

कञ्चुकी—और क्या ? बड़े सम्मान के साथ उन्होंने महाराज मरत की  
स्तुति की । जैसे—

शर्म—हृदय में मुनिदुर्लभ समाधिको धारण करता हुआ यह मरत  
गुणों द्वारा पिता से कितना कम है ! अर्थात् कुछ भी नहीं, इसलिये समी-  
चीन वृत्ति को धारण करने वाले साधुपुरुष इसको योग्य सद्बृत्त का विचार  
कर वैसा ही आचरण करें ॥ १४ ॥

फिर भी उन्हीं को लक्ष्य कर कहा,

स्वय्ये—सर्व हितकारी भगवान् जिनेन्द्र के पुत्र तुम्ह यशस्वी के विषय

प्रतिहारी—जुत्तं आचक्खिदं काशीराएण । तदो तदो । ( युक्तमाचक्षितं काशीराजेन । ततस्ततः । )

कंचुकी—ततश्च तूष्णीमासीनमर्ककीर्ति पुनरप्यवोचत् काशीराजः ।

तथा—

न नागेर्नाप्यश्वैरपरिमितनागाश्वपृतना-

स्समाराध्या यूयं ननु भरतसूनो कतिपयः ।

धनं चेद्दास्यामस्तदपि न वरं यत्र निधयो

नवाप्यस्तालस्याः सपदि सुवतेऽभीष्टमिह वः ॥ १६ ॥

किंच—

महीखंडं दद्यां याद तदपि हास्यं यदखिला

मही युष्माकीणा हिमगिरिसरिद्धल्लभमिता ।

न सौहार्दं प्राथ्यं नृपककुद युष्माभिरिह नः

परं हि प्रेमाणां प्रथयति पिताम्मासु भवतः ॥ १७ ॥

मैं मुझे जो हर्ष हो रहा है वह यहाँ नहीं समा रहा है । और क्या कहूँ ये लोग जिस प्रकार तुम्हारे पिता—भगवान् वृषभदेव का स्मरण करते हैं उसी प्रकार हम आत्मशुद्धि के लिये तुम्हारा स्मरण करते हैं ॥ १५ ॥

प्रतीहारी—काशीराज ने ठाक कहा । फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—तदनन्तर चुर बैठे हुए अर्ककीर्तिसे काशीराज ने फिर कहा ।

तथा—

न नागे—हे भग्नपुत्र ! आपके पास तो अपरिमित हाथियों और घाड़ों की सेनाएँ विद्यमान हैं इसलिये कुछ हाथियों और घाड़ों के द्वारा आप आगधना करने योग्य नहीं हैं । यदि आपको धन देते हैं तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ नींदी निधियाँ आलस्य-रहित हो शीघ्र ही आप सब के अभीष्ट पदार्थों को उत्पन्न करती रहती हैं वहाँ थोड़ा सा धन क्या मूल्य रखता है ॥ १६ ॥

और भी—

महीखण्ड—यदि कुछ पृथिवी का खण्ड देता हूँ तो यह भी हँसी की बात होगी क्योंकि हिमगिरि से लेकर समुद्रपर्यन्त की समस्त भूमि आपकी ही

ततश्च युवराज भूयतामस्मदभीष्टितम् ।

स्वयं वरे प्राप्य सपुष्पमाला तथा सम यातु जयः स्वदेशम् ।

त्वां रत्नमाला गुणरत्नराशि संवाहयत्वर्घ्यमसावनर्घा ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—सोव्वण जप्पिद काशीराएण । तदो तदो । ( शोभन जल्पित काशीराजेन । ततस्ततः )

कञ्चुकी—ततश्च प्रत्यास्थानेनैव कृताभ्युपगममर्ककीर्ति काशीराज साद-  
रमात्मन एव रथमारोप्य स्वभवनमनैगीत् ।

प्रतीहारी—तदो तदो । ( ततस्ततः )

कञ्चुकी—काशीराजनियोगेन हेमागद कौरवेश्वर राजभवननिकट-  
तिन्यत्र भवने समुचितसमुदाचारपुरस्सरं न्यवीविशत् । अन्तु बल एहीत्वा  
स्कधावार गताविरमदविशारदो ।

प्रतीहारी—तदो तदो । ( ततस्ततः )

हे । हे राजश्रेष्ठ ! आपके साथ मित्रता भी हम लोगों को प्रार्थनीय नहीं है  
क्योंकि आपके पिता हम लोगों पर परम प्रेम विस्तृत करते हैं ॥ १७ ॥

इसलिये युवराज ! जो हम चाहते हैं वह मुनिये ।

स्वयं वरे—यह जयकुमार स्वयंवर में पुष्पमाला का पाकर उठ—सुशो-  
चना के साथ अपने देशकी जावे और अमूल्य रत्नमाला ( पद्ममें रत्नमाला  
नामकी पुत्री ) गुणरूपी रत्नों की राशिस्वरूप तुम श्रेष्ठ वर को प्राप्त  
करें ॥ १८ ॥

प्रतीहारी—काशीराज ने बहुत अच्छा कहा । फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—तदनन्तर निषेध करते ही स्वीकृत करनेवाले अर्ककीर्ति को  
बड़े आदर के साथ अपने ही रथ पर बैठाकर काशीराज अपने भवन ले गये ।

प्रतीहारी—फिर क्या हुआ ?

कञ्चुकी—काशीराज की आज्ञा से हेमागद ने कौरवेश्वर को राजभवन  
के निकटवर्ती भवन में योग्य शिष्टाचार के साथ ठहराया । बाकी सेना को  
लेकर हरमद और विशारद शिविर की ओर चले गये ।

प्रतीहारी—फिर क्या हुआ ?

कंचुकी—अमुष्याश्च रात्रेस्तुर्ययामे कल्पितोर्ककीर्तेः कौतुकबंधः ।  
कौरवेश्वरस्य तु श्वो भविता ।

प्रतीहारी—सर्वं कल्लागं एव । ( सर्वं कल्याणमेव )

कंचुकी—तदेना रात्रि भवत्या रक्षतामायकक्षा यावदहमभ्यंतरकक्षायां  
परितः सचरन्नभिरक्षामि ।

प्रतीहारी—जं अज आणवेदि । ( यदार्यं आज्ञापयति )

( इति निष्कांती )

मिश्रविष्कम्भः

---

( ततः प्रविशत्युपविष्टो राजा नन्द्यावर्तश्च )

राजा—( आत्मगतं ) भोः चिरादद्य समरव्यतिकरतिरस्कारमनोरथ-  
यूथानाव्राता सन्निधत्ते हृदये हृदयवल्लभा सानुरोधम् ।

कञ्चुकी—इस रात्रि के चौथे पहर में अर्ककीर्ति का पाणिग्रहण संस्कार  
निश्चित किया गया है और कौरवेश्वर का कल होगा ।

प्रतीहारी—सब अच्छा ही हुआ ।

कञ्चुकी—इसलिये इस रात्रि भर पहली कक्षा की आग रक्षा कीजिये  
और भीतरी कक्षा की सब ओर घूमता हुआ मैं रक्षा करवा दूँ ।

प्रतीहारी—जो आप आज्ञा दें ।

( इस तरह दोनों बाहर निकल गये )

मिश्र विष्कम्भ

---

( इसके बाद बैठे हुए राजा और नन्द्यावर्त प्रवेश करते हैं )

राजा—( अपने मन में ) अरे आज चिरकाल बाद युद्ध-सम्बन्धी व्या-  
पार से तिष्ठकृत मनोरथ-समूह से दूरवर्ती हृदयवल्लभा बड़े अनुरोध के साथ  
हृदय में संनिहित हो रही है अर्थात् युद्ध की व्यग्रता के कारण अवतक प्रिया

तत्प्रार्थयामि घटनाय रणे प्रवृत्ते  
 नैवागसे विघटनापि मनोरथा य ।  
 लब्धक्षणा प्रियतमा प्रति हे भवत  
 सभूय यत्किमपि सप्रति सूत्रयतु ॥ १९ ॥

( चिन्तामभिनीय ) अहो खैरचारिता दस्तावसराणां मनोरथानाम् ।

अमी हि—

आलिङ्गत्यबला बलादनुनयव्यापारदूरस्थिता  
 निर्यथा नुवर्तयत्यवचनामालापयत्युत्सुकाः ।  
 आजिघ्रति निरु धर्तुमनिभृत च्छुबति कपोत्तरा  
 सपातेन मनोरथा न दधति ग्रीडावकाशानपि ॥ २० ॥

( सोरठ ) किंच बहना ।

का ध्यान छूट गया था पर अब युद्ध समाप्त होते ही पुनः हृदय में प्रिया का ध्यान आ रहा है ।

तत्प्रार्थयामि— हे मनोरथो ! मैं पुनः एकत्रित होने के लिये आप से प्रार्थना करता हूँ । युद्ध के जारी होने पर आपका अलग हो जाना भी अस्वस्थ के लिये नहीं है । अब अक्सर प्राप्त हुआ है इसलिये आप एकत्रित हो प्रियतमा के प्रति जो क्रुद्ध भी विचार करना चाहो करो ॥ १९ ॥

( चिन्ता का अभिनय कर ) अहा, जिन्हें अक्सर दिया गया है ऐसे मनोरथों की बड़ी स्वच्छन्दता है ।

क्योंकि यह मनोरथ,

आलिङ्गन्त्यबला—अबला का अवदंस्ती आलिङ्गन करते हैं, अनुनय के व्यागार से दूर स्थित—रूठी हुई अबला को हठपूर्वक अनुकूल करते हैं, चुपचाप बैठी हुई अबला को सूघते हैं और कापती हुई अबला का सहमते सहमते चुम्बन करते हैं । ये सब मनोरथ समुदाय के साथ आ रहे हैं और लक्ष्मणा का प्रकाश भी धारण नहीं करते ॥ २० ॥

( उत्कण्ठा के साथ ) बहुत कहने से क्या लाभ है !



स्वरमद्य युगपद्विनिस्तृतैस्तामकंपनसुवासिनीं प्रति ।

यद्विकल्पितमभून्मनोरथैस्तन्ममापि वचसां न गोचरः ॥ २१ ॥

( स्मृतिमभिनीय ) कथमद्यापि सैव हृदये परिवर्तते स्वयंघरयंती काशी-  
राजसुता । यदा खलु—

मनोरथैस्तत्क्षणपूर्वमाणैर्निर्यद्भिरंतर्निविडैरिवैतत् ।

अंसद्वयं मे पुलकैः स्फुटद्भिः प्रत्युत्थितं तत्करलालनाय ॥ २२ ॥

अथवा । कथमंसयोरेवौत्सुक्यं कथयाम । येन—

दूरादहपूर्विकयोपस्तृत्य प्रियाकरस्पर्शरसं जिहीर्षुः ।

ममान्यदप्युत्सुकमगमं संसद्वये संक्रमितुं तदैपीत् ॥ २३ ॥

अंगीकरोति च न पुनर्गन्यानि ममाङ्गानि बहुमानः । यतः

तत्पूर्वकं मे स्रजमर्पयंत्या स्रङ्निर्विपेण करद्वयेन ।

नतांसया स्पृष्टमिदं तु नीतमुत्तंसतामंसयुगं शरीरे ॥ २४ ॥

स्वैर—इस समय स्वच्छन्दतापूर्वक एक साथ निकले हुए मनोरथों ने उस अकम्पन सुता के प्रति जो जो सकल्प किये हैं वे सब मेरे भी वचनों के विषय नहीं हैं ॥ २१ ॥

( स्मृति का अभिनय कर ) क्या आज भी वही स्वयंवर करती हुई काशीराज—सुता हृदय में घूम रही है ? जिस समय कि,

मनोरथै—मेरे ये दोनों कन्धे उठते हुए रोमाञ्चों से ऐसे जान पड़ते थे मानों उसके हाथों का लालन करने के लिये ही उठ खड़े हों । वे रोमाञ्च भी ऐसे लगते थे मानों जो मनोरथ भीतर अतिसघन मात्रा में स्थित थे वे ही तत्काल पूरित होने से बाहर निकल आये हों ॥ २२ ॥

अथवा कन्धों की ही उत्सुकता क्या कहूँ ?

दूरादहं—मैं पहले पहुँचूँ मैं पहले पहुँचूँ इस भावना से पहले पहुँच कर प्रिया के हस्तस्पर्श के सुख को हरण करने के इच्छुक मेरे दूसरे अङ्ग भी उस समय दोनों कन्धों में ही प्रविष्ट होना चाहते थे ॥ २३ ॥

और बहुसन्मान मेरे अन्य अङ्गों को स्वीकृत नहीं करता । क्योंकि

तत्पूर्वकं—माला के समान दोनों हाथों से मेरे लिये माला अर्पित करती

प्रियतमास्पर्श इति हि किमप्यन्यत्सपन्न रसायनमुत्कृष्टमानस्यातः-  
करणस्य ।

तथाहि—

न हारयष्टौ न तुषारवृष्टौ न चन्द्रकाते न च चन्द्ररश्मौ ।

ध्रुव मया जातुचिदन्वमात्रि प्रियांगसस्पर्शसुखस्य लेशः ॥ ५ ॥

किंच । तस्या अपि विसृणुक्लृप्तगुफना कुवलयगर्भदलाममालिका कठि-  
नयति समस्तमादबद्रव्यरचितेन तनुमृगोदयः । किञ्चान्यत् ।

स्रजमुपरि कराभ्यामसञ्चोरर्पयत्या

छलचलितवयस्याहस्तसंचारिताभ्याम् ।

मम किमपि रहस्यं कर्णयोरभ्युपेत्य

स्खलितवलयनादङ्गशनेवाभ्यधायि ॥ ६ ॥

अथवा किमन्यदिह कथ्यते ।

हुई उस नम्रकन्धो वाली प्रिया ने सबसे पहले सार्शकर दोनों कन्धों का मेरे  
शरीर में आभूषणपन प्राप्त कटाया था ।

प्रियतमा का स्पर्श ही जाना यह उत्कृष्टत होतें हुए अन्तःकरण के  
तिथे कुछ अद्भुत शक्तिशाली रसायन है ।

क्योंकि—

न हार—मैंने कभी भी प्रिया के शरीर-स्पर्श से होनेवाले सुख का लेश  
न तो हारयष्टि में, न वर्ष की वर्षा में, न चन्द्रकान्त मणि में और न चन्द्रमा  
की किरणों में ही अनुभूत किया है ॥ २५ ॥

और उस, मृगनयनी का शरीर मानों समस्त कीमल द्रव्यों से रचा गया  
है इसीलिये तो मृणालतन्तु में गुंथी नीलकमल के भीतरी दल के अप्रभाग  
की माला को कठोर बना रही है । इसके सिवाय—

स्रज—छनपूर्वक चलित वयस्या के हाथों से संचारित हाथों के द्वारा  
कन्धों पर माला अर्पित करती हुई उस प्रिया ने गिरी हुई चूड़ी के शब्द के  
बहाने मानों मेरे कान के पास आकर मेरे लिये कोई रहस्यपूर्ण बात कही  
थी ॥ २६ ॥

अथवा यहा और क्या कहा जाय ।

१४ वि० की०

आदाय दाम मयि कौसुममर्पयन्त्या  
किञ्चिद्विकुञ्चनचलच्छिथिलोत्तरीयम् ।

आक्रम्य पद्मलट्टशा कुसुमायुधस्य  
वाणैरिव स्फुटमहं पारवेष्टितोस्मि ॥ २५ ॥

( सविशेषीत्सुक्यं ) किं च तस्याः—

स्विद्यदंगुलिगुरुत्रपाजडं हस्तयुग्ममवशं मदंसयोः ।

सस्तमुक्तमधुना स्मृतिं गतं सस्मितप्रियसखीकरोद्घृतम् ॥ २६ ॥

यदा खलु मे ।

उच्छ्रयसोन्नतिशिखरे प्रस्विद्यत्पुलककृतपुरःसरणे ।

अनुसरणमिवाधत्तां तस्याः कुचयोरिमे अंसे ॥ २७ ॥

नन्द्यावर्तः—( विभाव्य । आत्मगतं ) कथमविच्छिन्नश्चितासंतानो दे-  
वस्य । अहो अदीर्घसूत्रता मदनस्य । यतः सन्निकृष्यमाणोरि प्रणयिनीसमा-

आदाय—जब वह फूलों की माला लेकर मुझपर छोड़ रहा था तब उसका उत्तरीय बल कुछ मुझने के कारण चञ्चल होता हुआ नीचे की ओर खिसक गया था तथा उसी समय सबन बिरुनीवाली दृष्टि से उसने मुझपर आक्रमण किया था उससे जान पड़ता था मानों मैं स्वयं ही काम के वाणों से वेष्टित हो गया हूँ ॥ २७ ॥

( अत्यधिक उत्सुकता के साथ ) और उसकी,

स्विद्यदं—जिसकी अंगुलियां पसीना से तर तथा जो बहुत भारी लज्जा से जड़ होकर एकदम धिक्का हो रहा था ऐसा उसका हस्त-युगल मेरे कन्वों पर छूटकर पड़ गया था तब मुसकराती हुई प्रियसखी ने अपने हाथों द्वारा उसे ऊपर उठाया था । यह सब मुझे इस समय याद आ रहा है ॥ २८ ॥

जिस समय कि—

उच्छ्रय—ऊँचाई के कारण जिनके अग्रभाग ऊँचे उठे हुए हैं, तथा पसीना से युक्त रोमाञ्च जिनके आगे आगे उठ रहे हैं ऐसे ये मेरे कन्वे उसके स्तनों का ही मानों अनुकरण कर रहे थे ॥ २९ ॥

नन्द्यावर्त—( विचार कर अपने मन में ) क्या देव की चिन्ता की सन्तति बीच में टूटने वाली नहीं है । अहा काम का कितना उतावलापन

गमसमयो नालममुप्यात्मनोपस्थानाय । भवतु पृच्छामि । ( प्रकाश ) देव  
कवेदानीं मनः परिभ्राम्यति । यत्तूष्णीमेवास्वते ।

राजा—सखे नयावर्त कय कययामि ।

कराभ्यामुत्सृज्य स्रजमुपरि नमोहननीं

पलादतर्धोरि मम निभृतमान्छिद्य च मनः ।

पुरो धैर्यालेपः स च मण्डि यौतो दयितया

न विधास्तथीत पुनरथ क्रियद्दूरमनया ॥ ३० ॥

नन्द्यार्त—देव किमत्र लिखते ! ननु गतैव स्वयंवररत्नहात् प्रभृति दूय-  
मानया वरिष्ठमायितसमरव्यापार देवमवेक्षितुं पुनरस्मिन्ना तत्र भवत्या काशी-  
राजपुत्र्या देवपादमूलं प्रति प्रेषिता सकेनस्थानप्रदर्शनाय सौधातकिं पृष्टीत्वा  
नवमालिका ।

राजा—अस्त्येतत् । गरीयान् खलु कातरनया समरकर्मण्यपाहितम-  
स्मानु शकयानाया काशीराजदुहितुं परितापः ।

है क्योंकि प्रिया के मिलने का समय निकटवर्ती होने पर भी इसके अपने  
आपकी स्थिरता के लिये नहीं हो रहा है । खैर पूछता हूँ ( प्रकाश ) देव ।  
इस समय मन कहा घूम रहा है जिसमें कि तुरचाप बैठे हो ।

राजा—मित्र ! नयावर्त ! कैसे कहूँ ?

कराभ्या—इस चलनभा ने दोनों हाथों द्वारा मेरे ऊपर गोहनी माला  
झालकर अम्बररङ्ग में धीरे धीरे मेरे सुन्दर मन की जगदंस्त्री छीन लिया ।  
इतना ही नहीं उसपर जो धैर्य का लेप था उसे भी उसने खींच ही धी डाला  
है अब वह इस मन को कितना दूर ले गई यह मैं नहीं जानती ॥ ३० ॥

नन्द्यार्त—देव ! यहाँ मेरे कयो किया जा रहा है ? स्वयंवर-सम्बन्धी  
बलह के बाद दुर्खा होती हुई माननीय काशीराजपुत्री—मुलाचना युद्ध  
का कार्य समाप्त करनेवाले आपको देखने के लिये कौतूहल से युक्त थी अतः  
उसने नवमालिका नाम की सजी आरके चरणमूल में मेरो था । वह नव-  
मालिका सकेन-स्थान दिखाने के लिये सौधातकि को लेकर गई है ।

राजा—हा यह बात तो है । सचमुच कायरपने के कारण युद्ध-कार्य में

सा हि—

स्वपतिस्वयंवरसमुत्थसंभ्रम-

ग्लपितत्रपाववृतभूरिसाध्वसा ।

कथमप्यभूत् प्रियतमा न मूर्च्छिता

नवमालिकाकुसुमदामकोमला ॥ ३१ ॥

नन्द्यावर्तः—देवे, नैतच्छकास्थानं किं तु देव इति केवलमभूत्कल्याणः  
परिणामः ।

राजा—सखे अद्यापि तस्याः ।

अंतर्निपीतनयनांबुपरिप्लुतानि

व्रीडाविशेषविधुरव्यपवर्तनानि ।

चेतस्तुदंत्यविदितोपनतप्रमोद-

प्रारंभविघ्नचकितानि विलोकनानि ॥ ३२ ॥

अपि च तस्याः ।

हम लोगों के विषय में अनिष्ट की आशङ्का करनेवाली काशीराजपुत्री को बहुत भारी संताप हो रहा था ।

क्योंकि वह—

स्वपति—अपने पति के स्वयंवर में उत्पन्न क्षोभ से नष्ट हुई लज्जा के कारण जिसका बहुत भारी भय प्रकट हो रहा था तथा जो नवमालिका की पुष्पमाला के समान कोमल थी ऐसी प्रियतमा किसी तरह मूर्च्छित नहीं हुई थी ॥ ३१ ॥

नन्द्यावर्त—आपके विषय में यह शङ्का का स्थान नहीं था किन्तु आपके विषय में तो उसका कल्याणकारी फल हुआ है ।

राजा—मित्र ! आज भी उसकी—

अन्तर्नि—वे चित्तवर्ने चित्त को व्यथित कर रही हैं जो भीतर निपीत आंसुओं से चञ्चल थीं, लज्जा की अधिकता के कारण जिनका संचार रुका हुआ था, तथा अकस्मात् उपस्थित हर्ष के प्रारम्भ में ही आये हुए विघ्न से चकित थीं ॥ ३२ ॥

और उसकी—

पद्माप्रप्रयिताप्रविंदुविसरा पर्यन्तपातोन्मुखी  
प्राप्ता मां मनमाकुलेन न पुनर्भावानुगैश्चेष्टितैः ।

प्रेमव्रीहिततापसाध्वसतम.सपातरूपोत्तर

दृष्टिर्दृष्टिचिन्तसाचिचलना यात्या. कथ कथ्यते ॥ ३३ ॥

आस्तामेतत् । इदं तु कथं वृत्तम् ।

निर्वर्त्य वक्त्रान्मम मथरे दृशी विवर्तयसी वलितत्रिक मुखम् ।

स्वयं घृणाना यददर्शदन्य तदप्यहो लग्नमित्थं मे हृदि ॥ ३४ ॥

कथं चिरायते वयस्यसौधातकिः ।

( प्रविश्य )

विदूषक.—एसी गिह आश्रयो । ( एवोस्मि आगत । )

राजा.—वयस्य अरि सुलूत्र सविधानकम् ।

विदूषक.—वयस्य जस्य एसो सोदाश्रय सइवो तस्ववि ते दुष्कर याम ।

( वयस्य यस्यैष सौधातकि सचिव तस्यापि ते दुष्कर नाम । )

पद्माप्र—प्रेम, अज्ञा, सताप, भय और मोह के सपात से होनेवाली कैपकैपी के साथ जाती हुई प्रियतमा की वह दृष्टि कैसे कहो जा सकती है जो शरीरियों के अप्रमाम में गुम्फित अभ्र-विन्दुओं के समूह से सामने देखने में समर्थ नहीं थी तथा जो घबड़ाये हुए मन से मुझे प्राप्त थी परन्तु मान के अनुसार होनेवाली चेष्टाओं से मुझे प्राप्त नहीं थी ॥ ३३ ॥

अच्छा रहने दो वह, परन्तु यह कैसे हुआ ?

निर्वर्त्य—स्वयं के समय पीठ की हड्डी को मोड़ कर मुख को घुमाती हुई उसने अपने अलसाये नेत्र मेरे मुख से हटा कर जो अन्य राजा को देखा था अहा, वह मां मेरे इसी हृदय में लगा हुआ है ॥ ३४ ॥

मित्र सौधातकि क्यों देर कर रहा है ?

( प्रवेश कर )

विदूषक—यह मैं आ गया ?

राजा—मित्र ! क्या सब ठीक हो गया ?

विदूषक—मित्र ! जिसका यह सौधातकि सचिव है उस आरके लिये भी कठिन नाम की कोई वस्तु है ?

राजा—वयस्य कथय कथं गतं संकेतं सगतम् ।

विदूषकः—अस्थि दाव गंगामागिआए सह अहं इदो गदो । ( अस्ति तावन्नवमालिकया सह अहं इतो गतः । )

राजा—अस्ति तत् ।

विदूषकः—तदो इमस्स भवणस्स परोहिटमग्गेण पविट्ठं पमदवणं । तहि च पुव्वसकेदिदा पमदवणपालिआ गंधमालिणी गामा दारं पालयंती ठिदा । ( ततश्चास्थ भवनस्य पश्चान्मार्गेण प्रविष्टं प्रमदवनम् तस्मिन् च पूर्वं संकेतिता प्रमदवनपालिका गंधमालिनी नाम द्वारं पालयंती स्थिता । )

राजा—ततस्ततः ।

विदूषकः—तदो अ दाए सह पमदवणग्गग्गेण गिहुदगिहदं सुदूरं गदं । जहि अहं पि बहुलमहीरुहसाहागइस्ससयिड्ढिदादो अंधआरादो भीदभीदो अंधो विअ गंगामालिआकरं ओलंविअ खलंनचरणजुगला कहं कहं पि गदो । ( ततश्च तथा सह प्रमदवनमार्गेण निभृतं निभृतं सुदूरं गतं । यस्मिन्नहमपि बहुलमहीरुहशाखासहस्रसर्वावितादंधक.राज्जीतभात अंध इव नवमालिकाकर-मवलंब्य स्वलच्चरणयुगलः कथं कथमपि गतः । )

राजा—मित्र ! कहो किस प्रकार गये और किस प्रकार संकेत-स्थान प्राप्त हुआ ?

विदूषक—वात यह है कि मैं वहां से नवमालिका के साथ गया ।

राजा—यह है ।

विदूषक—फिर इस भवन के पिछले मार्ग से मैं प्रमदवन में प्रविष्ट हुआ । वहां पहले से ही जिसे संकेत दिया गया था ऐसी गन्धमालिनी नाम की प्रमदवन की रक्षिका द्वार की रक्षा करती हुई बैठी थी ।

राजा—फिर क्या हुआ ?

विदूषक—उसके बाद प्रमदवन के मार्ग से चुपचाप मैं बहुत दूर तक चला गया । वहां गया जहां कि मैं भी अत्यधिक वृक्षों की हज़ारों डालियों से बड़े हुए अन्धकार से ढरता-ढरता अन्धे की तरह नवमालिका का हाथ पकड़ कर लड़खड़ाते पैरों से किसी तरह जा सका ।

राजा—नतस्तत ।

विदूषकः—विदूषकः च ततो पञ्चाशत्तुलसहस्रारपादलक्षपञ्चशतैश्चरस  
वाहुज्जाणस्य मध्ये उन्मिषत्तचदमणिरद्वयगङ्गायाम् । तच्च दमाविश  
आश्रयण गन्धमालिनी सह आश्रयतेति मणिश्च प्रमदवन्गालिका सह  
इदो पट्टाधिकुण सञ्चवि ततो गता तद्धि एव तत्ततोदि काशीराश्रयति आश्रये  
णोमालिका । ( प्रसिद्ध च ततः प्रच्युतबहुलसहस्रारपादलक्षपञ्चशतैश्चरस  
वाहुज्जाणस्य मध्ये उन्मिषत्तचदमणिरद्वयगङ्गायाम् कौमुदीगृह नाम । तच्च  
दर्शयित्वा आश्रयत गन्धमालिन्या सह आश्रयतेति मणिश्च प्रमदवन्गालि-  
कया सह इत प्रस्थाय स्वयमपि ततो गता तस्मिन्नेव सत्र मश्वती काशी-  
राजपुत्रीमानेतु नचमालिका । )

राजा—साधु वयस्य साधु । काशौ प्रमदवन्गालिका ।

विदूषकः—प्रमदवन्गालिकाद्वारे एव ठिदा पट्टिालेदि । ( प्रमदवन्-  
पश्चाद्द्वारे एव स्थिता प्रतिपालयति । )

नन्द्यावर्तः—सर्वं समजस । तदुत्थीयताम् ।

राजा—यथाह वयस्य ।

( उत्तिष्ठति )

राजा—फिर क्या हुआ ?

विदूषकः—तदनन्तर मैंने सत्रन छायावाले गङ्गा, आम, गुलाब और  
चमगा से घिरे हुए बालोगान के मध्य में चमकते हुए चन्द्रकान्त मणि मे  
एवमित सीदियोंवाले कौमुदीगृह नामक भवन में प्रवेश किया । उस भवन  
को दिखाकर तथा 'गन्धमालिनी के साथ आश्रय आये' यह कहकर नचमालिका  
ने मुझे प्रमदवन्गालिका के साथ यहाँ भेज दिया और स्वयं वह उसी भवन  
में काशीराज की पुत्री को लेने के लिये चली गई ।

राजा—ठीक मित्र ! ठीक । कहा है वह प्रमदवन्गालिका ?

विदूषकः—प्रमदवन् के बगवाले द्वार पर खड़ी प्रतीक्षा कर रही है ।

नन्द्यावर्तः—सब ठीक है अतः उठा जाय ।

राजा—जैसा प्रिय मित्र कहें !

( सब उठते हैं )



नन्दावर्तः—आर्य सौधातके आदेशय प्रमदवनमार्गम् ।

विदूषकः—इदो इदो । ( इत इतः )

( सर्वे परिक्रामन्ति )

राजा—( सोत्कण्टम् आत्मगतम् )

अंगकैरमृतसेकसोदरैर्मन्थथाग्निमथितस्य ताम्र्यतः ।

खेलगामिनि विना विलंबनं देहि देहि परिरंभणं प्रिये ॥ ३५ ॥

( सोच्छ्वासं ) अये द्रष्टव्या स्वैरमद्य मे काशीराजसुता । अथवैते असकृदनुभूतसुलोचनादर्शनसुखे इदमन्यदक्षिणी प्रार्थये ( ससांत्वनं )

हे लोचने पीतमभूद्युवाभ्यां चिरं प्रियाया वदनारविन्दम् ।

पिपास्यमानस्य मयाधरस्य क्षणं तिरोधानमपि क्षमेताम् ॥ ३६ ॥

यद्वा । प्रियतमासंभावनायामपगच्छ इमे चक्षुषो नूनं पात्रं बहुमानस्य ।

नन्दावर्त—आर्य सौधातकि ! प्रमदवन का मार्ग बताओ ।

विदूषक—यहां यहां से ?

( सब घूमते हैं )

राजा—( उत्कण्ठा के साथ मन में )

अङ्गकै—हे लीलापूर्वक गमन करनेवाली प्रिये ! मैं कामाग्नि से मथित होता हुआ वेचैन हो रहा हूं अतः विना किसी विलम्ब के अमृत-सिञ्चन के समान अपने अङ्गों से मुझे आलिङ्गन प्रदान करो ॥ ३५ ॥

( सांस लेकर ) अये ! आज मैं काशीराज की पुत्री को स्वेच्छा से देखूंगा । अथवा जिन्होंने सुलोचना के देखने का मुख अनेक बार अनुभूत कर लिया है ऐसे नेत्रों से मैं यह एक दूसरी ही प्रार्थना करता हूँ । ( सान्त्वना के साथ )

हे लोचने—हे नेत्रों ! तुम दोनों ने प्रिया के मुखकमल का चिरकाल तक पान किया है । अब मैं उसके अधरोष्ठ का पान करना चाहता हूँ इसलिये क्षण भर के लिये उसका व्यवधान भी क्षमा कीजिये ॥ ३६ ॥

अथवा प्रियतमा के सत्कार के विषय में अपराध की प्राप्ति हुए ये नेत्र सचमुच ही सम्मान के पात्र हैं ।

तथाहि—

अप्रा कोषो धैर्यं विनयमिति वा सर्वं शरणं  
न याती मा काता पदमपि युष्माभ्यामनुसृता ।  
दृशौ ता चेन्नप्ये दृढमथ परिष्वज्य नचिर  
युष्माभ्या दास्यामि स्तनतटपराणाहविद्वृतिम् ॥ ३७ ॥

अथवा सुदुर्जये हमें मया लोचने । कुत ।  
कुर्या यद्युपगृह्णन् मृगदृशोऽनुच्छ्वासमग्नस्तन  
नन्वास्ति स्फुरिताधरे मम दृशौ स्वेच्छाविहारो मुखे ।  
तस्याश्चेदधर पिबेयमदय तत्र स्त एवायते  
नेत्रे नेत्रावलोभनाय विलुठत्पाठोनपारिप्लवे ॥ ३८ ॥

( स्पर्शं स्तवित्वा ) क्य प्रवृत्ताः एव प्रोपितजनैर्यमजननिर्दाक्षिण्या  
दाक्षिण्यायाः प्रमजनाः । ( सोद्वेग ) ।

क्योकि—

अप्रा—लज्जा से कहो, कोष से कहो, धैर्य से कहा अथवा विनय से  
कहो, घर जाती हुई उस कान्ता का आप दोनों ने डग भर भी अनुसरण  
नहीं किया । हे नेत्रो ! अब यदि उसे पाऊँगा तो गाढ़ आलिङ्गन कर शीघ्र  
ही तुम दोनों के लिये उसके स्तनतट के विस्तार पर विहार करने का अवसर  
दूँगा ॥ ३७ ॥

अथवा ये नेत्र मेरे द्वारा अत्यन्त दुर्जये हैं । क्योकि—

कुर्या —यदि मैं साब रोकने से जिसमें स्तन निमग्न हो रहे हैं ऐसा  
प्रियतमा का आलिङ्गन करता हूँ तो मेरे नेत्रों का स्वच्छन्द विहार उसके  
कड़कते हुए अधरोष्ठ से युक्त मुख पर होता है और यदि निर्दयतापूर्वक  
उसके अधरोष्ठ का पान करता हूँ तो लोटती हुई मन्दली के समान चञ्चल  
ये मेरे लग्ने नेत्र उसके नेत्रों को छुमाने के लिये उन्हीं नेत्रों पर अटक कर  
रह जाते हैं ॥ ३८ ॥

( स्पर्श का अभिनय कर ) क्या प्रवासी मनुष्यों का धैर्य नष्ट करने में  
कुटिल दक्षिण की वायु बहने ही लगी ? ( घबड़ाहट के साथ )

इतश्चोलीचूडाविचकितयनामोदमुद्रः

सर्गयाः कर्नाटोडुचकलशकारमीरजसाम् ।

मुद्रमाद्वाराष्ट्रवदनमदिग्राणसगमा

नन्त्यावर्तः शान्तं न हि विन्दद्वाहं विदयति ॥ ३६ ॥

विदूषकः—( पुगे निर्दिश्य ) एवं प्रमदवनद्वाराष्ट्र एसा छ गंधमा-  
लिनी । ( एतत्प्रमदवनद्वाराष्ट्र एसा च गंधम लिनी । )

( प्रवेश )

प्रमदवनपालिका—जेतु कीर्णेश्वरी । ( जेतु कीर्णेश्वरी । )

राजा—मट्टे गंधमालिनि छावेराय मार्ग वालोद्यानतय ।

गंधमालिनी—इठो इठो । ( इठ इठः )

( सर्वे पश्चिमाभिः )

नन्त्यावर्तः—( ऊर्ध्वं विनोदय निर्दर्य च ) अयमधुना गगनांगरुगं  
प्रविधिनीः शशाङ्कलूपाय स्वच्छमुन्मिष्यकौशेयवर्णिकास्तगन्धियमुद्रहति  
स्वेतमानः प्रचोदये त्रिक्रान्तकः ।

इतश्चोली—इस चील देश का त्रिरी की चोटी में सुश्रित विचकित-  
पुष्पों की सवन सुगन्ध में युक्त, कर्नाट देश की ओलों के कुचकलश पर  
लगी हुई चेश की पराग से सुगन्धित, और वास्ना, महागट्ट देश की  
त्रियों के सुग की मटिंग के सूँघने से सगम वायु विन्द-मन्मन्वी दाह को  
शान्त नहीं कर रही है ॥ ३६ ॥

विदूषक—( सामने दिखाकर ) यह प्रमदवन का दार है और यह  
गन्धमालिनी है ।

( प्रवेश कर )

प्रमदवनपालिका—जय हो कीर्णेश्वरी की ?

राजा—मट्टे गन्धमालिनि ! वालोद्यान का मार्ग बताओ ?

गन्धमालिनी—यहाँ यहाँ से ?

( सब घूमते हैं )

नन्त्यावर्त—( ऊपर की ओर देखकर तथा वर्णन कर )

क्या इस समय पूर्व दिशा के अग्रभाग में सफेदी को प्राप्त करता हुआ

तथाहि ।

हरिकरि करनिर्यच्छीकरासारगौरा

पवनविधुतदुग्धाम्भोधिपेलायमाना ।

अशरणपरिधावद्भ्वातदत्तावकाशा,

शशधरकरकदा सांध्यन्तीन्द्रकाष्ठाम् ॥ ८० ॥

राजा—( विलोक्य ) कथमिदानीमासङ्गलदिग्गधूमधुमहनस्य सटित-  
जनमानसहनस्य वर्तते वर्धितमकरध्वजाम्बुदयः शीतदीवितेरुदयः ।

तथाहि ।

यच्चन्द्रिकासहस्ररी प्रथम प्रविष्टा

वद्वाघकारगहन गगनेकभागम् ।

रक्त शनैः प्रविशति स्वयमद्य शक्रे

सकेतवेतिसदन तदसौ शशाङ्कः ॥ ४१ ॥

चादनी का समूह आकाशाङ्गणरूपी रङ्गभूमि में प्रवेश करने के दृष्टिक-  
- चन्द्रमारूपी नट की स्वच्छ और सचिक्छ कोश से निर्मित परदा की-  
शोभा को धारण कर रहा है ।

क्योंकि—

हरिकरि—जो ऐगवत हाथी की सूङ्ग से निकलते हुए जलरूपों की  
वर्षा के समान गौरवर्ण हैं, जो वायु से हिलते हुए सौर समुद्र के फेन के  
समान हैं तथा शरण-रहित होने से सब ओर भागते हुए अन्धकार के द्वारा  
जिन्हें अवकाश दिया जा रहा है ऐसी चन्द्रमा की किरणें पूर्व दिशा की  
सघन कर रही हैं ॥ ४० ॥

राजा—( देखकर ) क्या इस समय पूर्व दिशा-रूपी स्त्री के मुख के  
आमूषण तथा सखिदल-विरही मनुष्यों के मान को स्वखिदल करनेवाले  
चन्द्रमा का काम के अम्बुदय को बढ़ानेवाला उदय हो रहा है ?

क्योंकि

यच्चन्द्रिका—ऐसा ज्ञान पड़ता है कि चादनीरूपी स्त्री एकत्रित अन्ध-  
कार से गहन आकाश के एक भागरूपी जिस संकेत भवन में पहले से प्रविष्ट

गंधमालिनी—कहं समुगदो एस गिस्सरंतचंदाग्रवसंदोहसंयलिददस-  
दिसाभित्तिओ अणक्खलिदपक्खालिदतिविरमसोचिककण्णिम्मोक्खवलक्खिद-  
णक्खत्तक्खिपेरंतो तुवरंतचेंचुग्रामणरहविद्धसण्णिस्सासो संसइदविरहिजण-  
जीविदासंसो सम्मोसिदमाणिणीमाणणाससम्माणिददुव्विणीदपण्हजणो ज-  
णिदजणणअणाणदो चदो । ( कथं समुद्गत एषः निस्सरच्चंद्रातपसंदोहसं-  
लिततदशदिशाभित्तिकः अनास्वलितप्रक्षालिततिमिरमपीपंकनिर्मोक्षवलक्षित-  
नक्षत्रकक्षिकापर्यंतः स्वरमाणाभिसारिकामनोरथविध्वंसननिश्वासः संशयितविर-  
हिजनजीविताशंसः, संमोषितमानिनीमाननाशसंमानितदुर्विनीतप्रणयिजनः  
जनितजननयनानंदश्चंद्रः )

अज हि ( अथ हि )—

गिसहणिअडरत्तं रत्तिणाहस्स विवं

अणुकुणइ थणाणं तुङ्गवेढालआणं ।

अइवहलहलदालेवरज्जंतआणं

मअणुरसणिहीणं चोलिअम्माजणस्स ॥ ४२ ॥

हो चुकी है उसी संकेतभवन में अथ राग ( लक्ष्मी और अनुराग ) से भरा  
यह चन्द्रमा धीरे-धीरे स्वयं प्रवेश कर रहा है ॥ ४१ ॥

गन्धमालिनी—निकलती हुई चांदनी के समूह से जिसने दशों  
दिशाओं की दीवारों को व्याप्त कर दिया है, समग्र रूप से अन्धकाररूपी  
काले पट्ट को धो डालने के कारण जिसने नक्षत्रों के प्रदेश को सफेद कर  
दिया है, जो शीघ्रता करनेवाली व्यभिचारिणी स्त्रियों के मनोरथों को नष्ट  
करने के लिये श्वासनिरोध के समान है, जिसने विरही मनुष्यों के जीवन की  
आशा को संशय में डाल दिया है, मानवती स्त्रियों के मान को नष्ट करने  
से जिसने दुर्विनीत प्रेमी जनों को सन्मानित किया है तथा जिसने मनुष्यों  
के नेत्रों के लिये आनन्द उत्पन्न किया है ऐसा यह चन्द्रमा उदित हुआ है ?

सचमुच ही इस समय—

गिसह—निपधाचल की निकटता से लाल-लाल दिखाई देनेवाला  
यह चन्द्रमा का विम्ब, अत्यधिक लज्जा के स्थान, हल्दी के सवन क्षेत्र से रंगे

( निपथनिकटवर्तं रात्रिनाथस्य विभ्र  
अनुकरोति स्तनानां तुमवीडालयानाम् ।  
अतिचहलहरिद्राणेपरन्वता  
मदनरसनिधीना चोलिकातरुणीजनस्य । )

अह अ । ( अथ च )—

एहमहविभ्राविलमत्ततारआ मोत्तिआ दिह दहइ ।  
वित्थारियचन्दावहचन्दोवअवहपट्मारा ॥ ४३ ॥  
( नमोमहपिकाविलसत्तारका मौक्तिका धुनि दधति ।  
विस्तारितचद्रातपचदोपकवहप्राग्मारः ॥ )

विदूषक.—कह एहिह अदिवादिदधआरपाउरसमओ सरिसावहनगह-  
गणकुडुम्बपरिवारो उदरूपेच्छतलोअलोअणमुदयइचओ । विअसततारआता-  
मरअकुमुमाणअओओगाहेदि मअणसर सिभिरमुराअहओ । ( कथमिदानीमति-  
वाहिताधिकारप्रावृत्समयं सदृशपतद्ग्रहयणकुडुम्बपरिवार ऊर्ध्वोर्ध्वपर्यवहो-  
कलोन्नतमुत्तापितृक विकसत्तारकातामरसकुमुमनिकरमवगाहते गगनसरः  
शिशिराशुराजहस । )

राजा—अहो निरकुशता यशोक्रोविषाम् ।

हुए तथा कामरस की निधि स्वरूप चोल देश की सुनतियों के स्तनों का  
अनुकरण कर रहा है ॥ ४२ ॥

और भी—

एहमहविभ्रा—आकाशरूपी मन्दप में सुशोभित तारा वादनीरूपी  
सुविस्तृत चँदोका में लगे हुए मोतियों की शोभा धारण कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

विदूषक—कहा इस समय जिसने अन्धकाररूप बरसात के समय को  
व्यतीत कर दिया है, ग्रहसमूहरूपी कुटुम्ब-गणिवार जिसके साथ साथ आ  
रहा है और जो ऊपर की ओर देखनेवाले मनुष्यों के नेत्रों को मुग्ध पहुँचाने-  
वाला है, ऐसा यह चन्द्रमारूपी राजहस, देदीप्यमान तारारूपी कमल-  
पुष्पों के समूह से युक्त आकाशरूपी सरोवर में प्रवेश कर रहा है ।

राजा—अहा चन्द्र-किरणों की बड़ी स्वच्छन्दता है ।

तथाहि—

रभसकृतविकासः काममुक्ताट्टहासः

सुरपथपटवासोऽनल्पकर्पूरधूलिः ।

विशदयति दिगंतानिदुपादप्रसारः

कलुपयति तु चित्तं केवलं प्रोषितानाम् ॥ ४४ ॥

अथवा प्रष्टव्यमेव नत् ।

तमस्तमस्तं ग्लपयन्नभीपुभिर्विभावरीवल्लभ विश्वतोमुखैः ।

तमः किमेतत्स भवानुपेक्षते प्रवासिनामांतरमात्मनोपि च ॥ ४५ ॥

यदि वा तिष्ठन्तु वगकाः प्रवासिनः स्वशरीरे तु दत्तप्रवेशं तमः किमस्य

शोभायै कल्पते । अथवा भवतु विज्ञातम् ?

सजलजलदनीलरिंवपि पिंपन्मयूखै-

रुद्रुपतिरमृतांभःपूरगौरैस्तमांसि ।

क्योंकि—

रभस—जिसका बड़े वेग से विकास हुआ है, जो कामदेव के द्वारा छोड़े हुए अट्टहास के समान है, और जो आकाशरूपी पट को नुशाबित करने के लिये बहुत भारी कपूर की धूलि के समान है ऐसा यह चन्द्रमा की किरणों का प्रसार दिशाओं के अन्त को सफेद कर रहा है यदि मलिन करता है तो मात्र प्रवासी मनुष्यों के चित्त को ॥ ४४ ॥

अथवा वह बात पूछने के योग्य है ।

तमः समस्तं—हे चन्द्र ! जब कि आप सब ओर फैलनेवाली किरणों से समस्त अन्धकार को नष्ट करते हो तब प्रवासी मनुष्यों के तथा स्वयं अपने आपके भीतर विद्यमान इस अन्धकार को उपेक्षा क्यों करते हो—इसे क्यों छोड़ देते हो ॥ ४५ ॥

अथवा बेचारे प्रवासी एक ओर रहें—उनकी दात जाने दो किन्तु अपने शरीर में जिसे प्रवेश दिया गया है ऐसा यह अन्धकार क्या इसकी शोभा के लिये समर्थ है ? अथवा खैर जान लिया ।

सजल—अमृतरूपी जल के पूर के समान गौर वर्ण किरणों के द्वारा सजल नेत्र के समान काले अन्धकार को नष्ट करता हुआ चन्द्रमा अपने

स्वयमुपि तम एतल्लग्नमुन्माष्टि नासो

शरणमुपगताना हिंसिताऽनो नृपस्य ॥ ४६ ॥

नन्द्यावर्त—( विनायक )

अयमरालमरालशिशुच्छन्दच्छन्निरपाकुम्भे परितो नमः ।

शशिकरप्रकर प्रमरब्जगगन् गवलकूटककाननिद तमः ॥ ४७ ॥

( निर्वण्यं ) छोहो साद्रता चन्द्रातस्वर । सप्रति—

रजनिमुरभिभूरिस्तारनिष्यदगुध्र.

किरणपरिकरोमी रोहिणीवल्लभस्य ।

प्रसूत इव विभाति स्वसंभात्रेण विन्नन्

विधुरधिरहितेहान् पारदासारपूरः ॥ ४८ ॥

राजा—

प्रतिफलनमहार्पाः कामिनीना कुचेषु

प्रतिनवधनसारसोदसदोहसांता ।

शरीर में लगे हुए इस अम्बकार को इसलिये नष्ट नहीं करता है कि शरण में आये हुए की हिंसा करनेवाला दुष्ट कहलाता है ॥ ४६ ॥

नन्द्यावर्त—( देवकर )

असमराल—हृद के बच्चे के दुष्टिज पद्म के समान कामिनीना तथा आकाश के चारों ओर ससार में सर्वत्र फैलता हुआ यह चन्द्रमा की किरणों का समूह भसे के कण्ट के समान इसका अम्बकार को नष्ट कर रहा है ॥ ४७ ॥

( देवकर ) अहा चादनी की बड़ी सघनता है । इस समय—

रजनि—रात्रिरूपी मातृ के बहुत भारी दूध के प्रवाह के समान सफेद यह चन्द्रमा की किरणों का समूह दुखी-दिगही मनुष्यों के शरीर को राशमात्र से नष्ट करता हुआ ऐसा जान पड़ता है मानों कैला हुआ पारे की वर्षा का पूर हो हो ॥ ४८ ॥

राजा—

प्रतिफलन—जो स्त्रियों के स्तनों में प्रतिबिम्बित होने से महामूल्य है, कपूर की नई नई पराग के समूह के समान सान्द्र हैं तथा जिनसे वर्ण की



किमपि हृदि विकारं कुर्वते सर्वतोऽमी

तरलतुहिनविंदुस्यंदिनश्चंद्रपादाः ॥ ४९ ॥

कथं प्रत्यामन्ने प्रियादर्शने मुहूर्तमात्रमपि विग्रहमसहमानस्तपत्येव नः  
शिशिरांशुः । अयि भोः ।

दुःसहोपचितमन्मथव्यथानर्थशून्यशिशिरांशुशब्दनः ।

चन्द्रपादपतितान् प्रवासिनः हेषयस्यकरुणः खरैः करैः ॥ ५० ॥

किंच रे—

तपन्ममांगानि शशांक शंके नावाप्स्यसि त्वं न पुराप्यवापः ।

मुलोचनाया वदनस्य साम्यं विलाचनैकांतविलोभनस्य ॥ ५१ ॥

अहो कठोरता चन्द्रातपस्य ।

तपसि मम किमंगा यंगचन्द्रातप त्वं

प्रकृतितपन यद्वा का कथा मद्विवेषु ।

चंचल बूंदों का समूह चूरहा है ऐसी सब ओर फैली हुई ये चन्द्रमा की  
किरणें हृदय में कुछ अद्भुत विकार उत्पन्न कर रही हैं ॥ ४९ ॥

जबकि प्रिया का दर्शन निकट है तब मुहूर्त भर के लिये भी विरह को  
नहीं सहता हुआ यह चन्द्रमा हमलोगों को क्यों संतप्त ही किये जा रहा  
है । अरे—

दुस्सहोप—अये चन्द्र ! तुम्हारी शिशिरांशु संज्ञा अर्थ से शून्य है  
इसीलिये तो तुम कःअ की भारी व्यथा से पीड़ित पादपतित—किरणों में  
( पद् में चरणों में ) पड़े हुए प्रवासी मनुष्यों को निर्दय हो अपनी तीक्ष्ण  
किरणों से लज्जित करते रहते हो ॥ ५० ॥

और भी अरे ?

तपन्—हे चन्द्र ! ऐसा जान पड़ता है कि मेरे अङ्गों को तपाते हुए  
तुम नेत्रों को एकान्तरूप से लुभानेवाले मुलोचना के मुख की सदृशता को  
न आगे प्राप्त कर सकोगे और न पहले ही कभी तुमने प्राप्त किया है ॥ ५१ ॥

अहा चांदनी की बड़ी कठोरता है ?

तपसि—हे चांदनी ! तू मेरे अङ्गों को क्यों तपा रही है ? अथवा तू तो  
स्वभाव से सूर्य है मेरे जैसे लोगों की क्या चर्चा है ऐसा जान पड़ता है कि

ननु वहति कलकाशकमत शशाङ्कः

स्वयमपि भवतैव प्रत्यह तप्तविव ॥ ५२ ॥

नन्द्यावतः—देव पश्य पश्य ।

तुलयति सुदृशामसौ शशी कुचकलश धनचदनार्चितम् ।

प्रियविरहविनिर्यदजनद्रवकलुषाश्रुनिपातकर्बुरम् ॥ ५३ ॥

अपर्यनुयोज्याश्च स्वमवा भावाना । कुतः ।

किमपकृतममुष्य चक्रवाकैः किमुपकृत तुहिनार्चिपञ्चकोरैः ।

व्यथयति विषट्प्य चक्रवाकांस्तृपमपहत्य विनोति यच्चकोरान् ॥ ५४ ॥

राजा—हत मो रोहिणीजीवितेश्वर !

प्रियाविश्लेषार्ते स्मरविगिरसपातविधुरे

न नाम त्व काम मयि कृत घृणां मन्मथसख ।

विना हेतो रक्तान्यथ किमिति चक्राहमिधुना-

न्युदस्यन् विस्त्रसाद् भटिति विषट्प्य व्यथयति ॥ ५५ ॥

तेरे द्वारा ही जिसका विष्व प्रतिदिन सतत हो रहा है ऐसा चन्द्रमा स्वयं भी कलङ्ग की आशुद्धा से मुक्त मध्यभाग को धारण कर रहा है ॥ ५२ ॥

नन्द्यावर्त—देव ! देखो देवो,

तुलयति—यह चन्द्रमा, स्त्रियों के गाढे गाढे चन्दन से सुशोभित तथा पति के विरह में निकलने हुए अञ्जन द्रव से मलिन आशुओं के पड़ने से चितकबरे रत्न कलश की तुलना कर रहा है ॥ ५३ ॥

पदार्थों के स्वभाव तर्क के अविषय हैं । क्योंकि—

किमप—चक्रवर्ती ने इस चन्द्रमा का क्या अरकार किया और चकोरों ने क्या उपकार किया ? जिससे यह चक्रवर्ती को बिजुड़ा कर दुखी करता है और चकोरों को उनकी प्यास दूर कर सतुष्ट करता है ॥ ५४ ॥

राजा—हे चन्द्र !

प्रिया—चूँकि तुम काम के मित्र हो अतः प्रिया के विरह से दुखी एवं काम की वाणर्या से पीड़ित मुझ पर दया न करो यह ठीक है परन्तु परस्पर में अनुरक्त चक्रवा-चक्रवियों के युगल को इस तरह शीघ्र छुड़ा कर अकारण क्यों पीड़ित कर रहे हो ? ॥ ५५ ॥

१५ वि० की०

( अन्यतो विलोक्य )

निष्ठापश्चतराजतद्रवखरांश्चंद्रातपाञ्जीरसान्

किं यूयं पिवथ प्रसारितगलाः स्वैरं चकोराभकाः ।

यद्वा तापितरूप्यपिण्डपरुषं विवं गिलन्नैन्दवं

युष्माकं स परं निसर्गकठिनः स्वर्भानुरेवोपमा ॥ ५६ ॥

यद्वा रूप्यद्रव इत्यपि न पर्याप्तिस्तापस्य । कुतः ।

रूप्यद्रवो भवति नायमितः प्रसर्प-

न्नूष्मायते स पतितः कियतो मुहूर्तान् ।

इन्दुर्विलीनतनुरात्मन एव तापा-

ज्योत्स्नीभवत्वपरथा कुत ईदृशोऽयम् ॥ ५७ ॥

नन्द्यावर्तः—देव पश्य पश्य । परिभ्रश्यदवश्यायलेशग्रथितः पल्लवाग्रस्य संकुलमल्लिकावल्लीवेल्लितकंकैलिस्कंधस्य केलिदोहलविलासिनीविभ्रमपरिरंभर-ससमुज्जृम्भमाणकुरवकस्तवककदंबकस्य लंबमानसरससहकारकिसलयविडंबित-वनिताललितकरतलसौकुमार्यस्य विकीर्यमाणबहलसौरभसंभावितसमीरणस्य रणरणकविवृद्धिकदर्थ्यमानमानिनीसंतानस्य वसंतवासभवनस्य निरालस्यवर्धित-मन्मथप्रमदस्य प्रमदवनस्य परा लक्ष्मीः ।

( दूसरी ओर देख कर )

निष्ठाप—हे चकोर के बच्चो ! तुम लोग गला फाड़ फाड़ कर तीव्र गर्मी से पिघली चांदी के द्रव के समान कठोर नीरस चांदनी को क्यों पिये जा रहे हो ? अथवा तपाये हुए चांदी के पिण्ड के समान कठोर चन्द्र-मा के विम्ब को निगलने वाला क्रूर राहु ही तुम लोगों की उपमा हो सकता है ॥ ५६ ॥

अथवा चांदी का द्रव यह भी संताप की पूर्णता नहीं है । क्योंकि—

रूप्य—यह इधर फैलता हुआ पदार्थ चांदी का द्रव नहीं है क्योंकि वह यहां पड़कर कितने मुहूर्त तक गर्म रहता ? यह तो अपने ही संताप से गला हुआ चन्द्रमा चांदनी हो रहा है यदि अन्यथा बात होती तो यह चन्द्रमा ऐसा क्यों होता ? ॥ ५७ ॥

नन्द्यावर्त—देव ! देखो, देखो । चूती हुई तुपार की बूंदों से जिसमें

अथ हि—

ज्योत्स्नावगाहशिशिरः सहकारगवि-

निप्यदमानवकुलासववासितोऽसी ।

वायुर्ददाति विहरन कमपि प्रमोद-

मामोदमानकुमुदाकरसौरभार्द्रः ॥ ५८ ॥

राजा—

ज्योत्स्नमधुलषनिकरा निकारमहकारिणोत्र सहकारा ।

प्रमदाविरहातानां प्रमदवनमिद प्रमादाय ॥ ५९ ॥

( स्पर्श रूपयित्वा ) कथमसाविर परितारदेतुरपर एव चद्रातपो मात-  
निष्ठा । अथवा ।

पहलगी के अग्रभाग मुक्ति हैं, जिसमें अशोक वृक्ष के स्तम्भ से फूली,  
मालती की लता लिपटी हुई है, जहा काड़ा की शृङ्खा से युक्त झिरों  
के हावभाव-पूर्वक आलिखन के रस से कुरुरक वृक्षों में गुच्छों के समूह निकल  
रहे हैं, जहाँ आमों के लम्बे लम्बे नये फलनों से झिरों की सुन्दर हथेलियों  
की सुकुमारता तिरस्कृत हो रही है जहा फैलती हुई अन्यधिक सुगन्धि से वायु  
सन्मानित हो रही है, जो वसन्त का निवासभवन है तथा जहाँ बिना आलस्य  
के काम का कार्य बढ़ रहा है ऐसे प्रमद वन की बहुत बड़ी शोभा है ।

सचमुच ही यहा

ज्योत्स्ना—जो चादनी में प्रवेश करने से ठपड़ा है, जिसमें सुगन्धित  
आम की गन्ध मिल रही है, जो भरते हुए मौलभों के आसव से सुवासित  
है तथा जो विलते हुए कुमुदवन की सुगन्धि से आर्द्र है ऐसी चलती हुई  
वायु किसी अद्भुत आनन्द को दे रही है ॥ ५८ ॥

राजा—ज्योत्स्ना—जिससे मकरन्द की कणों का समूह चूर रहा है ऐसे  
आम के वृक्ष यहाँ दुःख के सहायक हैं । यथार्थ में यह प्रमदवन झिरों  
के विरह से दुखी मनुष्यों के लिये प्रमाद का कारण है ॥ ५९ ॥

( स्पर्श का अभिनय कर ) क्या यह वायु भी संताप का कारण स्वरूप  
दूसरी चादनी ही है ? अथवा—

अंगानि काशिदुहितुर्नवचद्रकांत-

निध्यंदधृष्टहरिचंदनरीतलानि ।

नृपशान नैव भवता प्यमान नूनं

नो चेदसौ तव कथं परितापभारः ॥ ६० ॥

इयं च मे विकल्पयति चेनः ।

इयं तु तत्रा विनिगल्य चटिका बहृत्यमुष्मिन् पवने यतोष्मणि ।

अयं तु ततः सहसावगाहनादिहैव चंद्रातपसुर्नुरानले ॥ ६१ ॥

अयं च मे तर्कः ।

केवलं लोकविख्यातां वायोरग्निरिति श्रुतिम् ।

वायुनग्णो वमन्नग्निं सत्यं सत्यापयत्यसौ ॥ ६२ ॥

अथवा साधु वेदितम् ।

असौ बहृश्रेव सुदुस्महं बहृश देहिनां श्रान्तिहरः समीरणः ।

न नूननूर्ध्वस्वतनं विभावसुर्विहाय तिर्यग्वलनेन वर्तते ॥ ६३ ॥

अज्ञानि—हे पवन ! नवीन चन्द्रकालमणि से निर्गत जल-प्रवाह से  
यिसे हुए हरिचन्दन के समान शीतल सुगंधना के अक्षों का जान पड़ता  
है आनने कर्मा लगी नहीं किया है अन्यथा दुई यह तीव्र संतान का भार  
कैसे प्राप्त होता ? ॥ ६० ॥

मेरा मन तो ऐसी कल्पना करता है

इयं—यह चांदनी तीव्र गर्मी से युक्त बहती हुई वायु में पड़ कर संतत  
हो गई है और यह वायु इसी चांदनी लगी दुर्गति में चढ़ा प्रवेश करने से  
संतत हुई है ॥ ६१ ॥

मेरा तर्क यह है

केवलं—अग्नि को उगलती हुई यह वायु सचमुच ही लोक-प्रसिद्ध  
वायोरग्निः—वायु से अग्नि उत्पन्न होती है, इस श्रुति को सत्य सिद्ध कर  
रही है ॥ ६२ ॥

अथवा ठीक समझ गया

असौ—यह बहती हुई तथा अस्पर्शनीय दाह को उत्पन्न करती हुई वायु  
प्रापियों की अश्रद्धा को दूर करनेवाली वायु नहीं है किन्तु जान पड़ता है ।

अथ किमद्यापि दूरस्थैव प्रिया ।

विदूषक —य इदं निश्चय एव बालोद्यान । एषु खु तस्मिन् निश्चयदृष्टि-  
दो विहरणशिरमाखिनिश्चयवो तुहिनकरकिरणसमेदपक्षरतचदमणि-  
लिललच्छिनिश्चयधुव्वतसिसिरसोअरधूलोधूसरिअपेरतवणो पल्लविदकोमल-  
दूव्वकुर विव मरगअत्यलेसु पलित विद पोमराअमणिकुट्टिमेषु, उम्मिसिद  
विव येसुरिअपत्यरेसु किसलइद विव पवानतडेसु दिण्ण विव फलिहप्पलहेसु  
गुच्छ विव मतिअतलेसु निअलच्छणपहाकरविद विव महाणीलभूमिसु चदा-  
अथ दसअतो केलिरोहणो याम कोलापवदथा । ( नन्दिद निकट एव बालो-  
द्यान । एष खलु तस्य निकटस्थितो विहरणनिर्माणविकटनितवी तुहिनकर-  
किरणसमेदप्रक्षरचन्द्रमणिसलिललक्ष्मीनिर्गन्धधूपमानशिशिरशोकरधूलधूस-  
रितपर्यन्तवन पल्लवितकोमलपूर्वाअरमिव मरकतरथलेषु प्रदीपप्रदिव पद्मराग-  
मणिकुट्टिमेषु उम्मिपितमिव वैह्वयप्रस्तरेषु किसलपितमिव प्रवालतटेषु दीर्घ-  
मिव स्फटिकफलकेषु गुच्छमिव मोक्तिकतलेषु निअलच्छणप्रभाकरवितमिव  
महानीलभूमिसु चक्रातप दशेधन् केलिरोहणो नाम कीटापर्वतक । )

कि वह अग्नि ही अपने ऊर्ध्व उवलन स्वभाव का छोड़ कर तिरछी चाल से  
चल रही है ॥ ६३ ॥

क्या अब भी प्रिया दूर ही है

विदूषक—यह बालोद्यान पाठ में ही है । घूमने के लिये जिस पर बड़ी  
बड़ी कटनियों का निर्माण किया गया है, चन्द्रमा की किरणों के समिन्ध  
से भरते हुए चन्द्रकान्त मणि के जल सम्बन्धी सुन्दर झिरनों के उकते हुए  
ठण्डे ठण्डे जलकणों की धूलि से जिसके निकटवर्ती वन धूसरित हो रहे हैं  
जो मरकत मणि के प्रदेशों पर पड़ती हुई चांदनी की निकलते हुए  
पूर्वा के कोमल अक्षुरों से युक्त के समान दिखलाता है, पद्मरागमणियों के  
फर्स पर दमकती हुई के समान दिखलाता है, नीलमणि के पत्थरों पर  
चमकती हुई के समान प्रकट करता है, मूया के तटों पर नवीन कोपलों  
से युक्त के समान उतलाता है, स्फटिक के पटियों पर बिंदीयों हुए के समान  
दिखलाता है, मोतियों के फर्स पर गुच्छों से युक्त के समान बतलाता है,  
और इन्द्रनीलमणि की भूमियों में चन्द्रमा के कलङ्क की प्रभा से व्याप्त के

नन्द्यावर्तः—( निर्वर्ण्य ) देव पश्य ।

केलिरोहणमणिस्थलोष्णमा रोहिणीपतिमरोचिपंक्तयः ।

वर्तयन्ति परिवर्तचित्रिताः पाकशासनशरासनं भुवि ॥ ६४ ॥

राजा—( निर्वर्ण्यसाशंकं )

अत्रसत्प्रपमकंपनात्मजा केलिकौतुकहता किमद्य हि ।

केलिरोहणतटाधिरोहणं मत्करार्पितकरा करिष्यति ॥ ६५ ॥

गन्धमालिनी—इदोवि ऐसा बालुजाणपरिसरवाहिणी अमअतरंगिणी नाम लीलादिग्विभ्रा । दक्ख देव दिग्गदाणपुग्गपवाहमअक्कपहुजला चंद-अंतफलअपवहंतणिज्झरपरिमिलिअउम्मिआ उम्मिसंतकुमुदव्वपाडिच्छाआंतरि-अलोआणइ उपगह्णइ अमअतरंगिणी । ( इतोपि एपा बालोद्यानपरिसरवा-हिनी अमृततरंगिणी नाम लीलादीर्घिका पश्य देव दत्तदानपुग्गपवाहमचैक-प्रभोज्ज्वला चंद्रकांतफलकप्रवहन्निर्झरपरिमिलितोर्मिका उन्मिपत्कुमुदेव प्रति-च्छायांतरितलोचनानि उपगह्णाति अमृततरंगिणी । )

समान दिखलाता है ऐसा यह केलिरोहण नामक क्रीडापर्वत उस बालोद्यान के निकट स्थित है ।

नन्द्यावर्त—( देख कर ) देव ! देखो

केलिरोहण—केलिरोहण पर्वत के मणिमय प्रदेशों पर परिवर्तन से चित्र-विचित्र दिखती हुई ये चन्द्र-किरणों की पक्तियां पृथिवी पर इन्द्रधनुष को प्रकट कर रहा हैं ॥ ६४ ॥

राजा—( देखकर आशङ्का के साथ )

अत्र—क्रीडा सम्यन्धी कौतुक से हरी हुई सुलोचना क्या आज यहां मेरे हाथ में हाथ देकर लज्जा-सहित केलिरोहण पर्वत के टट पर आरांहण करेगी ? ॥ ६५ ॥

गन्धमालिनी—इधर यह बालोद्यान के निकट रहने वाली अमृत-तरङ्गिणी नाम की क्रीडा की दीर्घिका है । देखो देव ! जो दिये हुए दान के पुण्य प्रवाह की अद्वितीय प्रभा से उज्ज्वल है और जिसमें चन्द्रकान्त मणियों

जल-क्रीडा के लिये बनाया हुआ लम्बा होज ।

नद्यावर्त.—इतोपि दीयतां दीर्घिकापरिसरे दृष्टिः । अत्र हि—

चचुददृष्टवरटाः कलहसाः सैकतांतलिमे च शयानाः ।

व्योत्स्नयैव शनकैर्निजशाखाशायिताः पुलकयति मनांसि ॥ ६६ ॥

राजा—( निर्वचय ) ।

अमृततरंगिणीनिजतरंगशितासिशतैः

शिशिरमरोचिदोधितिनिमीलितपद्मवना

सरसोरुहां द्विषान्निति विदारयति प्रकट

निपतितविषमभसि निशाधिपतिं शतश ॥ ६७ ॥

विदूषकः—एसी इमादा । ( एष ) ।

( सबे परिक्रामति )

राघमालिनी—एद खु महमहिअवहलबउलपरिमलवलइदसअलपमद-

के प्रदेश से बहते हुए किरनों के कारण लहरें उत्पन्न हो रही हैं ऐसी यह अमृततरङ्गिणी प्रतिविम्ब के कारण भीतर प्रविष्ट नेत्रों को इस प्रकार ग्रहण कर रही है मानों उसमें कुमुद ही खिल रहे हो ।

न द्यावर्त—इधर भी दीर्घिका के तटपर दृष्टि दी जाय । सबनुच ही यहा—

चञ्चु—चोंच से हसियों का स्पर्ग करनेवाले तथा रेतीले तट पर शयन करते हुए ये कलहस पक्षी मनको उस तरह रोमाञ्चित कर रहे हैं मानों चादनी ने उन्हें धीरे से अपनी शाखाओं पर ही मुला लिया हो ॥ ६६ ॥

राजा—( देखकर )

अमृत—चन्द्रमा की किरणों से जिसमें कमलवन निमीलित हो रहा है ऐसी यह अमृततरङ्गिणी नाम की दीर्घिका पानी में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रति-विम्ब को 'यह कमलों का शत्रु है' यह सोचकर ही मानों अपनी तरंग स्न-पेनी सैकड़ों तलवारों से दृष्टतया सैकड़ों बार विदीर्ण कर रही है ॥ ६७ ॥

विदूषकः—यह इस ओर ?

( सब घूमते हैं )

राघमालिनी—अतिशय सुगन्धित बकुल-पुष्पों को विमर्द से उत्पन्न



वणं । विश्रानुंमुहकठोरपाटलामग्रंदग्निग्महिअसरसगंधंधुरं । शिब्रविश्र-  
लंतणोमालिआवासिददसदिसं जव्भाअंतपुण्णआमहुरसतराणाअमारुअं अवि-  
रलदलंतकुमुअवणपच्छदसंछण्णसरोवरं बालुजाणं । ( एतत्त्वत्तु सुगंधिवहल-  
वकुलपरिमलवलयितसकलप्रमदवनं, विकासोन्मुखकठोरपाटलामकरंदनिर्मयि-  
तसरसगंधंधुरं, निर्भरविकसन्नवमालिकावासितदशदिशं जृम्भमाणपुन्नागम-  
धुरसार्दितमारुतं, अविरलदलत्कुमुदवनपच्छदसंछन्नसरोवरं बालोद्यानं । )

नन्द्यावर्तः—अहो रमणीयता बालोद्यानस्य । अत्र हि—

आमवैरनिलमार्द्रयत्यमुं चारु भासुरयतीह केसरैः ।

सौरभेण सुरभीकरोत्यसी कौमुदीपु सरसीपु कौमुदी ॥ ६८ ॥

राजा—

वकुलतरवः सांद्रप्रोत्सर्पकौसुमसौरभाः

किमपि सुरभीकुर्वन्त्येते भ्रमद्भ्रमरं नभः ।

अथ च कथयाम्येतेनैकतं दिवं प्रविकस्वरैः

चिरसुरभिभिर्वाढं कालोप्यसी सुरभीकृतः ॥ ६९ ॥

सुगन्धि के द्वारा जिसमें सम्पूर्ण प्रमदवन व्याप्त हो रहा है, जो विकास के सन्मुख कठोर गुलाब के मकरन्द की विमर्दोत्थित ताजी सुगन्ध से व्याप्त है जहां अत्यन्त खिले हुए नवमालिका के फूलों से दशों दिशाएं सुगन्धित हो रही हैं, जहां खिलते हुए पुन्नाग-पुष्प के मधुरस से वायु गीली हो रहो है और जहां निरन्तर खिलते हुए कुमुदवनरूपी चहर से सरोवर आच्छादित है ऐसा यह बालोद्यान है ।

नन्द्यावर्त—अहा बालोद्यान की बड़ी सुन्दरता है । सचमुच ही यहां—

आसवै—कुमुदों के सरोवरों में यह कुमुदों का समूह अपने आसव से इस वायु को तर कर रहा है, इधर केशर से अच्छी तरह सुशोभित कर रहा है और सुगन्धि से उसे सुगन्धित कर रहा है ॥ ६८ ॥

राजा—

वकुल—जिनके फूलों की सुगन्धि अत्यधिक मात्रा में फैल रही है ऐसे ये मौलश्री के वृक्ष मँडराते हुए भाँरों से युक्त आकाश को अनिर्वचनीय रूप से सुगन्धित कर रहे हैं और मैं तो कहता हूँ कि रात-दिन खिले हुए दीर्घ-

( अन्तरतो विलोक्य ) इतोपि च ।

पाटलीजरठकुट्टमलरध्रप्रस्त्रलद्रवहलसीरमलुब्धा ।

निर्भरं मधुलिहो लिहतेऽमी धूनिवाननममूनि मधूनि ॥ ७० ॥

विदूषकः—मो वञ्चस्स कुटो एदाइ थिन्मनकुमुमिदाइ पाटलाइ वणा-  
अत्ते । थिअमूलपलवरिपक्खसन्निदेहि दोहरवाहुल्लअन्नपरिरमणिअरिणादेहि  
पसरतमुग्गमिगधुरधुराइदजीहेहि फलसहस्रेहि दसणिआ उववणाालकारो  
तुने पणसो य वणिज्जदि । ( मो वयस्य कुन एतानि निर्भरकुमुमितानि पाट-  
लानि वण्यते । निज्जनूलप्रलवरिपक्खसन्निदेहि दोर्घवाहुगलपरिरमणीयपरि-  
याहैः प्रसरत्तमुग्गमिगधुरधुरायित्तजिह्वै फलसहस्रे दशनीय उववनालकारः  
त्वया पनसा न वण्यते । )

राजा—( चस्मित ) इद वण्यते ।

कथं पनस केवल सुमधुराणि पुणैर्विना

फलानि फलता त्वया फलविपाकमकस्सम ।

कालव्यापी मुगन्धि से कुछ इन मौलभों के वृक्षों के द्वारा यह काल भी  
सुरभि—वसन्त अथवा मुगन्धित कर दिया गया है ॥ ६६ ॥

( दूसरी ओर देखकर ) इधर भी

पाटली—गुलाब की बड़ी बोड़ी के द्विध से निकलती हुई अत्यधिक  
मुगन्धि के लोभी ये मीरे मुल को हिला-हिलाकर इस मधु का अश्वी तरह  
पान कर रहे हैं ॥ ७० ॥

विदूषक—हे मित्र ! आन अत्यन्त फूले हुए इन गुलाबों का ही वर्णन  
क्यों करते हैं ! उगवन के अलकारमूल इस कटहल का वर्णन क्यों नहीं  
करते जो कि अपने लम्बे तने में लटके हुए, दोर्घ मुजाओं के युगल से  
आलिङ्गन करने योग्य विस्तार से युक्त तथा फैलती हुई मनोज्ञ-गन्ध से जीम  
को सत्पुष्प करनेवाले हजारों फलों से मुन्दर दिखाई दे रहा है ।

राजा—( मुसक्या कर ) यह वर्णन किया जाता है ।

कथ—हे कटहल ! फूलों के बिना मात्र अत्यन्त मीठे फलों को फलनेवाले  
तुम्हारे समान वह गुलाब कैसे हो सकता है जो चलते हुए चञ्चल मीरे के

चरघट्टलचंचरीकचरणाहतोच्चावच-

प्रकीर्णसुमनोरजःपटलपाटलः पाटलः ॥ ७१ ॥

नन्द्यावर्तः—शोभनं सुभाषितम् ।

गंधमालिनी—इदं खु अगदो कोमुदीघरअं । ( एतत्खलु अग्रतः कोमु-  
दीघम् । )

नन्द्यावर्तः—आर्य सौधातके अग्रतो भव देवस्य । यावदहमत्रैव प्रति-  
पालयन् तिष्ठामि ।

विदूषकः—तह करोअदु । ( तथा करोतु । )

गंधमालिनी—अहंपि अ इदो सहीणिओए वट्टेमि । ( अहमपि च  
इतः सखीनियोगे वर्ते । )

विदूषकः—तेण हि तुमं अज्जणंदावत्तस्य सहाआ होहि । ( तेन हि त्वं  
आर्यनंद्यावर्तस्य सहाया भव । )

( गंधमालिनी सस्मितं नन्द्यावर्तेन सह निष्कांता )

विदूषकः—इदो इदो पिअवअस्सो । ( इत इतः प्रियवयस्यः । )

( परिक्रामतः )

चरणों से ताड़ित होकर ऊँचे-नीचे बिखरे हुए फूलों की पराग के समूह से  
लाल-लाल तो है परन्तु फल उत्पन्न करने में चुप है ॥ ७१ ॥

नन्द्यावर्त—अच्छी उक्ति है ।

गन्धमालिनी—यह आगे कोमुदीघह है ।

नन्द्यावर्त—आर्य सौधातकि ! तुम महाराज के आगे होओ जब  
तक मैं यहीं प्रतीक्षा करता बैठता हूँ ।

विदूषक—वैसा कीजिये ?

गंधमालिनी—मैं भी सखी की आज्ञा में नियुक्त हूँ ।

विदूषक—तो तुम आर्य नन्द्यावर्त की सहायक हो जाओ ।

( गन्धमालिनी मुस्कयाती हुई नन्द्यावर्त के साथ बाहर निकल गई )

विदूषक—इधर-इधर प्रिय मित्र !

( दोनों घूमते हैं )

( ततः प्रविशति सुलोचना नवमालिका च )

। सुलोचना—सहि शोभालिए सन्च एव्व तुए दिट्ठो अक्खदसरीरो अज्जउत्तो । ( सखि नवमालिके सत्यमेव त्वया दृष्ट अक्षतशरीर. आर्यपुत्र । )

नवमालिका—सहि कीस सकेसि यं खु सा तारिसो तदो एव्व सअवर-  
कलहमीदाए मइ हत्थे तुह दिग्गो मट्ठिणा सदेसो । जह (संस्कृतमवलम्ब्य) ।  
( सखि कस्मात् शकसे न खलु स सादृशः तन एष स्वयंरकलहभीताया मम  
हस्ते तव दत्तो भर्ता सदेश । यया । )

द्वित्रा घटीर्गमय मां प्रतिपालयती

कः कौरव युधि पुमानभियोक्तुमीष्ट ।

तच्चचारुहासिनि मनागपि नाम शका

मा भूदकपनमुवासिनि मस्कृते ते ॥ ७२ ॥

सुलोचना—कहिद् एव्व तुए किट्ठु समस्सासमेत्तकति मए यं विस्स-  
सिद । ( कथित एव त्वया । किं तु समाश्वासमात्रकमिति मया न विश्वसितम् )

नवमालिका—जइ यं विस्ससिदि एविह एव्व सअ दठ्ठूण तं विस्स-  
सेहि । ( यदि न विश्वसिषि इदानीं स्वयमेव दृष्ट्वा तं विश्वस । )

( तदनन्तर सुलोचना और नवमालिका प्रवेश करती हैं )

सुलोचना—सखि ! नवमालिके ! क्या सचमुच हो तुने चोट राहत  
शरीर से युक्त आर्यपुत्र को देखा है ?

नवमालिका—सखि ! क्यों शका करती हो ? सचमुच ही वह वैसे नहीं  
हैं इसीलिये तो स्वयंवर को कलह से दूरी हुई मेरे हाथ भर्ता ने तुम्हारे लिये  
सदेश दिया था ।

द्वित्रा—मेरी प्रतीक्षा करती हुई दो तीन घड़ी ध्वनीत करो, ऐसा कौन  
पुरुष है जो युद्ध में कौरव का सामना करने के लिये समर्थ हो सके । इस-  
लिये हे सुन्दर हास्य से युक्त अकम्पन की पुत्रि ! मेरे लिये तुम्हें कुछ भी  
शका नहीं हानी चाहिये ॥ ७२ ॥

सुलोचना—तुमने कहा तो था किन्तु यह सान्त्वनामात्र है यह समझ  
कर मैंने विश्वास नहीं किया था ।

नवमालिका—यदि तब नहीं विश्वास किया तो अब स्वयं ही देखकर  
विश्वास कर लो ।

सुलोचना—सहि खोमालिए जइ सच्चं एव अज्जउत्तो इद आअमि-  
स्सदि कहं किर अग्गदो तस्स चिट्ठेमि । ( सखि नवमालिके यदि सत्यमेवा-  
र्यपुत्र इत आगमिष्यति कथं किल अग्रतः तस्य तिष्ठामि । )

नवमालिका—अदिउज्जुए किं इमाए ण कदाइ अवसाणं लज्जाए ।  
( अतिशृङ्खि किमस्याः न कदाचिदवसानं लज्जायाः । )

सुलोचना—तेण हि एसा परितेजेमि लज्जं तुमं पुण तस्सि आअदे  
अग्गदो भविअ मं अंतरेहि । ( तेन हि एसा परित्यजामि लज्जां त्वं पुनः  
तस्मिन् आगते अग्रतो भूत्वा मां अंतरय । )

नवमालिका—( सस्मितं ) अंतरेमि जइ तुमं णिगलं देसि । ( अंतर-  
यामि यदि त्वं निगलं ददासि । )

सुलोचना—सहि कोस उवहसेसि । एसा अहं तुहिणका ण देमि तुह  
उत्तरं । ( सखि कस्मादुपहससि एसा अहं तूष्णीका न ददामि तवोत्तरम् । )

नवमालिका—जइ ण मए जप्पसि तेण एव्व वाहिता भण्णाहि । ( यदि  
न मया जल्पसि तेनैव व्याहृता भणस्व । )

सुलोचना—हला कि मए तस्स अग्गदो जप्पिदव्वंपि । ( सखि किं मया  
तस्याग्रतो जल्पितव्यमपि । )

सुलोचना—सखि नवमालिके ! यदि सचमुच हो आर्यपुत्र यहां आ  
जावेंगे तो उनके आगे कैसे खड़ी रह सकूंगी ?

नवमालिका—बड़ी भोली है, क्या इस लज्जा का कभी अवसान  
नहीं होगा ?

सुलोचना—तो यह मैं लज्जा को छोड़ती हूँ किन्तु उनके आने पर तुम  
आगे होकर मुझे छिपा लेना ।

नवमालिका—( मुस्क्याकर ) छिपा लूंगी यदि तुम मुझे उपहार दोगी ।

सुलोचना—सखि ! क्यों मेरी हँसी करनी हो ? लो मैं चुप हूँ तुम्हारे  
लिये उत्तर नहीं देती ।

नवमालिका—यदि मेरे साथ नहीं बोलती हो तो उन्हीं के बोलने पर  
बोलना ।

सुलोचना—सखि ! मुझे उनके आगे क्या कहना होगा ?

नवमालिका—शहि शहि जहागद बाहुडिअ गतव्व । (नहि नहि यथा-  
गत व्याहृत्य गन्तव्यम् । )

मुलोचना—वेणु हि एहि गच्छामि । ( तेन हि एहि गच्छामि । )

नवमालिका—हिअएण भण्णाहि । ( हृदयेन भणस्व । )

मुलोचना—( सेष्यं ) सहि मएमि वुए सह खणपि अतिपटुं । ( सखि  
विमेमि स्वया सह क्षणमपि आसितु । )

नवमालिका—मा भण्णाहि सो एव्व दे सहाओ भविस्सदि । ( मा  
विभीहि स एव ते सहायो भविष्यति । )

विदूषक—एद कोमुदीघरअ । एसा अ तहि पविट्ठा शोमानिआए  
सह काशीराअउत्ति । ( एतत्कौमुदीघर एषा च तस्मिन् प्रविष्टा नवमालिकया  
सह काशीराजपुत्री । )

राजा—( दृष्ट्वा सोत्क्रुधते ) ।

उत्क्रुष्टानां योज मनोरथाना परिभ्रमस्थानम् ।

हृदयस्य समुच्छ्वसितं तदिदं मम सपदि सन्निहितम् ॥ ७३ ॥

नवमालिका—नहीं नहीं, बैसा तुमने कहा या बैसा ही चला जाना  
चाहिये ।

मुलोचना—तो आओ चलू ।

नवमालिका—हृदय से कहो ।

मुलोचना—( ईर्ष्या के साथ ) सखि ! तुम्हारे साथ क्षण भर भी ठहरने  
के लिये डरती हूँ ।

नवमालिका—नहीं डरो, वही तुम्हारे सहायक हो आवेंगे ।

विदूषक—यह कौमुदीघर है और यह काशीराज की पुत्री, नवमालिका  
के साथ उसमें प्रवेश कर चुकी है ।

राजा—( उत्क्रुष्टा के साथ देखकर )

उत्क्रुष्टानां—उत्क्रुष्टाओं का योज, मनोरथों के घूमने का स्थान और  
मेरे हृदय की समीचीन सास स्वरूप यह मुलोचना शीघ्र ही समीप आने-  
वाली है ॥ ७३ ॥

वयस्य यावदस्यानेव वकुलपादपच्छायायां वर्तमानाः स्वैरालापमस्याः  
शृणुमः ।

विदूषकः--जं वयस्सस्स रोअदि । ( यद्वयस्याय रोचते । )

( तथा कुरुतः )

सुलोचना—असमंजसभासिणी एसा अहं तुह पासादो गच्छामि ।  
( असमंजसभासिणि एसा अहं तव पार्श्वतो गच्छामि । )

( कतिचित्पदानि गच्छति )

नवमालिका—एसा उण अहं ण णिवारेमि सो एव्व आअदुअ तुमं  
णिवोरदु । ( एसा पुनरहं न निवारयामि स एवागत्य त्वा निवारयतु । )

राजा—सखे अयमवसरः यावदुपसर्पावः । )

( उपसर्पतः )

नवमालिका—( दृष्ट्वा ) भट्ट एसा खु पिअसही चिराइदं तुम्हेहिति  
कुविदा णिगच्छेदि । ता णिवारीअदु । ( भर्तः एसा खलु प्रियसखी चिरा-  
यितं युष्माभिरिति कुपिता निर्गच्छति । तां निवारयतु )

सुलोचना—( सलज्जं सहर्षं च ) अम्हो अजउत्तो । ( अहो  
आर्यपुत्रः । )

मित्र ! जबतक इसी वकुल वृक्ष की छाया में खड़े रहकर इसके स्वतन्त्र  
वार्तालाप को सुनें ।

विदूषक—जो मित्र के लिये अच्छा लगे ।

( वैसा ही करते हैं )

सुलोचना—तुम असंगत बोलती हो इसलिये मैं तुम्हारे पाससे जाती हूँ ।

( कुछ कदम जाती है )

नवमालिका—यह नहीं रोकती वे ही आकर तुम्हें रोकें ।

राजा—मित्र ! यह अवसर है, जबतक पास चलें ।

( दोनों पास जाते हैं )

नवमालिका—( देखकर ) भर्ता ! तुमने देर की इसलिये यह प्रिय  
सखी कुपित होकर जा रही है अतः रोक लीजिये ।

सुलोचना—( लजा और हप के साथ ) अहा, आर्यपुत्र हैं ?

राज—सरले कृत कुमितेन । ( हस्ते गृह्णाति )

( मुलोचना सलज्ज मोचयितुमिच्छति )

विदूषक—कह बध्नस्मेण गहिद वि हत्य माएदु इच्छसि । इमस्स उण चाहुसार तुम्हाण विअ तुए जामातुणो अककित्तिणो इत्या पुच्छिअत्तु । ( कथ वयस्येन गृहीतमपि हस्त मोचयितुमिच्छति । अस्य पुनर्बाहुसार युष्माकमिव स्वया जामातु अर्कंकीर्ते हस्ती पृच्छेताम् । )

राजा—अयि मुग्धे कुतो हस्तमाक्षिपसि । कृत मीढितेन ।

इय परिस्तानमृणालकोमला तवागयष्टिर्भृशं च ताम्यति ।

तदेव लज्जाव्यसन विमुच्यती ममावलम्बस्व कर नितयिनि ॥ ७३ ॥

विदूषक—लद्ध मणोरहाण फल बध्नस्मेण अ अत्तहोदोए अ मए उण एक्केण एत्तिअमि मूइठ्ठमिट्ठकले वणे एक वि फल ख लद्ध । ( लब्ध मनोरथाना फल वयस्येन च अत्रभवत्या च मया पुनरेकेन एतावन्मात्रे मूयिष्ठमृष्ट-फले उपरने एकमपि फल न लब्ध ।

नवमालिका—( सस्मित ) अरे बल्लवपुत्र किंसि तुव फललालसचचलो मकडजाई । ( अरे ब्रह्मपुत्र किमसि त्व फललालसचचलो मकडजाति । )

राजा—भोली ! क्रोध करना व्यर्थ है ( हाथ से पकड़ लेता है )

( मुलोचना लज्जा-सहित छुड़ाना चाहती है )

विदूषक—क्या मित्र के द्वारा पकड़े हुए हाथ को छुड़ाना चाहती हैं । इनकी भुजाओं के बल को अपने जामाता अर्कंकीर्ति के हाथों से पूछो ।

राजा—अयि भोली ! क्यों हाथ भटकती हो ? लज्जा करना व्यर्थ है ।

इयं—मुरझाई हुई मृणाल के समान कीमल यह तुम्हारी शरीरपट्टि इस समय अत्यन्त खिन्न हो रही है इसलिये दे प्रिये ! लज्जा की आदत को छोड़ती हुई मेरे हाथ का सहारा ग्रहण करो ॥ ७४ ॥

विदूषक—मित्र ने तथा आपने मनोरथों का फल पा लिया किन्तु एक सौने इतने अधिक मिष्ट फलों से युक्त वन में एक भी फल प्राप्त नहीं किया ।

नवमालिका—( मुस्क्या कर ) अरे अघम ब्राह्मण ! क्या तुम फल की इच्छा से चपल बानर की जाति के हो ?



विदूषकः—( सरोपम् ) दाभीए दूए किं मं अदिक्खवसि खलकुट्टिणी एस गच्छेमि तुज्झ पासादो [ इति सत्वरं गच्छति ] ( दास्याः दूति किं माम-  
धिक्छिपसि खलकुट्टिनी एए गच्छामि तव पार्श्वतः । )

नवमालिका—( सत्वरमनुगच्छन्ती ) अज मा कुप्पा एसा तुमं पणवेमि ।  
( आर्य मा कुपः एपा त्वां प्रणमामि । )

( निष्क्रान्ता )

सुलोचना—पिअसहि भएमि अहं इह एकाइणी अत्थिहुं । ( प्रियसखि  
विभेमि अहं इह एकाकिनी आसितुम् । )

राजा—अयि कातरे किमियमेव ते सखी ।

अविरतमहं सेवे रंभोरु विद्यत एव मे

तव चरणयोः श्रान्तौ संवाहनेषु विदग्धता ।

सपदि शिरसा श्लाघ्यामाज्ञां वहामि नियोज्यतां

प्रियसखि समाप्याद्रं सख्यं प्रतीच्छ कृतोऽजलिः ॥ ७५ ॥

विदूषक—( क्रोध के साथ ) दासीपुत्री ! क्या मुझे गाली देती है ?  
नीचकुट्टिनी कहीं की, ले मैं तेरे पास से चला ( यह कहकर जल्दी से  
जाता है )

नवमालिका—( शीघ्र ही पीछे जाती हुई ) आर्य ! कुपित न होओ,  
यह मैं तुम्हें प्रणाम करती हूँ ।

( बाहर निकल गई )

सुलोचना—प्रिय सखि ! मैं यहां अकेली ठहरने के लिये डरती हूँ ।

राजा—अयि भीरु ! क्या यही तेरी सखी है ?

अविरत—हे केले के स्तम्भ के समान स्थूल जांघों वाली प्रिये ! मैं  
निरन्तर तुम्हारी सेवा करता हूँ तुम्हारे चरणों में यकावट आनेपर दावने की  
चतुराई मुझमें भी है, तुम्हारी प्रशस्त आज्ञा को शीघ्र ही शिर से धारण  
करता हूँ, आज्ञा दो । हे प्रियसखि ! मेरी भी सरस मित्रता स्वीकृत करो,  
मैं हाथ जोड़ता हूँ ॥ ७५ ॥

( सुलोचना लज्जा नाटयति )

राजा—प्रिये किमिदानीमपि लज्जितव्यम् ।

( निबुद्धमस्या उन्नमयन् )

समुच्छ्वसत्कैरवकोमलत्वयोर्ददासु मोद तव चन्द्रिकामृतम् ।

इदं हृत्कोरस्य चकोरलोचने चकोरस्यैव प्रियकापिशायनम् ॥ ७६ ॥

( सुलोचना सनज्ज मुख नमयति )

राजा—

लब्धं किल प्रियसखी तव दुर्विमोक्ष-

मिष्टं मया त्वमपि मुच मुहूर्तमेनाम् ।

रभोरु देहि परिरभसुखं सच्छन्मे

सिधुतु सायदपरे तु मनोरथा न ॥ ७७ ॥

( नेपथ्ये )

सहि शोमालिए शोमालिए समासणो खु भट्टिदारिआए रदणमालाए

( सुलोचना लज्जा प्रकट करती है )

राजा—प्रिये ! क्या इस समय भी लज्जा करना चाहिये ?

( इसकी ठाड़ी का ऊपर उठाता हुआ )

समुच्छ्वसत्—हे चकोरलोचने ! चकोरों के मुख के लिये प्रिय पेय यह चादनीरूपी अमृत, खिले हुए कुमुदों के समान कोमल काम्तिवाले तुम्हारे नेत्रों को इस समय हर्ष प्रदान करे ॥ ७६ ॥

( सुलोचना लज्जा-सहित मुख नीचा कर लेती है )

राजा—

लब्ध—मैंने प्रियसखी-रूप इष्ट को प्राप्त कर लिया, वह इष्ट जो कि तुम्हारे लिये दुर्विमोक्ष्य है । अब तुम भी मुहूर्तमर के लिये इस लज्जा को छोड़ो । हे रम्यो ! मेरे अन्य मनोरथ दूर रहें कम से कम एक बार आलिङ्गन-सम्बन्धी सुख मुझे देओ ॥ ७७ ॥

( परदा के भीतर )

सखी नवमालिके ! नममालिके ! राजपुत्री रत्नमाला का कौतुकबन्ध-  
१६ वि० की०

कोदुश्रवंधमुहुतो ता सिग्धं भट्टदारिग्रं आणेहि । ( सखि नवमालिके नवमालिके समासन्नः खलु भर्तृदारिकायाः रत्नमालायाः कौतुकवंधमुहूर्तः तस्माच्छीघ्रं भर्तृदारिकामानय । )

( प्रविश्य विदूषकेण सह नवमालिका )

नवमालिका—सहि एसा हु सरलिआ रदणमालाकोदुश्रवंधदंसणत्थं अग्गे सदावेदि । ( सखि एसा खलु सरलिका रत्नमालाकौतुकवंधदर्शनार्थं अस्मान् शब्दापयति । )

सुलोचना—वच्छाए रदणमालाए कोदुश्रवंधो वट्टदित्ति आपीदं कण्ण-रसाअणं । ( वत्साया रत्नमालायाः कौतुकवंधो वर्तते इति आपीतं कर्ण-रसायनं । )

नवमालिका—अण्णेसदि अ तुवं महादेवो पहावदो ता इदो सिग्गं एहि । ( अन्वेपयति च त्वां महादेवी प्रभावती तस्मादितः शीघ्रमेहि । )

सुलोचना—( आत्मगतं ) कहं गंतव्वं । ( कथं गंतव्यं । )

नवमालिका—भट्ट दाणिं गंतव्वं पिअसहीए अज्ज मुंचेहि कल्लं एव्वणं तुम्हाणं कोदुश्रवंधो । ( भर्तः इदानीं गंतव्यं प्रियसख्या अद्य मुंच काल्य एव ननु युवयोः कौतुकवंधः । )

पाणिग्रहण संस्कार का मुहूर्त निकट है इसके लिये राजपुत्री सुलोचना को शीघ्र लाओ ।

( विदूषक के साथ नवमालिका प्रवेश कर )

नवमालिका—सखि ! यह सरलिका रत्नमाला का कौतुकवन्ध देखने के लिये हमलोगों को बुला रही है ।

सुलोचना—वत्सा रत्नमाला का कौतुकवन्ध हो रहा है यह कानों के लिये रसायन के समान आनन्द देनेवाला समाचार सुना ।

नवमालिका—और महादेवो प्रभावती तुम्हें खोज रही हैं इसलिये इधर शीघ्र आओ ।

सुलोचना—( अपने मन में ) कैसे जाया जावे ?

नवमालिका—भर्ता ! इस समय प्रियसखी को जाना है इसलिये आज छोड़िये तुम दोनों का कौतुक-वन्ध कल होगा ।

विदूषकः—(सदृशं तुह परिमृज्य) कह कल्ल एव्व महवि सयिवाअणअ मविस्सदि । ( कथ काल्य एव यमापि स्वस्तिवाचनक भविष्यति । )

राजा—भद्रे कान्वा गति । तथासु ।

( निष्क्रान्ता मुलोचना नवमालिका च )

राजा—( सविषाद ) अहो थमहनता दैवस्य ।

न वाग्भि. आत्वाभि. श्रवणयुगमाराधितमिद

न वक्षश्चाश्लेषेर्निविडितकुचे. प्रीणितमभूत् ।

न सौहित्य वाङ्मयधरमधुपानेन गमिता

गता चासौ तूष्णीमहह सहमा हसगमना ॥ ७८ ॥

विदूषकः—भा वअस्स कल्ल एव्व तुहाअरि कोदुअवधो । ता किति दाणि अत्ताण वूमेसि । ( भो वयस्य काल्यमेव युवयोरपि कौतुकवधः तस्मात् किमिदानीं आत्मान धूमयसि । )

राजा—अहो कातरता हृदयस्य । तथाहि—

विदूषक—( हर्ष के साथ मुँह पोंछकर ) क्या मेरा भी स्वस्तिवाचन कल ही होगा ?

राजा—भद्रे ! और क्या उपाय है ? ऐसा हा

( मुलोचना और नवमालिका निकल गई )

राजा—( खेद के साथ ) अहा देव की बड़ी असहनशीलता है ।

न वाग्भि.—मनोहागी वचनों से न तो इस कर्णयुगल की आराधना की जा सकी, न स्तनों को सान्द्र करनेवाले आनिङ्गनों से वक्षःस्थल को सतृप्त किया जा सका और न अघर के मधुगान द्वारा इच्छा भी क्षुधि को प्राप्त कराई जा सकी किन्तु खेद है कि वह हसगमना चुरचाप शीघ्र चली गई ॥ ७८ ॥

विदूषक—हे मित्र ! तुम्हारा भी भो कौतुक-बन्ध कल ही है फिर इस समय अपने आप को दुःखी क्यों कर रहे हो !

राजा—अहा हृदय की बड़ी कायरता है । क्योंकि,

अथ एव नः कौतुकबंध इत्यमुं निशम्य वृत्तांतमिदं तु मे मनः ।

प्रियावियोगव्यथमानमंतरे दृढं पुनः कौतुकबंधमृच्छति ॥७१॥

( संतापमभिनीय ) कथं प्रियाविषटनलब्धप्रसरः प्रतनांत्येव यथापुरं रज-  
नीचरतिग्मांशुं निशीथिनीनाथः । अथवा किमत्र दाक्षिण्येन ।

त्वमसि शिशिररश्मिः सान्निधौ शीतलांग्या

यदि तदपः मे त्वं दर्शयेरद्य शैत्यम् ।

अति शशधर सत्यं दर्शयिष्यामि तीक्ष्णी

शिरसि तव शशस्य द्वौ विपाणी विशकम् ॥ ८० ॥

विदूषकः—( आत्मगतं ) अहो दुष्यारपसराइ कामुञ्जणस्स आआस-  
परिदेविआइ । ( अहो दुष्यारप्रसराणि कामुकजनस्य आकाशपरिदेवितानि । )

राजा—अये प्रचुरप्रतिपक्षसंलुण्णा प्रवासिनां प्रवृत्तिः ।

कुतः ।

क्षपानाथः सत्त्वं क्षपयति करैरुल्मुकखरै-

र्वसंतः संतापं प्रगुणयति संतर्ज्यं शिशिरम् ।

अथ एव—हमारा कौतुक-बन्ध कल ही है इस वृत्तान्त को सुनकर मेरा  
यह मन प्रिया के वियोग से दुखी होता हुआ बीच में ही मजबूत कौतुक-बन्ध  
को प्राप्त हो रहा है ॥ ७६ ॥

( संताप का अभिनय कर ) क्या प्रिया के विलोह से जिसे पुनः अवसर  
प्राप्त हो गया है ऐसा चन्द्रमा पहाले के समान रात्रि में चलनेवाले सूर्य को  
विस्तृत करने लगा है ? अथवा यहां सरलता से क्या लाभ है ?

त्वमसि—हे शशधर ! तुम उस शीतलाङ्गी-मुलोचना के समीप ही  
शीतांशु हो यदि उसके चले जाने पर भी तुम आज शीतलता दिग्वा सकों  
तो मैं निःसन्देह तुम्हारे शश के शिर पर तो पैसे सींग दिखला दूंगा ॥ ८० ॥

विदूषक—( अपने मन में ) अहा, कामीजनों के आकाश-परिदेवन—  
निरुद्देश्य प्रलापों की कोई सीमा नहीं ।

राजा—अये, प्रवासी मनुष्यों की प्रवृत्ति अनेक बाधकों से खण्डित है ।  
क्योंकि—

क्षपानाथः—चन्द्रमा लृगार के समान गर्म किरणों के द्वारा धैर्य को नष्ट

घनामोदाह्वयिष्यसितमथ नैव श्वसनतः

स्मरः प्रत्यास्यातो विरहिमनसां घस्मर इति ॥ ८१ ॥

विदूषकः—( विलोक्य ) वयस्स समासणो पञ्चसो । ता इदो गच्छेमो । ( वयस्य भ्रमासन्नः प्रत्यूप । तस्मादित गच्छाम । )

राजा—( विभाव्य ) कथं विमातप्राया विमावरो ।

तयाहि—

चकोरैर्न्योत्सनाभः कियदपि निपोत परिपतत्

पुटेष्वभोजानो कियदपि निरुद्ध निमिषदाम् ।

वियोगार्ते कोके कियदपि गत पक्षविधुत

विशुष्क सतप्तास्वधतनुषु शिष्ट विरहिणाम् ॥ ८२ ॥

सखे क्वेदानो नद्यावर्तः ।

( नेपथ्ये )

इत इतो देव ।

कर रहा है, वसन्त शिशिर को चोंच दिखाकर सताप को बढ़ा रहा है तथा विरही मनुष्यों के मन को नष्ट करनेवाला काम अतिशय सुगन्धित वायु से श्वास को प्राप्त करता हुआ निराकृत नहीं हो रहा है ॥ ८१ ॥

विदूषक—( देखकर ) मित्र ! प्रमात हो गया इसलिये शीघ्र चलो ।

राजा—( विचार कर ) क्या रात्रि प्रायः प्रमात रूप हो गई ?

क्योकि—

चकोरें—चारों ओर पड़ता हुआ कितना ही चादनीरूपी जल चकोरों के द्वारा पी लिया गया, कितना ही वन्द होनेवाले कमलों के पुटों में भीतर रुक गया, कितना ही वियोग से पीड़ित चक्रवर्तियों के द्वारा उनके पक्षों की फड़-फड़ाहट से कम्पित होकर नष्ट हो गया और जो कुल्लु बाकी बचा वह विरही मनुष्यों के शरीर पर पड़कर सूख गया ॥ ८२ ॥

मित्र ! इस समय नन्द्यावर्त कहाँ है ?

( परदा के भीतर )

यहा यहा से पधारिये देव ।

राजा—( परिक्रामन् विलोक्य )

अयं च किंचित्प्रविसार्य पत्तं

क्षपांतवातक्षणलब्धबोधः ।

सरोजिनीसैकततल्पशायी

हंसी समाश्लिष्यति राजहंसः ॥ ८३ ॥

( अन्यतोऽवलोक्य )

इयं च रात्रौ विरहव्यथार्ता

कथंचिदासाद्य पतिं निशांते ।

तं सव्यलीकं किल मन्यमाना

मुग्धा मुधा रुष्यति चक्रवाकी ॥ ८४ ॥

इतश्च ।

तिमिरनिकरशत्रोस्त्रस्नवः पद्मबंधो-

श्शरणमिव समेतास्सद्मपद्मोदराणि ।

( धूमते हुए देखकर )

राजा—

अयं च—प्रातःकाल की वायु से जिसे क्षण भर में भागरण प्राप्त हुआ है । ऐसा कमलिनियों से उपलब्धित तटरूपी तल्प पर शयन करनेवाला यह राजहंस कुछ-कुछ पंख फैलाकर हंसी का आलिङ्गन कर रहा है ॥ ८३ ॥

( दूसरी ओर देखकर )

इयं च—रात्रि में विरह की पीड़ा से पीड़ित यह भोली चकवी प्रातः-काल के समय किसी तरह पति को पाकर उसे अपराधी मानती हुई व्यर्थ ही क्रोध कर रही है ॥ ८४ ॥

और इस ओर,

तिमिर—अन्धकार-समूह के शत्रु सूर्य से डरकर जो भ्रमररूपी अन्धकार

भ्रमरतिमिरकंदा प्रोन्मिपद्मयोऽम्बुजेभ्यः ।

सकरुणमिव मुक्ता साप्रव नि पतति ॥ ८५ ॥

( निष्काता सर्वे )

इति श्रीहस्तिमल्लेन विरचिते मुलोचनानाटकके सकेतग्रह

नाम पञ्चमोऽङ्क समाप्तः ॥ ५ ॥

के बीज शरण की तरह कमलरूपी घरों के भीतर जा इकट्ठे हुए वे अब वे खिलते हुए कमलों से दयापूर्वक छोड़े के समान बाहर निकल रहे हैं ॥८५॥

( सब बाहर निकल गये )

इस प्रकार श्रीहस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित मुलोचना-नाटक में

सकेतग्रह नाम का पाँचवाँ अङ्क समाप्त हुआ ॥ ५ ॥





## षष्ठोऽङ्कः

( ततः प्रविशति प्रतीहारः । )

प्रतीहारः—सुविहितं भोः प्रतिभावता काशीपतिना । येन—  
तैस्तैश्च समुदाचारैः सुसत्कारपुरस्सरैः ।  
न परं मोचितो वंधात् पोरवो दुर्ग्रहादपि ॥ १ ॥  
किंच ।

अनुपमगुणगुर्वी रत्नमालां प्रदाय  
प्रथमतरममुष्मै सत्कृतिप्रीणिताय ।  
भरतपतिरनेन स्वैरमाराधितोऽभूत्  
स्वकुलमपि गरिम्णाऽयोजि संबंधसारात् ॥ २ ॥

अपिच ।

जयश्रियो वीक्षणविभ्रमांजनं द्विपां च कृष्णीकरणं यशःश्रियः ।  
मदांबु भूयः क्षरतां महीपतिः सहस्रमस्मै करिणामदान्मुदा ॥ ३ ॥

---

( तदनन्तर प्रतीहार प्रवेश करता है )

प्रतीहार—प्रतिभाशाली काशीराज ने बहुत अच्छा किया । जिसने कि  
तैस्तैश्च—उत्तम सत्कार से युक्त उन शिष्टाचारों के द्वारा श्रर्ककीर्ति को  
न केवल बन्धन से छुड़ा दिया किन्तु दुराग्रह से भी छुड़ा दिया ॥ १ ॥

और,

अनुपम—सत्कार से संतुष्ट हुए इसके लिये सबसे पहले अनुपम गुणों  
से युक्त रत्नमाला नाम की पुर्ची को देकर इसने भरतेश्वर की अच्छी तरह  
श्राधना की और श्रेष्ठ सम्बन्ध के कारण अपने कुल को भी गौरव से युक्त  
किया ॥ २ ॥

और भी,

जयश्रियो—राजा अकम्पन ने इसके लिये हर्ष-पूर्वक वे हजार हाथी

किंच ।

अत्याजितस्वरितयानजितभ्रमाणां  
दत्तानि पचशतकानि करेणुकानाम् ।  
अष्टौ शतानि कलभा ८ भलक्षणाढ्या-  
श्चत्वारि सस्वरसलोत्तगताश्च चिक्का ॥ ४ ॥

अपिच ।

श्लाघ्यावर्ता पचवाराभियुक्ता  
सत्त्वोद्विक्ता काशिराजेन दत्ता ।  
प्राशूद्धायाः षोडशास्मै सहस्रा-  
ण्याजानेया वाजिभश्चाभिजाता ॥ ५ ॥

ततश्च ।

हृदयगमामनघां स रत्नमालामवाप्य चारुगुणाम् ।  
अमनुत भरताच्चतुर्दशरत्नेशादधिकमात्मानम् ॥ ६ ॥

मी प्रदान किये हैं जो विजयलक्ष्मी के नेत्रों की शोभा बढ़ानेवाले अञ्जन हैं, शत्रुओं की यशस्वी लक्ष्मी को मलिन करनेवाले हैं तथा बहुत भारी मदजल को भ्रगते रहते हैं ॥ ६ ॥

और,

अत्याजित—अङ्गीकृत शीघ्र गमन में परिश्रम को जीतनेवाली पाच सौ इधिनिया, शुभ लक्ष्णों में युक्त आठ सौ हाथियों के सत्त्वे तथा शोभता से युक्त लीला पूर्वक गमन करनेवाले चार सौ विशिष्ट हाथी प्रदान किये हैं ॥४॥

और,

श्लाघ्या—जो प्रशंसनीय आवर्तों से युक्त हैं, पाच प्रकार की वाराहों गतिविशेषों से युक्त हैं, शक्ति से परिपूर्ण हैं, अत्यन्त ऊँचे हैं, कुलीन एवं मनोहर हैं ऐसे सोलह हजार पाँचे मी कार्शगाज ने इसके लिये दिये हैं ॥५॥

इसलिये,

हृदयगमा—हृदय को प्रिय, अमूल्य एवं सुन्दर गुणों से युक्त रत्नमाला को पाकर वह अर्ककीर्ति अपने आपको चौदह रत्नों के स्वामी भरत से भी कहीं अधिक मानता है ॥ ६ ॥

प्रवृत्तं चेदं जगते हिताय रत्नमालाप्रदानं काशीराजस्य ।

अत्र हि—

दत्त्वा किमिच्छकमनेन चिरप्रदानं

दौर्गत्यजातमखिलं जगतो निरस्तम् ।

दौर्गत्यमोदशमभूत् सुहिते तु लोके

यन्नार्थिनः कचिदपि द्रविणेन लब्धाः ॥ ७ ॥

इत्थं च निष्क्रान्तिभूतायां कार्यपदव्यामय पुनः काशीराजः सुलोचनां प्रदत्तमिति कौरवेश्वराय । आश्रितं च युवराजहेमांगदेन, आर्यं महेंद्रदत्तं अथ खलु वत्सायाः परिणयनम् । तदिदानीं प्रवर्त्यतां सिद्धायतनेषु महामहः । प्रगुणीक्रियतां च सकलमन्यत् संविधानकमिति । मया च यथाशक्ति सर्वमनुष्ठितं यावदिदानीं युवराजाय निवेदयामि ।

( ततः प्रविशति हेमांगदः )

हेमांगदः—अहो कीर्त्यनुरूपं चेष्टितमपि मेघेश्वरस्य । वाढमिहास्ति न

श्रीर काशीराज का यह रत्नमालाका दान जगत् के हित के लिये हुआ ।

सचमुच ही यहां

दत्त्वा—काशीराज ने चिरकाल तक किमिच्छक दान देकर जगत् से समस्त दारिद्र्य को दूर हटा दिया है । समस्त जगत् के संतुष्ट होनेपर दारिद्र्यता का हाल यह है कि कहीं भी धन के द्वारा याचक नहीं मिलते हैं ॥ ७ ॥

इस प्रकार कार्य का मार्ग निष्कण्टक होनेपर आज काशीराज कौरवेश्वर के लिये सुलोचना प्रदान करना चाहते हैं । युवराज हेमाङ्गद ने आशा दी है कि आर्य महेंद्रदत्त ! आज वत्सा सुलोचना का पाणिग्रहण है इसलिये मन्दिरों में महामह-विशिष्ट पूजा प्रारम्भ की जावे और बाकी सब तैयारियां ठीक की जावें । मैंने भी आज्ञानुसार सब कर लिया है इसलिये इससमय युवराज के लिये खबर देता हूं ।

( तदनन्तर हेमाङ्गद प्रवेश करता है )

हेमाङ्गद—अहा, कौरवेश्वर की चेष्टा भी कीर्ति के अनुरूप है । यह ठीक है कि लोक में उनके समान पराक्रमी दूसरा नहीं है । जिसने बहुत

सदृशो हास्तिनपतिना पराक्रमी लोके । येनापवाहितोऽसौ भरतमुतो दर्पगुह-  
भरित । मेघेश्वराय सुलोचनाप्रदानादपि श्लाघ्य चक्रवर्तिमुताय रत्नमाला-  
प्रदानम् ।

तस्या हि—

चक्रोद्धृत येन जये सुराणां चाप न पृथ्व्याः श्वशरस्स चक्री ।

भद्रागुणै श्लाघ्यतमै सुमद्रा श्वश्रूश्च विद्याधरलोकभारा ॥ ८ ॥

प्रतीहारः—( उपसृत्य ) जयतु युवराज ।

हेमाङ्गद—अपि शक्तिमनुष्ठितम् ।

प्रतीहारः—सर्वं यथानियोगमनुष्ठितम् ।

हेमाङ्गद—किञ्च किञ्च ।

प्रतीहारः—

पञ्चोपचारचतुराः परमेश्वरस्य

कुर्वन्ति सर्वजगदभ्युदयाय पूजाम् ।

स्तोत्राणि कल्मषहराण्य पठन्ति भयं

सम्यक् च स्तुतिविशेषविदोऽद्य भव्याः ॥ ९ ॥

भारी गर्व से मरे हुए शर्ककीर्ति को यों ही पराजित कर दिया । कौरवेश्वर  
के लिये सुलोचना के देने की अपेक्षा चक्रवर्ती के पुत्र भरत के लिये रत्न-  
माला का देना और भी अधिक प्रशंसनीय है ।

क्योंकि,

चक्रीकृत—जिसे देवों की विजय में धनुष को गोल नहीं करना पड़ा  
वह पृथिवी का चक्रवर्ती उसका श्वशुर है और अनिशय प्रशंसनीय गुणों से  
श्रेष्ठ पत्र विद्याधर लोक की सारभूत सुमद्रा उसको सास है ॥ ८ ॥

प्रतीहार—( पास जाकर ) जय हो युवराज की !

हेमाङ्गद—क्या करने योग्य कार्य पूर्ण किया जा चुका ?

प्रतीहार—आज्ञानुसार सब पूर्ण हो गया ।

हेमाङ्गद—क्या क्या ?

प्रतीहार—अभिषेक, स्थापन, पूजन, शान्ति और विसर्जन इन पांच

हेमांगदः—सर्वं शुभोदकं भगवदभ्यर्हणपुरःसरतया ।

प्रतीहारः—इदं चेदानीम्—

प्रलंबलंबूपविभूषितांतैर्मुद्रा वितानैरवदातशोभम् ।

हिरण्मयस्तंभविटंकनद्धप्रकीर्णकं राजति राजवेश्म ॥ १० ॥

इतश्च समततः संचरत्युत्सुकपुरजनसंकुलमंकुरयति कौतुकं राजकुलम् ।

अत्र हि—

सरसवकुलमालाकेसराक्लिष्टदृष्टैः

कुचकलशविलेपैर्ग्राणमुन्मादयति ।

मदनमदवदान्या मारुताः कामिनीनां

विगलदलकचूर्णोदीर्णरोमांचरम्याः ॥ ११ ॥

इतश्च पुनरासामावर्तमानानि स्वदंते ।

प्रकार के उपचारों में निपुण भव्यजीव सर्वजगत् के कल्याण के लिये श्री जिनेन्द्रदेव की पूजा कर रहे हैं तथा स्तुतियों के विशेषज्ञ भव्य जीव एकत्रित होकर अत्यधिक मात्रा में पापहारी स्तोत्रों का पाठ कर रहे हैं ॥ १० ॥

हेमाङ्गद—भगवान् जिनेन्द्र की पूजा के साथ होने से सब अच्छे परिणाम से युक्त होगा ।

प्रतीहार—यह इस समय,

प्रलम्ब—लम्बे-लम्बे फन्सों से सुशोभित हर्षवर्धक चंदों से जिसकी शोभा उज्ज्वल हो रही है तथा जिसमें सुवर्णमय खम्भों के अग्रभाग में चमर बाँध रहे हैं । ऐसा यह राजभवन अतिशय सुशोभित हो रहा है ॥ १० ॥

श्रीर इधर सब आर चलते हुए उत्सुक नागरिकों से व्याप्त राजमन्दिर कौतुक उत्पन्न कर रहा है ।

सचमुच ही यहां—

सरस—काम के मद को बढ़ानेवाली तथा स्त्रियों के गिरते हुए केशों के अग्रभाग-सम्बन्धी चूर्ण से प्रकट रोमाञ्चों से सुन्दर वायु मौलश्री की ताजी मालाओं की केशर से व्याप्त स्तन कलश के लेप से नासिका को उन्मत्त कर रहा है ॥ ११ ॥

श्रीर इधर इन स्त्रियों की बार-बार होनेवाली चेष्टाएं बचिकर हो रही हैं ।

विकसितहसिताशुरीतलानि  
प्रतिहसितोच्छ्वसितस्तनाचितानि ।  
कलमधुरवचासि चेष्टितानि  
प्रमदसलीलकृतोपगूहनानि ॥ १० ॥

इतश्च दीयतां चक्षुः ।

अस्तोत्तरीयसिचयोन्मिपतस्तनत्रां  
पश्य स्तनाशरुचिया परिमुग्धवत्ता ।  
मूच्छंभ्रखाशुचयसवलित्ता करेण  
हारप्रभामसकृदाक्षिपतीह मुग्धा ॥ १३ ॥

हेमांगद—( विलोक्य ) तदिदमलक्रियते व्रीडित विभ्रमेण ।

प्रतीहारः—इतोपि—

पश्य प्रयाती मणिकुट्टिमेऽस्मिन्नस्यत्यसौ केसरगाममृदो ।

पृष्णोपहारस्खलनासहानि सीतकारसिक्तानि शनैः पदानि ॥ १४ ॥

विकसित—ये प्रकट हुए हास की किरणों में शीतल हैं, बदले के हास से ऊपर की ओर उठते हुए स्तनों में मुग्धाभित हैं जिनमें अभ्यक्त मधुर शब्द हो रहा है तथा हर्ष और लीलापूर्वक जिनमें आलिङ्गन किया गया है ऐसा ये स्त्रियों का चेष्टाएँ बहुत ही अधिक शब्दी जान पड़ती हैं ॥ १२ ॥

जरा इधर दृष्टि दाजिये ।

अस्तोत्तरीय—उत्तरीय वस्त्र के लिभक जाने से जिसके स्तनों का शोभा उभड़ पड़ी है तथा जिसका वक्षस्थल कुद-कुद नीचे की ओर मुका हुआ है ऐसी यह मीली सी फैलती हुई नख की किरणों के समूह से व्याप्त हार की प्रभा को स्तन-वस्त्र समझ कर बार-बार झींच रही है ॥ १३ ॥

हेमाङ्गद—( देखकर ) यह लज्जा हावभाव से मुग्धोभित हो रही है ।

प्रतीहार—इस ओर भी देखिये,

पश्य—देखो, मणिमय फर्श पर चलती तथा केशर की माला से भी कहीं अधिक सुकुमार यह स्त्री फूलों के उपहार में होनेवाले स्खलन को सहन नहीं करते हुए सी सी शब्द से युक्त कदम धीरे-धीरे रख रही है ॥ १४ ॥

हेमांगदः—( विलोक्य ) अहो श्लाघ्यता सौकुमार्यस्य ।

प्रतीहारः—इतोपि पश्य ।

विलोक्य नीलाश्रमतले विलोचने विनम्रगात्रा प्रतिविंविते पुरः ।

विवर्तपाठीनयुगाभिर्शंकया निवर्तयत्यन्यत आकुलं पःम् ॥ ११ ॥

हेमांगदः—( विलोक्य ) कमनीयेय कातरा ।

प्रतीहारः—इतोपि दृश्यताम् ।

आमोदलोलुपमसौ भ्रमरं पतंतं

व्याधुन्वती प्रियसखीकवरीनिवेशात् ।

भग्नेष्वथैनमलकेष्वसमीक्ष्य लीन-

माकाश एव दृशमाकुलयत्यलक्ष्याम् ॥ १२ ॥

हेमांगदः—( विलोक्य ) अहो चारुता विभ्रमस्य ।

प्रतीहारः—इतोपि पश्य ।

हेमाङ्गद—( देखकर ) अहा, सुकुमारता की प्रशंसनीयता है ।

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

विलोक्य—जिसका शरीर कुछ-कुछ झुका हुआ है ऐसी यह स्त्री नील-मणि के फर्स पर आगे प्रतिश्रेणित अपने दोनों नेत्रों को देखकर 'यह चञ्चल मञ्जुलियों का जोड़ा है' इस आशंका से घबड़ा कर अपने पर को दूसरी ओर मोड़ रही है ॥ १५ ॥

हेमाङ्गद—यह भीरु स्त्री बड़ी सुन्दर है ?

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

आमोद—यह स्त्री बार-बार पड़ते हुए सुगन्ध के लोभी भ्रमर को प्रियसखी के केशपाश से दूर भगा रही है उसकी इस क्रिया से प्रियसखी का केशपाश खुलकर बिखर जाता है और भ्रमर उसी में छिप जाता है उस छिपे हुए भ्रमर को न देख यह अपनी लक्ष्यहीन दृष्टि आकाश में ही घुमा रही है ॥ १६ ॥

हेमाङ्गद—( देखकर ) अहा विभ्रम की बड़ी सुन्दरता है ।

प्रतीहार—इधर भी देखिये,

सुनिर्मलस्फाटिकभित्तिलम्ना छायां निजां वोदय सखीति बुद्ध्वा ।  
मुग्धा परिष्वज्य मुग्धा विलक्षस्मितेन सिंचत्यधरोष्ठमेका ॥ १७ ॥

हेमाङ्गद.—( विलोक्य ) सेव सीमा मौग्ध्यस्थ ।

प्रतीहारः—इदं च विलोक्यतम् ।

मख्या. कपोलफलके मुकुरावधौ  
सवोदय कापि निजमाननमायताक्षी ।

चूर्णालकान्प्रगुणयत्यपकोर्णचूर्णान्  
कर्णाधतसकुसुम च विरोपक च ॥ १८ ॥  
( नेपथ्ये, कलकलानतरम् )

वैतालिकी—विजयता हास्तिनाधिपतिः ।

प्रथमः—

क्षरद्वारापूरक्षपितसुरभीधीपरिरया  
रयापातभ्रश्यद्भरतपृतनानादरमसा ।

सुनिर्मल—यह एक मोली-भाली स्त्री अत्यन्त निर्मल स्फटिक की दीवाल पर पड़ती हुई अपनी छाया को देखकर 'यह सखी है' ऐसा समझ हर्ष से आनिङ्गन करती है परन्तु पोछे लज्जाजन्य मुस्स्यान से अपने अवरोष्ठ को सींच रही है ॥ १७ ॥

हेमाङ्गद—( देखकर ) यह तो मोलेपन की सीमा है

प्रतीहार—यह भी देखिये

मख्या —यह बड़ी-बड़ी आलों वाली कोई स्त्री दर्पण के समान निर्मल सखी के कपोलतट पर अपना मुख देख जिनसे चूर्ण गिर गया था ऐसे अलकों को, कर्णफूल को तथा तिलक को ठीक कर रही है ॥ १८ ॥

( परदा के भीतर कलकल शब्द के बाद वैतालिक प्रवेश करते हैं )

वैतालिक—हस्तिनापुर के अधिपति जयवन्त हों ।

प्रथम वैतालिक—

क्षरद्वारा—पड़ती हुई धाराओं के पूर से जिन्होंने आकाश के विस्तार को नष्ट कर दिया था तथा वेगपूर्ण आक्रमण से जिन्होंने भरत की सेना के कलकल-सम्बन्धी वेग को नष्ट कर दिया था ऐसे मेघों को जिसने बाणों के



हुता येनांभोदाः शिखिनि विशिखांतोत्थितशिखे  
शिखारत्नं पुंसां स जयति जयः कौरवपतिः ॥ १६ ॥

द्वितीयः—

हताः कौलूताद्याः खरसमरसंमर्दमृदिताः  
स्थिरारूढग्रंथिर्भरतसुतमानोऽप्यवहृतः ।  
यशो येन स्वच्छं मुहुरूपहतं सीमसु दिशां  
सुदुर्वारो धीरः कुरुकुलकुमारो विजयते ॥ २० ॥

हेमांगदः—किमेतत् ।

प्रतीहारः—युवराज सोऽयमाक्लृप्तकौतुकस्य प्रवेशः कौरवेश्वरस्य ।  
( अग्रतो निर्दिश्य ) युवराज इतः समाराधय चक्षुषी ।

लक्ष्मीविलासमणिदर्पणसंनिभेन  
राकामृगांकशचिनातपवारणेन ।

आभाति सातिशयमात्मयशःप्रतान-  
शुभ्रेण चामरयुगेन च कौरवेन्द्रः ॥ २१ ॥

अन्तर्भाग से उत्पन्न ज्वाला से युक्त अग्नि में होम दिया था वह मनुष्यों  
का शिरोमणि कौरवेश्वर जयकुमार जयवन्त है ॥ १९ ॥

द्वितीय वेंतालिक—

हताः—जिसने तीक्ष्ण युद्ध के संमर्द में मीढ़े हुए कौलूत आदि को नष्ट  
कर दिया है, जिसने बहुत मजबूती से जमे हुए अर्ककीर्ति के अहंकार को  
दूर कर दिया है तथा जिसने अपना स्वच्छ यश दिशाओं की सीमाओं पर  
बार-बार मेजा है वह अजेय धीर वीर कौरवेश्वर जयवन्त है ॥ २० ॥

( दोनों सुनते हैं )

हेमांगद—यह क्या है ?

प्रतीहार—युवराज ! यह विवाह-सम्बन्धी नेपथ्य से युक्त कौरवेश्वर का  
प्रवेश हो रहा है । ( आगे देखकर ) युवराज ! इवर नेत्रों को संतुष्ट करो ।

लक्ष्मी—यह कौरवेश्वर लक्ष्मी के विलास-सम्बन्धी मणिमयदर्पण के  
समान तथा पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र से तथा अपने यशः-  
समूह के समान शुक्ल दो चामरों से अत्यधिक सुशोभित हो रहा है ॥ २१ ॥

यश्च—

आनामिलवितरलप्रतिबिम्बशोभी  
प्रत्युप्तमौक्तिकहिरण्मयकर्णपत्र ।

अच्छिन्नचन्दनसमालम्बनावभासी  
देहप्रभाकवलितामरणप्रभो य. ॥ २२ ॥

हेमागद—( विलोक्य ) अहो औदार्यमाहार्यस्य । आर्यं गच्छामस्तात-  
पादातिक्रम्य ।

प्रतीहारः—इत इतो युवराजः ।

( परिमृग्य निष्कातो )  
शुद्धविष्कम्भः ।

( ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो राजा सः नद्यावर्तविशारदाभ्याम् )

राजा—( धीमुख्य आत्मगत ) अहो रमणीयविपमता नववधूविभ्रमस्य ।

और

आनाभि—जो नाभिपर्यन्त लटकते हुए मध्यमण्डि से युक्त हार से  
सुशोभित है, जिसका स्वर्णमय कर्णभरण मोतियों से अटित है, जो निरन्तर  
लगे हुए चन्दन के लेप से सुशोभित है तथा शरीर की कान्ति से जिसने  
आभूषणों को प्रभा को दबा दिया है ऐसा कौरवेश्वर सुशोभित हो रहा  
है ॥ २२ ॥

हेमागद—अहा आभूषणों की उत्कृष्टता है । आर्य ! अब हम पिता जी  
के चरणों के समीप चलते हैं ।

प्रतीहार—इधर-इधर युवराज ।

( धूमकर दोनों निकल गये )

शुद्धविष्कम्भ

( तदनन्तर ऊपर बनाये हुए वेप से युक्त राजा नन्दावर्त

और विशारद के साथ प्रवेश करता है )

राजा—( उत्कृष्टता के साथ अपने मन से ) अहा नई बहू की विपमता  
बहुत रमणीय है ।

१७ वि० की०

यत्र हि—

करस्पर्शाद्भिन्नेः पुलकमुकुलैः स्वेदसरसैः

पारव्यक्तिः प्रेम्णः प्रणयपरिणामाद्विकसिताः ।

न दृष्टेस्तिर्यग्भिन्नं खलु परिरंभैरमृदुभिः

न संजल्पैः स्निग्धैर्न च वदनचन्द्रैरुपहृतैः ॥ २३ ॥

इदं च तत्र मोहनमुत्सुकायमानस्य मनसः । यदुत ।

वचः किञ्चिद्वक्त्रादभिलपति निर्गन्तुमसकृत्

स्फुरन्नन्तर्लग्नस्थितितदधरोष्ठः स्फुटयति ।

यतेते रज्यन्त्यौ न खलु न दृशी द्रष्टुमपि न-

स्रपा ते रुन्वाना चलयति कुतोपि त्वसहना ॥ २४ ॥

किं च तत्र वर्यते ।

प्रत्यालिङ्गनतोपि यत्र सुखदो स्रस्तावमुक्तौ करो

वक्त्रेन्दारपहार एव सरसो यत्रोपहारादपि ।

सच्चमुच ही जिसमें,

करस्पर्शा—प्रणय के परिपाक से विकसित प्रेम की प्रकटता हाथ के स्पर्श से उद्भूत एवं पसीना से सरस रोमाञ्च के अङ्कुरों से प्रकट होती है तिरछी चितवनों, गाढ़ आलिङ्गनों, स्नेहसिक्त वार्तालापों और समर्पित मुख-चन्द्रों से नहीं होती ॥ २३ ॥

और नई वधू के विभ्रमों में उत्कण्ठित मन के लिये यह बात सबसे अधिक मोहित करनेवाली है । बल्कि,

वचः—यद्यपि कुछ वचन मुग्न से बाहर निकलने की बार-बार इच्छा करता है परन्तु वह मुग्न के भीतर ही लग कर रह जाता है, फड़कता हुआ ओठ इस बात को प्रकट करता है । अनुराग से भरे नेत्र हमें देखने के लिये यद्यपि यत्न करते हैं परन्तु असहनशील लज्जा उन्हें रोककर किसी दूसरी ओर चला देती है ॥ २४ ॥

उसका कुछ और वृणन किया जाता है ।

प्रत्यालिङ्गनतोऽपि—जिसमें ढालते छोड़े हुए हाथ प्रत्यालिङ्गन की अपेक्षा अधिक सुखदायी जान पड़ते हैं, जिसमें समर्पण की अपेक्षा मुख-

यत्र स्वादुरुदचतोपि वचसो निश्वास एवाकुलः

सोऽयं प्राणसमासभागमरस प्राथम्यरम्यक्रम ॥ २५ ॥

नन्द्याचर्तः—इत इतो देव ।

( परिणामति )

विशारदः—सखे नद्यावत् पश्य देवदर्शनबालसस्य पर्युत्पुक्तता विलासिनीलोकस्य ।

अत्र हि—

अन्योन्यस्य स्थातुकामा पुरस्ताद् दृष्ट्वा दृष्ट्वा देवमात्मन्यवृत्ता ।

सत्यै सत्यै सादर दृशयत्य स्वैर कथ्य द्वाररत्र पुरांघ ॥ २६ ॥

अपि चावाम् ।

विकम्बरस्मेरकपोलपालान्यमूनि यूना नयनामृतानि ।

विभाति विस्फारितयोक्षितानि मुखानि मुग्धायतलोचनानि ॥ २७ ॥

चन्द्र का दूर हटा लेना ही सरस भासूम होता है, और जिसमें 'बोलू वा न बोलू' इस प्रकार की आकुलता से युक्त विश्वास ही प्रकट होनेवाले वचन की अपेक्षा मनोहर है ऐसा यह प्रिया का प्रथम मिलन है ॥ २५ ॥

नन्द्याचर्त—इधर-इधर महाराज ।

( घूमते हैं )

विशारदः—मित्र नन्द्याचर्त ! महाराज के दर्शन के लिये उत्पुक्त बीजनों की उत्कण्ठा देखो ।

सचमुच ही यहाँ,

अन्योऽन्यस्य—अिधी एक दूसरे के आगे खड़ी होना चाहती हैं, महाराज को देख देखकर अपने आप में असंतुष्ट हो प्रत्येक सखी के लिये बड़े आदर के साथ दिखला रही हैं, और अन्धी तरह द्वार के द्विद्र को रोककर खड़ी हुई हैं ॥ २६ ॥

और इन स्त्रियों के,

विकम्बर—जिनमें कपोल प्रकट मुस्क्यान से बिल रहे हैं, जो युवाओं के नेत्रों के लिये अमृत-स्वरूप हैं, जिनकी चितवर्ण अत्यन्त विस्तृत हैं तथा जिनमें मुन्दर और लम्बे नेत्र हैं ऐसे मुख सुशोभित हो रहे हैं ॥ २७ ॥

नन्दावर्तः—( विनोक्त्य ) अहो अतिशयिता दर्शनौत्सुक्यस्य ।  
 न भ्रष्टं कर्णपूरं न चलनपतितं हेमताटकपत्रं  
 न स्रस्तं केशहस्तं न गलितकलन रत्नकांचीकलापम् ।  
 न द्रुद्यन्तं च हारं गणयति सुरतव्यत्ययान्मादितेव  
 स्त्रीसंसत्संपत्तंती अपदि कुरुपतिं द्रष्टुकुत्कठमाना ॥ २८ ॥  
 विशारदः—सखे इतोपि पश्य ।

मंजारं शिञ्जितरसानुगतैरियं च  
 संसज्यमानचरणा यद्वहेलितं सैः ।

देवावलोकनसमुत्सुकचित्तवृत्तिः  
 स्थातुं न पात्रयति न त्वरयामियातुम् ॥ २९ ॥

नन्दावर्तः—( विलोक्य ) कथमायासिता तुलाकोटिभ्यां हंसगामिनी ।  
 विशारदः—सखे इतः पश्यापरं प्रेक्षणीयम् ।

नन्दावर्तः—( देखकर ) अहा दर्शन की दड़ी उत्सुकता है ।

न भ्रष्ट—कुरुपति को देखने के लिये उत्कण्ठित होकर सब ओर से शीघ्रता के साथ आता हुई स्त्रियों की सन्तति संभोग के व्यत्यय ( पुरयायित क्रिया ) से उन्मादित की तरह न तो गिरे हुए कर्णामरण को गिन रहा है, न पैरों में पड़े हुए स्वर्णयय कर्णामरण को कुछ समझ रही है, न खुले हुए केशपाश को देख रही है, न चुप होकर पड़ी हुई करघनी को गिन रही है, और न दृष्टे हुए हार की आग देख रही है ॥ २८ ॥

विशारदः—मित्र ! इधर भी तो देखो ।

संजार—नूपुरों की भनकार के स्नेह से पीछे पड़े हुए वर के क्रीडा-हंस जिसके चरणों में आकर लग गये हैं तथा महागज के दर्शन के लिये जिसकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त उत्कण्ठित हो गई है ऐसी यह एक स्त्री न तो लड़ी रहने के लिये समर्थ है और न शीघ्रता से आगे जाने के लिये समर्थ है ॥ २९ ॥

नन्दावर्तः—( देखकर ) क्या यह हंसगामिनी नूपुरों के द्वाग दुर्ग की जा रही है ।

विशारदः—मित्र ! इधर यह दूसरी दर्शनीय बात देखिये ।

अनया हि—

त्यज्यते सपदि साभ्यसूयया पीवरस्तनभरावमुनया ।

कौतुकत्वरितयानुपातिता मेखला पदयुगम्य शृङ्खला ॥ ३० ॥

न द्यावर्त —( विलोक्य ) कथ विमनस्का वराका ।

विशारदः—सखे इतोपि दृश्यताम् ।

असावसन्नस्ते चिकुरनिचये व्यावृत्तकरा

विमूढैवाक्षेणु विगतमथ सन्यानवसनम् ।

विनिश्वासायस्तस्तनतटलुठन्मौक्तिकसरा

जवा भ्यायाता जनयति दृशा कामपि धृतिम् ॥ ३१ ॥

नन्यावर्त —( विलोक्य ) अहो चाकृता चेष्टितस्य ।

विशारदः—इतोप्येताः—

व्यामिश्रान् कलमाक्षतैरविकलैर्व्याविट्सिद्धार्थका-

नाशीर्व्याहृतिपेशला कलानिरः प्रोद्यन्नाशूज्वलान् ।

सचमुच ही,

त्यज्यते—जो ईर्ष्या से मुक्त है, स्थूल स्तनों के भार से जो झुकी हुई तथा कौतुक के कारण जो शीघ्रता से सहित है ऐसी यह स्त्री गिरकर साकल की तरह पैरों में लगी मेखला को शीघ्रता से छोड़ रही है ॥ ३० ॥

नन्यावर्त—( देखकर ) बेचारी उदास हो गई ।

विशारदः—मित्र ! इधर भी देखिये !

असा—कन्धों पर लटके हुए केशपाश की समाल में हाथ उलझ रहे हैं, जिसकी हुई चुनरी को समेटने की जिसे मुश्किल नहीं है तथा श्वास की अधिकता से बिज स्तनों के तट पर जिसका मोतियों का झार बार-बार ऊँचा-नीचा हो रहा है, ऐसी वेग से आई हुई स्त्री नेत्रों के लिये अद्भुत आनन्द उत्पन्न कर रही है ॥ ३१ ॥

नन्यावर्त—( देखकर ) अहा चेष्टा की बड़ी सुन्दरता है ।

विशारदः—इधर भी,

व्यामिश्रान्—आश्रित मरे वचनों के कहने में निपुण वे मगुरभाषिणी

लोलद्विर्नयनांचलैः शवलितान् पत्युः कुरूणां तनौ

लाजानां विकिरन्ति कोमलहरिद्रूर्वाचितानंजलीन् ॥ ३२ ॥

( अग्रतो निर्दिश्य ) देव पश्य पश्य ।

अवनिपतिपरीतामास्थितो भद्रपीठौ

मनुनिगदितपद्मोपासकस्थाननिष्ठः ।

समुदितपरिवारस्त्वां प्रतीक्षायमास्ते

प्रणयिजनसनाथः सादरं काशिनाथः ॥ ३३ ॥

राजा—( विलांक्ष्य )

गांभीर्यस्यांभसां राशिं प्रश्रयस्य प्रतिश्रयम् ।

महानुभावमेनं मे तातवत्पश्यतो दृशी ॥ ३४ ॥

विशारदः—अहो महानुभावता महाराजस्य ।

क्षत्राङ्कुरेण कुरूणा हरिणा मधोना-

प्येनं पुरा सह निवेशितमभ्यर्पिचत् ।

स्त्रियां घान के अखण्ड चावलां से युक्त, पीले सरसों से मिली, निकलती हुई नख की किरणों से उज्ज्वल, चञ्चल चितवनों से चित्रित तथा हरी-हरी कोमल दूर्वाओं से सुशोभित लाई की अञ्जलियां कुरुपति के शरीर पर बिखेर रही हैं—वर्पा रही हैं ॥ ३२ ॥

( आगे देखकर ) देव ! देखो देखो,

अवनि—जो राजाओं से वेष्टित उत्तम आसन पर बैठे हुए हैं, भगवान् वृषभदेव के द्वारा कथित श्रावक को छुटी प्रतिमा में स्थित हैं, जिनका परिवार अत्यन्त प्रसन्न है, तथा जो प्रेमी जनों से सहित हैं ऐसे काशीराज—महाराज अकम्पन आदर के साथ आपकी प्रतीक्षा करते हुये विराजमान हैं ॥ ३३ ॥

राजा—( देखकर )

गांभीर्य—गम्भीरता के सागर और विनय के आधार इन महानुभाव को मेरे नेत्र पिता की तरह देखते हैं ॥ ३४ ॥

विशारद—अहा, महाराज का बड़ा प्रभाव है ।

क्षत्राङ्कुरेण—युग के आदिपुरुष भगवान् वृषभदेव ने स्वयं प्रसन्न

प्रीतो युगानिपुरुषः स्वकरावुजाभ्या-

मावर्जितैः कनककुम्भमृतैः पयोमि ॥ ३१ ॥

नन्दावर्तः—एष रत्नमण्डपस्य पादफलकमार्गः । तदवधार्य दीयतामित्र  
पादो देवेन ।

( राजा उभाभ्यां दत्तहस्तो यथोचित परिक्रामति )

विशारदः—अहो नु खलु भास्वरकार्तस्वरघनलचितमखण्डितमस्य  
समीचीनचीनपट्टस्रष्ट्रज्जाघूनदस्तमसहस्रसभृतस्य समुल्लसदुल्लाचपल्लवितवचि-  
रचद्रोपलकरय मदमारुनविधूयमानवदनमालाभकृतमणितोरणकनककिंकिणी  
मुखरितमुखस्य मुखविनिहितविरुचनलिकेरकुमुमगुच्छमगितशालकुमकुमशतो-  
पशोभितस्य नातिप्रौढविरुद्धमगलधान्याकुरनिकमजरितरत्नपालिकापालिकद-  
लितस्य सुविभक्तमुक्तागुणपद्ममगमगितरगितपताकिंकापक्तिगरिष्कृतस्य सवि-  
शेषदर्शनीयता रत्नमण्डपस्य ।

होत्ररुद्रप्रिय वर्ण के अक्षुरस्वस्म कुरु, हरि और मधवा के साथ बैठायें  
हुए इनका अपने कर-कमलों के द्वारा गृहीत स्वर्य कमलों में स्थित जल के  
द्वारा अभिषेक किया था ॥ ३५ ॥

नन्दावर्तः—यह रत्नमण्डप की सीढ़ियों का मार्ग है इसलिये इधर  
आप सावधानी से पैर दीजिये—कदम बढ़ाइये ।

( नन्दावर्त और विशारद जिनके हाथ पकड़े हुए हैं )

ऐसे राजा कुरुराज यथायोग्य घूमते हैं )

विशारदः—अहा, जिसका कर्ष देहाध्यमान सुवर्ण से लबित होने के  
कारण अत्यन्त चिकना है, जो उत्तम रेशमी बच्चों से आच्छादित सुवर्णमय  
हजारों खम्भों से परिपूर्ण है, जिसका चंदोवा लहलहाती लाल भालर से  
मुशोभित है, मन्द मन्द वायु से हिलती हुई वन्दनमाला से मुशोभित मणि  
मय तोरणों में लगी छोटी छोटी घण्टियों से जिसका अग्रभाग शब्दायमान  
हो रहा है, मुख पर रखे हुए विवस्ति भारियल के फूलों के गुच्छों से युक्त  
सुवर्णमय सैकड़ों कलशों में जो मुशोभित है, धान्य के हरे-हरे भागलिक अक्षुरों  
के समूह से मुशोभित रत्नयय कपालों से जो अलंकृत है और जो यथास्थान



नन्द्यावर्तः—( निर्वह्य ) अपि चात्र ।

हैयंगवीनाहुतिगंधपूतः कालागुरूणां गुरुरेव धूपः ।

वासेन नासैकरसायनेन व्यालिपतीवाद्य निलिपमार्गम् ॥ ३६ ॥

( ततः प्रविशति उपविष्टः सपरिवारो महाराजः प्रतीहारश्च )

राजा—

सकलमखिलतत्त्वोद्बोधनं तत्त्वमाद्यं

हृत्निखिलविकल्पं निष्कलं तत्त्वमंत्यम् ।

तदधिगमसकामा योगिनश्चारु तेषां

चरितमिति चतुष्कं मंगलं नः कृपीष्ट ॥ ३७ ॥

प्रतीहारः—( अग्रतोऽवलोक्य ) महाराज पश्य पश्य । प्रत्यग्रकौतुकबंध-  
बंधुरनेपथ्यः प्रत्यासीदति परिणयनवेदिकां सोमप्रभसूनुः ।

लगाई हुई मोतियों की मालाओं तथा तरह-तरह की पत्ररचना से सुशोभित पताकाओं की पंक्ति से युक्त है ऐसे रत्नमण्डप की बड़ी सुन्दरता है ।

नन्द्यावर्त—( देखकर ) और यहां,

हैयंगवीन—ताजे धी की आहुति की गन्ध से पवित्र यह कृष्णागुरु का बहुत भारी धूमनासिका के लिये प्रमुख १५यन स्वरूप सुगन्ध के द्वारा इस समय मानों आकाश को लित ही कर रहा है ॥ ३६ ॥

( तदनन्तर परिवार-सहित बैठे हुए महाराज

अकम्पन और प्रतीहार प्रवेश करते हैं )

राजा—

सकल—समस्त तत्वों को प्रकट करनेवाले परमौदारिक शरीर-सहित आद्यतत्त्व—अर्हन्त, समस्त विकल्पों को नष्ट करनेवाले शरीर-रहित अन्तिम तत्व—सिद्ध, उनकी प्राप्ति की इच्छा करनेवाले साधु और उनका उत्तम चरित—केवलि-प्रणीत धर्म-ये चारों पदार्थ हमलोगों का मङ्गल करें ॥ ३७ ॥

प्रतीहार—( आगे देखकर ) महाराज ! देखिये देखिये । नवीन कौतुक बन्धन-कङ्कण-बन्धन से जिसका वेप बहुत सुन्दर जान पड़ता है ऐसा यह सोमप्रभ का पुत्र-जयकुमार विवाह-वेदी के निकट आ रहा है ।

य एष.—

नवमलयजचर्चाससृजत्सिद्धशेषा

विशदशदकशोभी शुभदभोरुहाक्ष ।

मदनिमृत्तगजेन्द्रोदाखेलप्रयातो

जनयति जनताया नेत्रकौतूहलानि ॥ ३८ ॥

महाराज—( विगोच्य निर्वर्ण्य च ) अहो पैतृकमनुसृति कुमारः ।

तथाहि ।

आत्मा वै पुत्रनामैत्यनुभवपदवीमश्रुतेऽसौ श्रुतिर्न.

कौरव्य भव्यमग्रे यदनुकृतिकृतावर्तन पश्यतो मे ।

तारुण्ये वर्तमानो वयसि शमनिधिर्निर्विशक वयस्य—

स्साहात्सोमप्रभोऽसाविति मतिरधुना मन्यते धन्यमेनम् ॥ ३९ ॥

जो कि यह,

नवमलयज—जो नवीन चन्दन की चर्चा में लगे हुए माहूलिक अक्षतों से शुक्ल तिलक से सुशोभित है, जिसके नेत्र कमलों के समान सुशोभित हैं तथा जिसकी चाल मदोन्मत्त मगराज की चाल के समान उत्कृष्ट क्रीडा से युक्त है ऐसा यह सोमप्रभ का पुत्र जयकुमार जनता के नेत्रों में कौतूहल उत्पन्न कर रहा है ॥ ३८ ॥

महाराज—( देखकर तथा वर्णन कर ) अहा कुमार अपने पैतृक आचार का अनुसरण कर रहा है ।

क्योंकि,

आत्मा—‘आत्मा वै पुत्रनामा’—आत्मा ही पुत्र नाम को प्राप्त होता है यह श्रुति आज हमारे अनुभव के मार्ग को प्राप्त हो गयी है क्योंकि आगे विद्यमान तथा पिता का अनुकरण करनेवाले मव्य माग्यशाली इस कुरुपुत्र—जयकुमार को देखते हुए मेरी बुद्धि ऐसा मान रही है कि नि सन्देह तद्वत् अवस्था में वर्तमान शान्ति का मण्डार यह मेरा मित्र साक्षात् सोमप्रभ ही है ॥ ३९ ॥

नःचावर्तविशारदी—एष महाराजः यावदुपसर्पामः ( उपसर्पन्ति ) ।

जयतु महाराजः ।

राजा—एष कौग्व्यो जयः पूज्यपादानभिवादयते ।

महाराजः—वत्स चिरं जीव ।

प्रतीहारः—विजयतां कौग्वेश्वरः ।

महाराजः—भो महेन्द्रदत्त किमिदमिदानीं प्रतीक्ष्यते ।

प्रतीहारः—महाराज सर्वं नृजन्म । पश्य—

पठति सूक्तानि सदर्भसंस्तरप्रणीतहव्याशननव्यवेदयः ।

अस्मां यथासूत्रहुतानलत्रयान्नयीविशुद्धाः प्रथमे द्विजन्मनाम् ॥ ४० ॥

अग्नि—

शुभग्रहाधिष्ठितकेन्द्रशोभितं तृतीयपटायगतेतरग्रहम् ।

वदन्ति जामित्रविरुद्धिमत्तनुमुद्धूर्तमहाय मुद्धूर्तकोविदाः ॥ ४१ ॥

नन्दावर्त श्रीद् विशारद्—ये महाराज अकम्पन हैं, हम इनके समीप चलते हैं ( सब उसके समीप जाते हैं ) जय हो महाराज की ।

राजा—यह कुरुगज का पुत्र जय पूज्य चरणां को प्रणाम करता है ।

महाराज—बेटा ! चिरकाल तक जीवित रहो ?

प्रतीहार—कौरवेश्वर की जय हो,

महाराज—हे महेन्द्रदत्त ! अब किसकी प्रतीक्षा की जा रही है ।

प्रतीहार—महाराज सब तैयार हैं । देखिये,

पठन्ति—जिन्होंने होम के आसनो पर बैठकर नवीन-वेदिकाओं में अग्नि को प्रज्वलित किया है, जिन्होंने शास्त्र के अनुसार गार्हपत्य, दक्षिणात्य और आहवर्नीय इन तीन अग्नियों में होम किया है तथा जो त्रयी—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य से विशुद्ध हैं ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण सूक्तियों-मन्त्रालमय वचनों का पाठ कर रहे हैं ॥ ४० ॥

और भी,

शुभग्रहा—जो शुभग्रहों से युक्त केन्द्र—लग्न-चन्द्र के मध्यगत चार स्थानों से सुशोभित हैं, जिसमें पाप ग्रह तीसरे छठे और ग्यारहवें स्थान में

अपि च ।

समुच्चरत्तुर्यनिनादसान्द्र प्रासादकुञ्जप्रतिशब्दमत्रम् ।

शब्दांतराण्यतरयत्यमोपामुद्धोषणं भगलपाठकानाम् ॥ ४२ ॥

इतोपि ।

गृहीतमांगल्यमनोह्रमढनामिहानयत्यानमिताननानुजाम् ।

प्रमोदपारिप्लवमजुजल्पितं सखीजन सप्रति भर्तृदारिकाम् ॥ ४३ ॥

( ततः प्रविशति ययानिर्दिष्टा मुलोचना नवमालिका च )

नवमालिका—इदो इदो प्रियसखी । ( इत इत प्रियसखी । )

( यथोचित परिक्रामत )

राजा—( आत्मगत ) कथं प्राप्तैव प्रिया ।

( स्थापदेश विलोक्य सौस्तुव्यमालगतः ) ।

यावन्नैष विशोपमेति परितः कठं प्रदिग्धच्छटः

स्थित हैं तथा जो जामिन्—लग्न-नक्षत्र से चतुर्थ नक्षत्र की विशुद्धि से शुभ है ऐसा मुहूर्त निकट है, यह मुहूर्त के विद्वान् करते हैं ॥ ४१ ॥

और भी,

समुच्चरत्—जो उच्चरित होते हुए वृहती के शब्दों से सान्द्र हैं तथा जिनके मन्त्रों की प्रतिध्वनि महलों में गूँज रही हैं ऐसा इन मङ्गल-पाठकों का यह जोरदार शब्द अन्य शब्दों को अन्तरित कर रहा है ॥ ४२ ॥

इस और भी,

गृहीत—आनन्द से चपल एवं मनोहर वचन बोलनेवाली सखिया इस समय मङ्गलमय मनोहर आमुषणों की धारण करनेवाली नम्रमुखी राजपुत्री की यहा ला रही हैं ॥ ४३ ॥

( तदनन्तर ऊपर कहे अनुसार मुलोचना और नवमालिका प्रवेश करती है )

नवमालिका—इधर-इधर प्रियसखी !

( ययायोग्य धूमती है )

राजा—( अपने मन में ) क्या प्रिया आ ही गई !

( किसी छल से देखकर बड़ी उत्सुकता के साथ मन में कहता है )

यावन्नैष—जबतक कण्ठ के चारों ओर लगा हुआ कपूर के समन्वय से

कर्पूरव्यतिपंगभूरिसुरभिः कस्तूरिकाकर्दमः ।  
यावन्न स्तनयोरयं मलयजक्षोदस्त्यजत्यार्द्रतां  
तावत्कौतुकि यद्यदिच्छति मनस्तत्तत्कथं ब्रूमहे ॥ ४४ ॥

इदं च पुनरपरमपत्रपायै धैर्यस्य । यत्किल—

आमुक्तकंकणमधीरदृशः प्रकोष्ठ-

मेप ग्रहीतुमिममद्य कुतूहली नः ।

आमुंचति स्थगितसत्त्ववलावलेपो

रोमांचसंचयमनुस्मरणेन हस्तः ॥ ४५ ॥

नवमालिका—प्रियसहि एस महाराजो । जाव पणमेहि । ( प्रियसखि  
एप महाराजः । यावत्प्रणमस्व । )

( सुलोचना प्रणमति )

महाराजः—( परिष्वज्य ) वत्से कल्याणभागिनी भव ( उत्थाय )

प्रत्यासीदति कल्याणि वेला दैवज्ञचोदिता ।

प्रसीदति मनश्चैतत्प्रथमं शुभसूचनम् ॥ ४६ ॥

अत्यन्त सुगन्धित यह कस्तूरी का लेप सूख नहीं पाया है श्रीर स्तनों पर लगा  
हुआ यह चन्दन का चूर्ण जबतक आर्द्रता नहीं छोड़ पाया है तबतक कौतुक  
से युक्त यह हमारा मन जो जो चाहता है उसे हम कैसे कह सकते हैं ॥४४॥

यह एक दूसरी बात धैर्य की लजा के लिये हो रही है ।

आमुक्त—चञ्चलाक्षी की कङ्कण से युक्त इस कलाई को पकड़ने के  
लिये मेरा यह हाथ इस समय अत्यन्त उत्सुक हो रहा है तथा धैर्य और बल  
के अहंकार को दूरकर उसके बार-बार होनेवाले स्मरण से रोमाञ्च को धारण  
कर रहा है ॥ ४५ ॥

नवमालिका—प्रियसखि ! यह महाराज हैं, इन्हें प्रणाम करो ।

( सुलोचना प्रणाम करती है )

महाराज—( आलिङ्गन कर ) बेटी कल्याणभागिनी हो ।

( उठकर )

प्रत्यासीदति—हे कल्याणि ! ज्योतिषियों के द्वारा बतलाया हुआ समय

तदिदानीम् । मृद्धारस्तावत् ।

प्रतीहार,—एष रत्नमृद्धारः । ( उपनमयति )

महाराज —( गृहीत्वा )

इयं मया कौरवकैरवेन्दोः सुभ्य वितीर्णा गुणरत्नपूर्णा ।

सुलोचना स्वीक्रियता च तस्या स्वयं वृत्तेन प्रथमं वरेण ॥ ४७ ॥

तदिदानीम्—

वसुधारावर्षीं ते प्रतीच्छतुं करः प्रदानजलधाराम् ।

गृह्णातु च करमस्या विगणितपृथ्वीकराक्षतः ॥ ४८ ॥

( राज्ञो हस्ते सलिलधारामावर्ष्य हस्तमस्या अर्पयति )

राजा—( गृहीत्वा । स्वगत )

चिरेण विस्मारितविप्रलम्बः संभोगमृद्धारविगृह्णतोऽयम् ।

सकल्पकोटया निविहीकृतात्मा सकल्पजन्मा हृदि भास्यतीव ॥ ४९ ॥

निकट आ रहा है और मन प्रसन्न हो रहा है यह सबसे पहली शुभ सूचना है ॥ ४६ ॥

इसलिये इस समय भारी देश्रो ।

प्रतीहार—यह है रत्नमय भारी !

( भारी देता है )

महाराज—( लेकर )

इयं—हे कौरव कुमुदचन्द्र ! मैं तुम्हारे लिये यह गुणरूपी रत्नों से परिपूर्ण सुलोचना अर्पण करता हूँ आप इसे स्वीकृत करें, आप इसके स्वयंवृत पति हैं ॥ ४७ ॥

इसलिये इस समय,

वसुधारा—धन की धारा को बर्षानेवाला तुम्हारा हाथ दान-सम्बन्धी जल की धारा को ग्रहण करे तथा पृथिवी के कर—राजस्व ग्रहण की उपेक्षा कर इसके हाथ को स्वीकृत करे ॥ ४८ ॥

( राजा के हाथ में जलधारा छोड़कर सुलोचना का हाथ अर्पित करते हैं )

राजा—( ग्रहण कर अपने मन में )

चिरेण—जिसने चिरकाल बाद विप्रलम्ब मृद्धार को मुला दिया है,

महाराजः—

मूर्तित्रयोद्भूतिविशेषभूता रत्नत्रयात्मान इमेऽनयो वः ।

छत्राणि चक्राणि च संतु सिद्धयै सिद्धाचंयापादितधनिधीनि ॥५०॥

अपि च—

यस्य स्वयंभुवो नाभेर्ब्रह्मणो विदुरुद्भवम् ।

विश्वोत्पादलयत्रीव्यसाक्षी चास्तु शिवाय वः ॥ ५१ ॥

प्रतीहारः—

आकाशं मूर्त्यभावादघकुलदहनादग्निरुर्वी क्षमातो

नैस्मग्याद्वायुरापः प्रगुणशमतया स्वात्मनिष्ठः सुयज्वा ।

सोमः सौम्यत्वयोगाद्रविरिति च विदुस्तेजसां सन्निधाना-

द्विधात्मातोतविश्वः स भवतु भवतां भूतये भूतनाथः ॥ ५२ ॥

जो संभोग शृङ्गार से स्वच्छन्द हो रहा है तथा जो करोड़ों संकल्पों से अत्यन्त सवन है ऐसा काम इस समय हृदय में मानों उन्मत्त हो रहा है ॥ ४८ ॥

महाराज—

मूर्तित्रयो—रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-स्वरूप ये तीन अग्नियां तथा सिद्ध प्रतिमा के समीप में स्थित छत्र और घर्मचक्र तुम्हारी सिद्धि के लिये हों ॥ ५० ॥

और भी,

यस्य—जिन स्वयंभू ब्रह्मा की उत्पत्ति नाभि—नाभिराज-नामक कुलकर से हुई है तथा जो समस्त पदार्थों से उत्पाद, व्यय और औव्य का साक्षात् करनेवाले हैं वे भगवान् वृषभदेव तुम्हारे कल्याण के लिये हों ॥ ५१ ॥

प्रतीहार—

आकाशं—जो मूर्ति के अभाव से आकाश हैं, पाप-समूह को जलाने से अग्नि हैं, क्षमा से पृथिवी हैं, निष्परिग्रह होने से वायु हैं, अत्यधिक शान्ति से युक्त होने के कारण जल हैं, स्वकीय आत्मा में स्थिर होने से सुयज्वा-याजक हैं, सौम्यता के संयोग से चन्द्रमा हैं, तेज के सन्निधान से

महाराजः—इदं च ते वत्स निसर्गसिद्धेष्वर्थेषु क्षत्रियोचितमाचरितुं  
पुनरुक्तमाशास्महे ।

चतुर्न्यायी वृत्तं कुलमनघमन्थाकुलमव-

त्रिहामुत्रापायादमलगुणमात्मानमव च ।

प्रजां स्वाध्यायस्य स्वमिव कुमतादूषितमति

परं सामञ्जस्यं भजं सदस्यतां रत्यरविदम् ॥ ५३ ॥

राजा—एष एह्यामि पूज्यपादस्य शिक्षाम् ।

नन्दार्थवर्त—राजर्षे इयमस्माकं विज्ञप्तिः ।

मनुः प्राजापत्यः प्रथमतरमेतद्युगमुखे

चरित्रं क्षत्राहं यदवददधीती श्रुतिशते

अमुष्मिन् निस्तद्वः कुरुपतिरसौ साधुचरितं

तथाप्येषा शिक्षा स्थिरयति परं प्रीणयति च ॥ ५४ ॥

स्य हैं, विश्वरूप हैं तथा विश्व से परे हैं वे भूतनाथ प्राणिमात्र के स्वामी  
मगवान् जिनेन्द्र आप सब की मूर्ति-देख्य के लिये हैं ॥ ५२ ॥

महाराज—और हे वत्स ! यद्यपि तुम स्वभाव सिद्ध पदार्थों में क्षत्रियो-  
चित आचरण स्वयं करते हो तथापि हम उसकी पुनः आकाक्षा करते हैं ।

चतुर्न्यायी—साम आदि चार प्रकार के न्याय से युक्त होते हुए तुम  
अपने निर्दोष कुल की अच्छी तरह रक्षा करते हुए इस लोक तथा परलोक  
में निर्मल गुणधारी अपने आत्मा की रक्षा करो, अपनी प्रजा की अपने  
समान रक्षा करो तथा मिथ्यामत से अपनी बुद्धि को अदूषित रखते हुए तुम  
सज्जन और दुर्जनो को क्रमशः प्रीति तथा अप्रीति प्रदान करनेवाले भेद  
सामञ्जस्य—सम्यग्वाद की उपासना करो ॥ ५३ ॥

राजा—यह मैं पूज्यपाद की शिक्षा को ग्रहण करता हूँ ।

नन्दार्थवर्त—राजर्षि ! यह हमारी प्रार्थना है !

मनुः—मगवान् ऋषभदेव के पुत्र सैकड़ों श्रुतियों के अध्ययन में कुशल  
भरत चक्रवर्ती ने इस युग के प्रारम्भ में सर्वप्रथम जिस क्षत्रियोचित आचार  
का निरूपण किया है उसमें यह कुरुपति यद्यपि सावधान हैं तथापि आपको



विशारदः—राजर्षे साधु विज्ञप्तममुना । किंच ।

पुष्पांति कामितविशेषमनीपितार्थ-

सापादयन्ति दुरितापापं जनस्य ।

युष्मादृशां प्रशमपूतसमाधिभाजा-

माज्ञाक्षराणि शिरसा पठतानि तानि ॥ ५५ ॥

महाराजः—महाभाग किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।

राजा—

संबंधमीदृशमुपास्य नवीकृतोऽसा-

वस्मात्स्वनल्पशुभपंक्तिरनुग्रहो वः ।

प्राप्तो मनोरथपदाभ्यधिकः प्रमोदा

भूयः प्रियं मम किमस्ति गवेषणीयम् ॥ ५६ ॥

तथाप्येतद्भवतु ।

यह शिक्षा ज्येष्ठ आचार को स्थिर करती है तथा अत्यन्त संतुष्ट करती है ॥ ५४ ॥

विशारद—राजर्षि ! इसने ठीक कहा है । इसके सिवाय यह बात भी है ।

पुष्पान्ति—शान्ति से पवित्र समाधि को प्राप्त होनेवाले आप जैसे महानुभावों के [शिर से पढ़े गये वे आज्ञा-सम्बन्धी अक्षर मनुष्यों के इच्छित विशेष एवं अभिलषित पदार्थ को पुष्ट करते हैं तथा पाप को दूर करते हैं ॥ ५५ ॥

महाराज—महाभाग ! मैं तुम्हारे लिये अधिक क्या प्रिय उपहार दूँ ?

राजा—

सम्बन्ध—इस प्रकार का सम्बन्ध कर हमलोगों पर अत्यधिक कल्याण समूह से युक्त आपका वह अनुग्रह फिर से नवीन कर दिया है । हमलोगों को इच्छा से भी अधिक हर्ष प्राप्त हुआ है अब भरे लिये अतिशय प्रिय कौन सी वस्तु खोजने योग्य रह गई है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ५६ ॥

फिर भी यह हो,

भूयाद्भूतेषु धर्मप्रकृतिरसुमतां निष्प्रकपानुकपा  
 धर्म्यं पात्र विसृष्ट्यै व्ययनियतिवशादर्जयत्वर्थमार्याः ।  
 मतानस्यापनार्यै विदधतु गृह्णन् कामखेदापनोद  
 चेष्टतां चात्मनीना निरुपधिगुचये मोक्षमौरयोदयाय ॥ ५७ ॥  
 महाराज — एवमस्तु ।

वयं च—सवित्रकाशकौटस्थसयी मायातिलघिनीम् ।  
 अपवर्गस्थ पदवीं त्रयामाराधयामहे ॥ ५८ ॥  
 ( निष्क्रान्ता सर्वे )

इति श्रीगोविन्दमहस्वामिनः सूनुना श्रीकुमारसत्यवाक्यदेवरवल्लभोदयभूषणा-  
 नामार्यमिश्राणामनुजेन कवेर्वर्द्धमानस्याप्रजेन कविना हरितमल्लेन  
 विरचित कौतुकवधो नाम पद्योऽङ्कः समाप्तः ॥ ६ ॥

—०१३०—

भूयाद्भूतेषु—प्राणियों में धर्म का मूल प्रकृति स्वरूप अविवल जीव  
 दया ही, आर्य पुण्य सत्तात्र में दान करने के योग्य पद्धति से धर्म पूर्ण  
 धन का उपार्जन करें, गृहस्थ लाग सन्तान उत्पन्न करने के लिये काम  
 सम्बन्धी खेद को दूर करें और आत्महित के इच्छुक मनुष्य बाह्य उपाधि से  
 रहित होने के कारण पवित्र मोक्ष मुक्त की प्राप्ति के लिये चेष्टा करें—प्रयत्न  
 करें ॥ ५७ ॥

महाराज—ऐसा हो

और हम भी

संवित्—जिसमें सम्यग्ज्ञान के प्रकाश की स्थिरता है, जो माया से  
 परे है तथा जो मोक्ष का मार्ग है उस त्रयी—रत्नत्रय की आराधना  
 करते हैं ॥ ५८ ॥

( सब बाहर निकल गये )

इस प्रकार श्री गोविन्दमहस्वामी के पुत्र श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ,  
 और उदयभूषण विद्वानों के अनुज तथा वर्द्धमान कवि के अप्रज  
 हस्तिमल्ल कवि के द्वारा विरचित यह कौतुकवध  
 नाम का छठा अङ्क समाप्त हुआ ।

—०१३०—

## ग्रंथकारस्य प्रशस्तिः

श्रीमूलसंघव्योमेंदुर्भारते भावितीर्थकृत् ।

देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदार्धिकः ॥ १ ॥

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यातगधहस्तिप्रवर्तकः ।

स्वामी समन्तभद्राऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥ २ ॥

अवदुततमटति भटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेजिह्वा ।

वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्वेषाम् ॥ ३ ॥

शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।

कृत्स्नश्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्ती भवतः कृतार्थौ ॥ ४ ॥

तदन्वयेऽभूद्विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।

श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदाषः ॥ ५ ॥

यस्य वाचां प्रसादेन ह्यमेयं भुवनत्रयम् ।

तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ॥ ६ ॥

श्री मूल—भारत देश में उत्पन्न, श्रीमूलसंघरूपी आकाश के चन्द्रमा, आगामी तीर्थकर तथा चारणशृङ्गा के धारक श्री समन्तभद्र मुनि जयवन्त हों ॥ १ ॥

तत्त्वार्थ—वे समन्तभद्र स्वामी तत्त्वार्थसूत्र के ऊपर गन्धहस्ति नामक टीका के रचयिता तथा देवागम स्तोत्र का निर्माण करने वाले थे ॥ २ ॥

अवदु—वादी समन्तभद्र के रहते हुए स्पष्ट एवं चतुरवक्ता धूर्जटि की भी जिह्वा शीघ्र ही मुख रूपी गर्त में चली जाती थी फिर अन्य लोगों की तो चर्चा ही क्या थी ? ॥ ३ ॥

शिष्यौ—उनके शिवकोटि और शिवायन नाम के दो शिष्य थे । ये दोनों ही शिष्य शास्त्रज्ञ मनुष्यों में श्रेष्ठ थे और श्रीगुरु के चरणमूल में समस्त श्रुत का अध्ययन कर कृतकृत्य हुए थे ॥ ४ ॥

तदन्वये—उन्हीं के वंश में एक वीरसेन नामक आचार्य हुए जो विद्वानों में श्रेष्ठ थे, स्याद्वाद के श्रद्धालु थे, समस्त आगमों के ज्ञाता थे, श्रेष्ठ तार्किक थे और रागादिसमस्त दोषों को नष्ट करने वाले थे ॥ ५ ॥

यस्य—जिनके वचनों के प्रसाद से तीनों लोक अपरिमित हुए थे । उन्हीं वीरसेन स्वामी के शिष्यों में प्रधान एक जिनसेन नाम के आचार्य हुए हैं ।

यद्वाङ्मयं पुरोरासीत्पुराणं प्रथमं मुनिः ।  
 तदीयप्रियशिष्योऽभद्रगुणभद्रमुनीश्वरः ॥ ७ ॥  
 शलाका\* पुरुषा यस्य सूक्तिभिर्मुपिताः सदा ।  
 गुणभद्रगुरोस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ॥ ८ ॥  
 यस्य वाक्सुधया भभावमिषिका जिनेश्वरा ।  
 तच्छिष्यानुक्रमेयातेऽसत्येये विश्रुतो मुनिः ॥ ९ ॥  
 गोविन्दमहद् इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः ।  
 देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सदृशान्वितः ॥ १० ॥  
 अनेकात्मतत्त्व बहु मेने विदावर\* ।  
 नदनास्तस्य सजाता बद्धिताखिलकोविदाः ॥ ११ ॥  
 दाक्षिणात्या जयत्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः ।  
 श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः ॥ १२ ॥  
 उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लामिधानकः ।

यद्वाङ्मय—भगवान् आदिनाथ का पुराण पृथिवी पर इन्हीं जिन-  
 सेन के बचने स्वरूप प्रकट हुआ था । इन्हीं जिनसेन के प्रिय शिष्य  
 गुणभद्र मुनिराज थे ॥ ७ ॥

शलाका—जिनकी सूक्तियों से सदा शलाका पुरुष विमुपित हुए हैं  
 अर्थात् जिन्होंने उत्तर पुराण के द्वारा शलाका पुरुषों का वर्णन किया है  
 उन गुणभद्र गुरु की महिमा किस के द्वारा कही जा सकती है ? ॥ ८ ॥

यस्य—गोविन्द—जिन गुणभद्र स्वामी के बचन रूपी अमृत से पृथिवी  
 पर तीर्थंकरों का अभिषेक हुआ है अर्थात् जिन्होंने अपने वाणी से तीर्थ-  
 करों का वर्णन किया है उन्हीं गुणभद्र स्वामी की असह्यात शिष्यपरम्परा  
 के व्यनोत होने पर पृथिवी में अतिशय विभूत गोविन्दमहद् नामक विद्वान्  
 उत्पन्न हुए । ये गोविन्दमहद् अतिशय विद्वान् थे, मिथ्यात्व से रहित थे तथा  
 देवागमनमोदान-आदि आगम के मुनने से सम्यग्दृष्टि हुए थे ॥ ९-१० ॥

अनेकान्त—वे श्रेष्ठ विद्वान् अनेकान्तसमत तत्त्व को उत्कृष्ट मानते थे ।  
 उनके समस्त विद्वानों को बढाने वाले छह पुत्र हुए ॥ ११ ॥

दाक्षिणात्या—श्रीकुमार—वे सत्र पुत्र दाक्षिणात्य थे और स्वर्णयक्षी  
 देवी के प्रसाद से हुए थे । उनके नाम थे श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ,

वर्धमानकविश्चेति पडभूवन् कवीश्वराः ॥ १३ ॥

श्रीमद्वीपंगुडीशः कुशलवरचितास्थानपूज्यो वृपेशः

स्याद्वादन्यायचक्रेश्वरगजवशकृद्धस्तिमल्लाह्वयेन ।

गद्यैः पद्यैः प्रबंधैर्नवरसभरितैरादृतोऽयं जिनेशः

पायान्नः पादपीठस्थलविकटलसत्पांड्यमौलिप्रभीधः ॥ १४ ॥

उद्यद्भूषण, हस्तिमल्ल और वर्धमान कवि । ये सभी श्रेष्ठ कवि थे ॥ १२-१३ ॥

श्रीमद्वीपंगुडीशः—जो श्रीद्वीपंगुडी के स्वामी हैं, कुशल और लव के द्वारा रचित स्थान में—मन्दिर में जिनकी पूजा होती है अथवा जो श्रेष्ठ मङ्गल से युक्त देश में पूज्य हैं, धर्म के स्वामी हैं, स्याद्वाद रूपी न्याय के चक्रवर्ती एवं गजेन्द्र को वश करने वाले हस्तिमल्ल कवि ने नव रसों से युक्त गद्य पद्य रूप रचनाओं के द्वारा जिनका आदर किया है, तथा जिनकी चरण चौकी के समीप पाण्ड्य नरेश के मुकुट की कान्ति का समूह अत्यधिक सुशोभित रहता है वे जिनेन्द्र देव हमारी रक्षा करें ॥ १४ ॥

गल्लीलालतनूजेन जानक्युदरसंभुवा ।

पन्नालालेन बालेन टीकैपा रचिता भुवि ॥ १ ॥

विक्रान्तकौरवं रम्यं विद्वज्जनमनोहरम् ।

नाटकं भुवि विख्यातं हस्तिमल्लमहाकवेः ॥ २ ॥

ज्येष्ठशुक्लद्वितीयायां भीमसङ्गकवासरे ॥

वीरनिर्वाणतो याते संवत्सरकदम्बके ॥ ३ ॥

एकनवचतुर्युगम-प्रमिते रचिता मया ।

हिन्दीभाषामयी टीका छात्रकल्याणकारिणी ॥ ४ ॥

पदवाक्यविशेषज्ञो हस्तिमल्लो महाकविः ।

रसभावमहाप्राज्ञः क्षमतां स्खलितं मम ॥ ५ ॥

नाहं कविर्न काव्यज्ञः कविपादाब्जपट्पदः ।

स्वचेतस्तृप्तये जातु गुञ्जितं विदधाम्यहम् ॥ ६ ॥

समाप्तमिदं नाटकम् ।